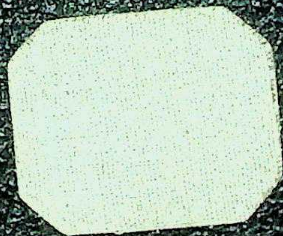
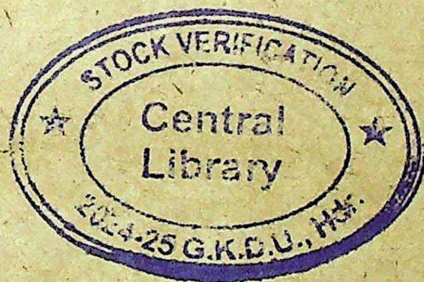
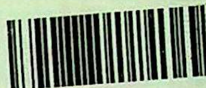

GYANODAYA NOV 1963 GKU




STOCK VERIFICATION
Central
Library
2024-25 G.K.D.U., Hdr.

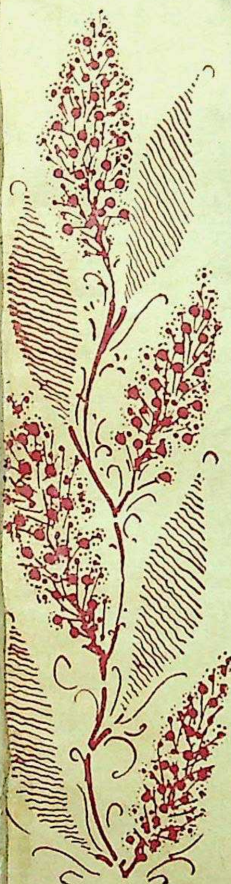
ज्ञानोदय

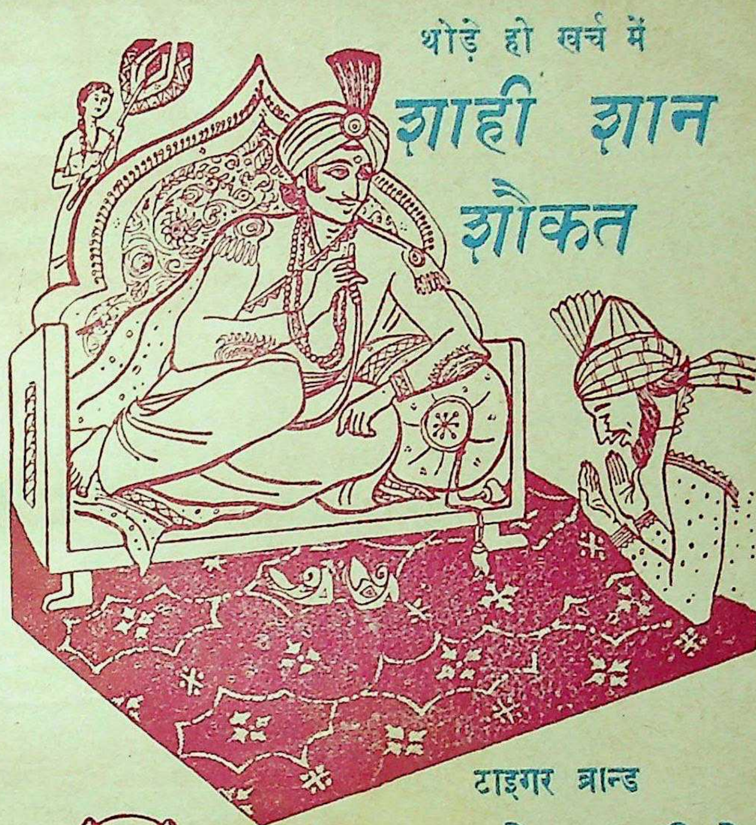
पत्र-अङ्क






ROHTAS







पाट के गलीचे

से अपना घर सजाइये

अनेकों आकर्षक डिजाइन में प्राप्त

प्रस्तुत कारक--**श्री हनुमान जूट मिल्स**

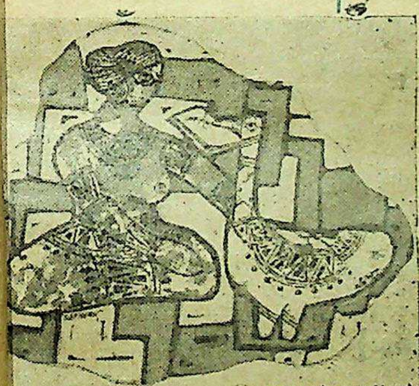
८, डलहौसी स्क्वायर कलकत्ता-१



पत्र - अङ्क : अनुक्रम

व्यक्तिगत और अप्रकाशित पत्र

अनूदित पत्र



सम्पादक
लक्ष्मीचन्द्र जैन : शरद देवड़ा

संचालक
भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता

कार्यालय
१८ए, ब्रेबोर्न रोड, कलकत्ता–१
फ़ोन २२-६०३९

एकमात्र वितरक :
बैनेट, कोलमैन एण्ड कम्पनी लिमिटेड, बम्बई-१

ज्ञानोदय-कार्यालय
२५ अक्तूबर, '६३

प्रिय पाठक,

ज्ञानोदय ने अब तक आपको बहुत ही महत्त्वपूर्ण और अछूते विषयों पर विशेषांक दिये हैं, और आपने उन्हें स्नेह से अपनाया और उन्मुक्त भाव से सराहा है। इसके लिए हम आपके कृतज्ञ हैं।

इस बार के विशेषांक का विषय देखकर आपके मन में होने वाली पहली प्रतिक्रिया शायद अधिक उत्साहवर्द्धक नहीं होगी। शायद आप सोचेंगे कि पत्र-लेखन तो एक बहुत ही सामान्य और आम बात है....जीवन में सभी तो पत्र लिखते हैं, जो शिक्षित हैं वे भी और जो अशिक्षित हैं वे भी; यहाँ तक कि जो खुद नहीं लिख पाते—जैसे कि हमारे गाँवों की नितान्त अनपढ़ ग्राम-वधुएँ या बड़ी-बूढ़ियाँ—वे दूसरों को बोल कर लिखा देते हैं....लिहाजा पत्र-लेखन में असामान्य या विशेष तो कुछ भी नहीं—फिर पत्रों का यह कैसा विशेषांक !

एक पत्र : अपने पाठकों के नाम

रोज़मर्रा के जीवन में लिखे जाने वाले निहायत सामान्य क़िस्म के लाखों-करोड़ों पत्रों के बारे में आपकी यह राय ग़लत है–ऐसा तो हम नहीं कहेंगे; लेकिन एक साहित्यिक विधा के रूप में पत्र की इस अभिनव विधा में कितनी अधिक संभावनाएँ हैं––हमारा विशेषांक पढ़कर इस बात का आपको यक़ीन हो जायेगा –– ऐसी आशा हम ज़रूर करते हैं । रोज़मर्रा के जीवन का यह नितान्त सामान्य और आम रूप भी संवेदनशील और भावप्रवण हृदय वाले तथा बौद्धिक चेतना सम्पन्न शब्द-लिपियों की लेखनी के जादुई स्पर्श से कितना विशेष और असामान्य हो उठता है––इसका प्रमाण शायद आपको यह विशेषांक दे सकेगा ।

लेकिन कोई भी विधा, चाहे वह जितनी महत्त्वपूर्ण और अभिनव क्यों न हो, अपने आप में अन्तिम लक्ष्य तो हो नहीं सकती. . . . वह अन्ततः रहेगी एक माध्यम ही । विशेषांक के लिए विषय का चुनाव और उसकी विस्तृत योजना बनाते समय हमारे सामने भी यह बात स्पष्ट थी; लिहाजा हमारा यह प्रयत्न रहा है कि इस अभिनव और आत्यन्तिक संभावनापूर्ण 'विधा के माध्यम' से जीवन के अधिकाधिक पहलुओं को स्पर्श किया जा सके ।

इस विशेषांक में हमारा यह भी प्रयत्न रहा है कि यथासंभव हिन्दी की तथाकथित सभी जीवित पीढ़ियों के प्रतिनिधियों को एक मंच पर प्रस्तुत किया जा सके–– यशपाल और इलाचन्द्र जोशी (जिनको लिखते आज चार दशकों से भी अधिक समय हो गया है) से लेकर रानी गुप्ता और शोभा अग्रवाल (जिन्होंने इसी वर्ष लिखना शुरू किया है) तक ।

पीढ़ियों की इस बात से ध्यान आया कि इधर हिन्दी की अधिकांश पत्रिकाओं में नयी और पुरानी पीढ़ी को लेकर जो विवाद चल रहा है वह केवल हिन्दी में ही नहीं है, अन्य भारतीय भाषाओं में स्थिति शायद बदतर ही है––इसका प्रमाण इस विशेषांक में प्रस्तुत बँगला और उर्दू की नयी पीढ़ी के दो प्रतिनिधि लेखकों–– सन्दीपन चट्टोपाध्याय और राही मासूम रज़ा––के पत्र हैं । यह विस्फोटक स्थिति सोचने के लिए वाध्य करती है कि क्या एक ऐसा सामान्य मंच नहीं हो सकता जहाँ ये पीढ़ियाँ अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और राग-द्वेषों से ऊपर उठकर मिल सकें और एक-दूसरे को अधिक अच्छी तरह समझने का प्रयत्न कर सकें और इस प्रकार आक्रमण-प्रत्याक्रमण में नष्ट होने वाली शक्ति और समय रचनात्मक कार्यों में लगायी जा सकें ।

हमारा यह भी प्रयत्न रहा है कि हिन्दी के साथ-साथ प्रादेशिक और विदेशी भाषाओं की भी पत्र-रचनाएँ दी जा सकें, क्योंकि हमारा यह विश्वास है कि किसी भी साहित्य के मूल्यांकन और स्वस्थ विकास के लिए यह पारस्परिक आदान-प्रदान केवल सहायक ही नहीं होता, कुछ हद तक आवश्यक भी है।

इस विशेषांक की तैयारी के दौरान एक बात और सामने आयी कि 'व्यक्तिगत' पत्रों के प्रकाशन के मामले में हमारी हिन्दी के लेखक कुछ ज़्यादा ही संकोची हैं (हमारा आशय 'सचमुच के व्यक्तिगत' पत्रों से है, साहित्यिक या सामाजिक या इसी तरह के अन्य 'अव्यक्तिगत' क़िस्म के पत्रों से नहीं!) जबकि विदेशों में तो इसकी समृद्ध परम्परा है ही, उर्दू, बँगला आदि भारतीय भाषाओं में भी व्यक्तिगत पत्रों के संकलन प्रकाशित होने लगे हैं। इस तरह के आत्मीय पत्रों में लेखक का व्यक्ति अपने वास्तविक और अनावृत रूप में (बिना किसी मुखौटे के) पाठक के सामने जिस तरह स्पष्ट हो उठता है वह केवल उसके व्यक्तित्व की जानकारी के लिए ही उपादेय नहीं होता बल्कि उसके कृतित्व के अध्ययन में भी सहायक होता है।

विशेषांक के लिए हमें लेखक-बन्धुओं से जो हार्दिक सहयोग मिला है, उसके लिए अगर हम उनका आभार प्रकट करें, तो इसे महज़ औपचारिकता निभाना नहीं समझा जाए, क्योंकि पूर्व-नियोजित विषयों पर लिखना या लिखवाना सहज कार्य नहीं होता.... यह लेखक-बन्धुओं का ज्ञानोदय के प्रति अपार स्नेह ही है कि उनसे हमें न केवल अपनी योजना के अनुरूप सभी रचनाएँ मिल गयीं वरन् उससे भी अधिक मिलीं.... लेकिन इसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि हमें कुछ रचनाएँ मजबूरन रोक लेनी पड़ी हैं—कई ऐसी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ भी जिनका विशेषांक में नहीं रहना स्वयं हमें ही बहुत खल रहा है। इन्हें आप परिशिष्टांक में देखेंगे।

बन्धु, यह तो आपका भी अनुभूत सत्य होगा कि पत्रों में एक अनूठा आकर्षण, बल्कि एक अजब-सा रहस्य होता है.... यह आपका रोज़मर्रा का ही अनुभव होगा कि दफ़्तर से लौटकर आप अपने घर की सीढ़ियों पर क़दम रखने के पहले अपने 'लेटर बक्स' पर एक उत्सुक नज़र डालना नहीं भूलते.... उसे ख़ाली पाकर भी आपके मन में यह आशा करवटें लेती रहती है कि शायद.... और इसी आशा के वशीभूत आप कमरे में पहुँचते ही एक खोजती-सी दृष्टि मेज़ पर डालते हैं.... और अगर आपको वहाँ एक बन्द लिफ़ाफ़ा रखा दिख जाता है, तो तत्काल आपके दिल की धड़कनें कुछ तेज़ हो जाती हैं....

तो प्रिय पाठक, जबकि मात्र एक पत्र के लिए आपका मन इस क़दर ललकता है, तो कल्पना कीजिए डाक के एक ऐसे थैले की जिसके सारे पत्र आपही के लिए लिखे गये हों, और उनके लिखने वाले हों—हिन्दी, भारतीय और विदेशी भाषाओं के चुने-चुने लेखक, शब्दों के कलाकार, संवेदनशील और भावप्रवण हृदय तथा बौद्धिक, प्रबुद्ध और चिन्तनशील मस्तिष्क वाले सरस्वती के वरद-पुत्र !

तो, पत्रों का यह अपूर्व भण्डार, यह अनेकरंगी, अनेकगंधी गुलदस्ता दीपावली के इस उल्लासपूर्ण मंगलमय अवसर पर हमारी ओर से आपको सप्रेम भेंट है।

विनम्र, आपका

शरद देवड़ा

जलियाँवाले बाग के नृशंस हत्याकाण्ड से क्षुब्ध होकर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी 'नाइटहुड' की उपाधि का त्याग करते हुए तत्कालीन वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड को जो ऐतिहासिक पत्र लिखा था उसका संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर :

माननीय,

पंजाब में आन्दोलनों को दबाने के लिए ब्रिटिश शासन ने जिस तरह की दमन-नीति अपनायी है उसने भारत में ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत हम लोगों की असहाय स्थिति को हमारे सामने स्पष्ट कर दिया है। निहत्थे और साधनहीन भारतीयों पर जिस क्रूरता से दमन-चक्र चलाया गया उसका सभ्य देशों के इतिहास में उदाहरण नहीं है। अधिकांश एंग्लो-इंडियन अखबारों ने हमारी यंत्रणाओं और पीड़ाओं का मज़ाक उड़ाते हुए सरकार के इस अमानवीय कृत्य की प्रशस्तियां गायी हैं, और शासन-तंत्र ने इसके लिए उनकी पीठ थपथपाई है। चूंकि हमारे अनुरोध-पत्रों का कोई परिणाम नहीं हुआ है, इसलिए अपने देश के लिए मैं जो कुछ न्यूनतम कर सकता हूँ वह यही है कि इस अत्याचार और दमन से किंकर्तव्यविमूढ़ अपने लाखों देशवासियों की ओर से विरोध में आवाज़ उठाऊँ और उसके परिणामों को झेलूं। अब समय आ गया है कि इस शासन-तंत्र की ओर से हमें प्रदान की गयीं मान-सम्मान की उपाधियों और खिताबों को हम वापस कर दें। अस्तु, मैं यथोचित आदर और खेद सहित, योर एक्सिलेंसी से अनुरोध करता हूँ कि मुझे 'नाइटहुड' की उपाधि से मुक्त किया जाये जो आपके पूर्ववर्ती के हाथों मुझे हिज मॅजेस्टी की ओर से प्रदान की गयी थी।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

यादें : यूरोप-यात्रा की लेखमाला के अन्तर्गत यह किश्त—पत्र की विधा में।

डॉ० धर्मवीर भारती

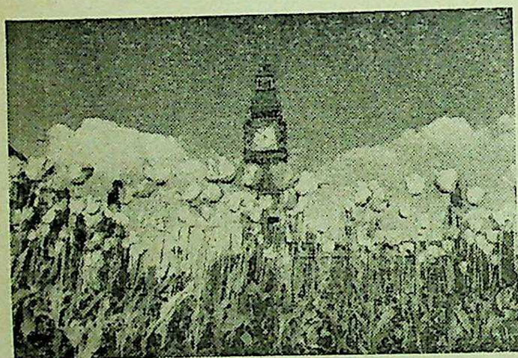
कोहरे का नगर : ट्यूलिप के ज्वार

[एक पत्र : लन्दन के पहले दो-तीन दिन]

........,

......और लो, अब मैं तुम्हारे पास हूँ। अजनबी शहर का पहला कुतूहल, स्वागत-सत्कार, सैर-सपाटा, भीड़-भाड़, दौड़-धूप-भरे ये दो-तीन दिन नदी के पहले सैलाब की तरह उफनकर उतर गये और अब एक ख़ाली, सूनी, ठंडी, कोहरे-भरी शाम है, गैस-हीटर से गरम कमरे में आरामकुर्सी पर लेटा, पलँग के तकिये पैर के नीचे लगाये, आँखें झपे, थका-अलसाया मैं—हज़ारों मील वापस घर लौटकर तुम्हारे पास हूँ—अपनी स्टडी में। जानती हो, परदेश की पहली अनुभूति क्या है ? घर कितना अच्छा लगता है !

यहाँ अभी शाम है। मैंने सपर अभी-अभी लिया। वहाँ शायद आधी रात हो चुकी होगी। सो रही हो ? उठो, देखो तुम्हारे लिए दो ही तीन दिन में कितनी-कितनी चीज़ें बटोरी हैं ! ज़रा हल्के से इन परतों को खोलो और देखो अन्दर क्या-क्या है। यह लो, एक मुट्ठी कोहरा लन्दन की मशहूर चीज़। सुबह-शाम सारे कार्यक्रम स्थगित कर अक्सर ओवरकोट लपेटकर इस कोहरे में निरुद्देश्य भटकता रहा हूँ ! मेरा माथा, मेरी पलकें, मेरे होंठ, मेरे उड़ते-बिखरते बाल—इस कोहरे का अजनबी सर्द स्पर्श इन सब पर अभी भी ताज़ा है। इस कोहरे में मेरे माथे, होंठ, पलकों का स्पर्श बारीकी से गुँथा हुआ है। लो इसे सहेजो। और यह लो—ज़रा धीरे से दोनों हथेलियों में बाँधो, नहीं तो अभी-अभी सारा कमरा अस्त-व्यस्त हो जायगा। जानती हो क्या है ? बेहद ख़ूबसूरत



पार्लियामेण्ट के सामने ट्यूलिप। पीछे बिगबेन। यही वह चित्र है जो उस दिन अखबार के मुखपृष्ठ पर छपा था !

कस्बे मार्लो के पास, टेम्स के किनारे की सराय के बाहर वाले आँगन में चलती हुई तेज़ बर्फ़ीली हवा का झोंका जो नक़ली झरने को छेड़ता हुआ आया था, फूल-लदी डालियों को झकझोरकर ढेर-के-ढेर चेरी के फूल हमारी खिड़की के बन्द शीशों पर फेंक गया था झर-झर । इस ढीठ झकोरे को आँचल में गाँठ बाँधकर रखो। और यह लो, यह छोटा नीला फूल किसी जंगली लतर का । मगर जानती हो, यह लतर कहाँ थी ! उस उदास शोकगीत के लेखक ग्रे के स्मारक के पास एक आड़ पर खिली थी, और बेहद ठंड थी और झींसी पड़ रही थी । घुटनों-घुटनों ऊँची घास थी, मगर यह फूल तोड़ना था ताकि इस गिरजेघर और ग्रे की क़ब्र के पास का अनुभव तुमसे यह नीला फूल बतला सके--और अन्त में यह लो मेरे आश्चर्य में अधखुले होंठ, जड़ी हुई निगाह और नाचता हुआ उल्लास जो मैंने महसूस किया अपनी ज़िन्दगी में पहली बार ट्यूलिप देखकर, ढेर-के-ढेर, अविश्वसनीय दर्जनों रंगों में खेतों के बराबर क्यारियों में खड़े--- अद्भुत रंगारंग ट्यूलिप ! हाइडपार्क में, कैन्सिग्टन पैलेस के बगीचे में, पार्लियामेंट के पास---ट्यूलिप ! ट्यूलिप ! ट्यूलिप !....

सच तो यह है कि अगर यहाँ आते ही आते ट्यूलिप न मिले होते तो पहली शाम से ही यह लन्दन मुझे कोहरे का क़ैदखाना मालूम देने लगता । आये तो कोहरा था, उतरे तो कोहरा था। होटल पहुँचे, कामनवेल्थ रिलेशन्स आफ़िस। मेज़बानों के प्रतिनिधि स्वागत-सत्कार कर, अगले दिनों का कार्यक्रम बताकर चले गये। नीचे उतरे, लाउंज में बैठकर कॉफ़ी पी तो देखा शाम होने को आ गयी थी । बायीं ओर दूर पर प्रिन्सेस मार्गरेट का केन्सिंग्टन महल था और मीलों लम्बा बाग़ । शाम बिल्कुल ख़ाली थी---क्या किया जाय ?

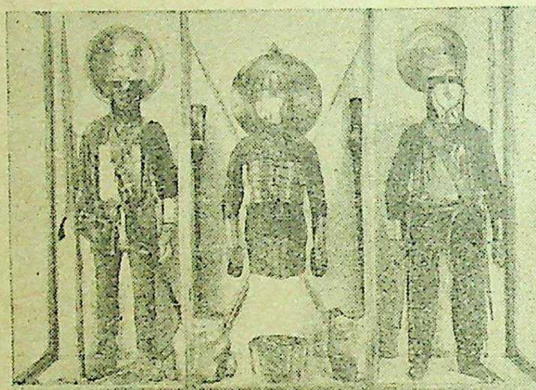
यूँ शाम से शायद तुम्हारे मन में यादें जुड़ जाती हों--शिवकुटी के पास गंगा तट की सिन्दूरी शामों की। या इमामबाड़े के पास के ढाल से गोमती पार की गाढ़ी-गुलाबी शामों की, या उड़ती पतंगों, धुंधलके में पर मारते पाँखियों और इक्का-दुक्का टिमटिमाते तारों वाली शामों की--मगर तुम्हें सुनकर ताज्जुब होगा कि लन्दन में यह सब कुछ नहीं होता । तुम बम्बई की शामों पर ही खीझती हो । विश्वास करो लन्दन की शामें देखकर तुम बम्बई को मुक्त हृदय से क्षमा कर दोगी । ईलियट ने शाम की उपमा आपरेशन की टेबिल पर लेटी रोगिणी से दी तो दुनिया भर के अँग्रेज़ी पाठक रोमांचित हो उठे । कैसी अभिनव उपमा है ! मगर ईलियट का चमत्कार दूसरा है। नयी-पुरानी की बात दीगर, उसने तो बिना उपमेय के ही उपमान चस्पाँ कर दिया । लन्दन में तो शाम नाम की चीज़ होती ही नहीं । दिन अक्सर



कामनवेल्थ रिलेशन्स आफ़िस के आँगन में क्लाइव की मूर्ति ।

कोहरे से ढँका रहता है, नहीं तो बादल ! दिन कब ढला, इसका पता आसमान से नहीं सड़कों से चलता है। जब दफ्तर और इमारतें भीड़ उगलने लगें, पटरियों पर हैण्ड-पर्स के छोटे शीशे में मुँह देखकर लिपस्टिक लगाती औरतों और बग़ल में छाता और हाथ में शाम का अख़बार दबाये लोगों की भीड़ ठसाठस भर जाय तब समझिये कि दिन ढल गया, पाँच बज गये। थोड़ी देर में जब सड़कें सुनसान हो जायें, फ़ुटपाथ पर इक्का-दुक्का राहगीर नज़र आयें, दफ्तरों की बत्तियाँ बुझ चुकी हों, दूकानें बन्द हों, शो-केस रौशन हों, तब समझिये कि अब शाम बीत चली, रात होने को है। जब सड़कों के दोनों ओर नियोन विज्ञापन जगमगा उठें, प्रदर्शन-गृहों के आगे क्यू लगे हों और सड़क चलते या राह-किनारे बेंचों पर बैठे प्रेमी-युग्म समस्त संसार को अपना शयन-कक्ष समझने की उदार भावना का प्रदर्शन करने लगें तो समझिये कि अब रात आ गयी। पर इन तमाम क्रमिक परिवर्तनों के लिए आसमान की ओर देखने की ज़रूरत नहीं। वहाँ तो वही मटमैला चन्दोवा एकरस, एक-सा टँगा हुआ नज़र आयेगा, गोया किसी उजड़े रईस जागीरदार का नीला मखमली शामियाना उत्सव ख़त्म हो जाने के बाद भी टँगा रह गया हो। बरस-दर-बरस धूप और धूल, बारिश और बर्फ़ ने उसके नीले मखमली रंग को उदास मटमैला और बदरंग बना दिया हो।

और उस पर तुर्रा यह कि ८, ९ बजे रात तक सूरज का उजाला क़ायम रहता है। छिः यह भी कोई शाम-सी शाम हुई ! कोई सुरुचि-सम्पन्न आदमी ऐसी शामों को उदास होने लायक़ भी न मानेगा। तभी न यहाँ अधिकतर लोग शाम को सपर लेते हैं और मौसम और राजनीति पर बातें करते हैं।



पुरानी आर्मरी, टावर आफ लण्डन : पुराने अँग्रेज योद्धाओं के जिरहबख्तर, ढाल और नेजे।

●

मगर यह सब तो दो-तीन शामों के बाद मालूम हुआ। पहले दिन तो पाँच बजे कि शाम की सूनी सड़कें और गहरे स्याह पड़ते हुए हरे लॉन और शाम की बढ़ती हुई ठण्डक बहुत आकर्षक लगने लगी। ओवरकोट लिया, मफ़लर लपेटा, दस्ताने पहने और (अन्दर गैस से पूरी तरह उष्ण) होटल के घूमते दरवाज़े से बाहर निकले और सर्द कोहरे मिली बर्फ़ानी हवा का पहला झोंका मुँह पर लगा कि मन बेहद ताज़ा हो आया। फ़ुटपाथ ख़ाली थे, सड़कें सूनी

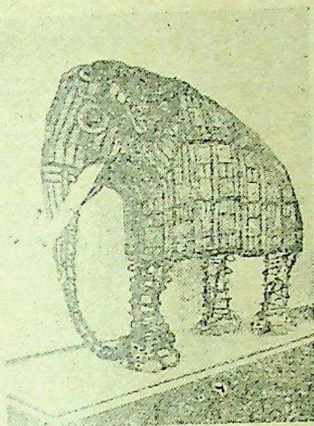
और पार्क मीलों तक फैला चला ही गया था। कहाँ किस मोहल्ले में हैं हम, किस ओर क्या है, यह सब कुछ नहीं मालूम ! बस पार्क के किनारे-किनारे चलते चले जा रहे थे। इधर-उधर मकानों के फाटकों पर मूर्तियों के नीचे, अपरिचित नामों और परिचयों को पढ़ते, पोस्टरों को पढ़ते, लाल पोस्टबाक्सों पर लगे नम्बरों और डाक निकलने के वक्तों को पढ़ते, जगह-जगह ट्रैफ़िक की नोटिसों को पढ़ते। यह लन्दन से मेरी पहली एकांत बातचीत थी। और जब एक फाटक के पास शक्ल से निहायत भद्र लगने वाला पुलिस कौप खड़ा नज़र आया तो महज़ बात करने के इरादे से मैं उसके पास गया और पूछा—"इस पार्क का क्या नाम है ?"

"हाइड पार्क !" जवाब मिला।

तो यह मशहूर हाइड पार्क था। इस बार एक नई प्रत्याशा से चारों ओर दूर-दूर तक देखा। महज़ हरियाली ज़्यादा थी वरना अपने शहरों में पुराने कम्पनी बाग़ों की तरह दूर-दूर तक घास के मैदान, बीच-में पक्की सड़कें, कच्चे रास्ते, ऊँचे पेड़ और बीच-बीच में झाड़ ! कहाँ हैं वे सोप-बाक्सों पर खड़े होकर तक़रीरें देने वाले वक्ता ? कहाँ है सर्पेन्टाइन नदी-झील ? कहाँ हैं मशहूर प्रेमी-जोड़े और उनकी क्रीड़ाएँ—वह सब जिनके लिये हाइड-पार्क मशहूर है। दूर-दूर तक कुछ नहीं। महज़ दो लड़कियाँ घुड़सवारी करती जा रही थीं और एक बूढ़ा चहलक़दमी करते चला आ रहा था, उसका एक कुत्ता घास में दौड़ लगा रहा था।

मन कुछ निराश हो आया। सच तो यह था कि घर की याद आने लगी थी और सोच रहा था कि हज़ारों मील उड़कर क्यों आया ? फिर भी कच्ची मिट्टी वाला रास्ता बहुत दिन बाद दीखा था और मैं उस पर चलता चला गया और अकस्मात् पेड़ों के पार दीखे रंग, फूलों के रंग ! और पास गया। ट्यूलिप के खेत ! क्या-क्या रंग थे कि

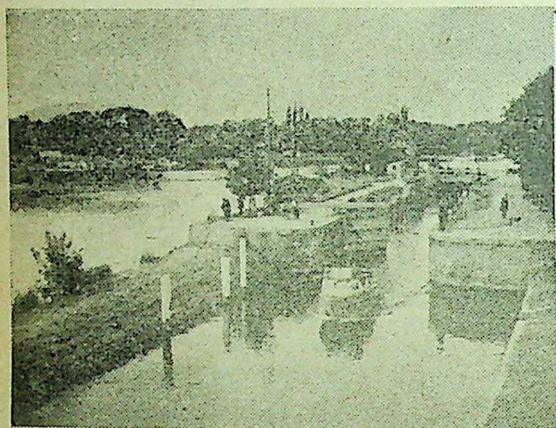
नयी आमरी टावर आफ़ लण्डन : वह हाथी का लोहे का जिरहबख्तर जो क्लाइव भारत से लूटकर ले गया था।





नयी आर्मरी, टावर आफ़ लण्डन : एक अफ्रीकी योद्धा का शिरस्त्राण और छाती तथा पीठ की रक्षक लौहपट्टिका।

मैं कभी कल्पना नहीं कर सकता था कि फूलों में ये रंग भी हो सकते हैं। पहले तो मैं यह भी नहीं पहचान सका कि ये फूल कौन-से हैं; विमुग्ध रंग-हत खड़ा रहा। टूली रंग का लाल इस क़दर चमकीला हो सकता है? और गुलाबी? और यह बैंजनी? यह नीला? कभी-कभी सपनों में जो असंभव रंग दिखाई देते हैं न, उससे भी ज़्यादा असंभव अद्भुत रंग! और खेत-के-खेत! रंग-रंग के जाल मानों सहसा फैले और मुझे उलझा ले गये।



मार्लो नगर में टेम्स।

और जब चेतना लौटी, तो महसूस हुआ कि अब लन्दन अजनबी नहीं रहा। अभी तक मानो हर ओर कोहरे की एक दीवार थी और मैं लन्दन के बाहर था, दरवाज़े बन्द थे। शहर निष्प्राण था, जड़, निस्पंद! ट्यूलिप मिलते ही लगा जैसे कोई एक बन्द दरवाज़ा, लंदन का कोई अंतरंग द्वार खुला और मैं अन्दर ले लिया गया। फूलों-लिखे आमंत्रण पत्र द्वारा!

लौटकर आया तो रंग-रंग के विशाल जाल उड़ते हुए साथ चले आये। कमरे में गया तो, नीचे डाइनिंग हॉल में गया तो, लाउंज में बैठकर खाने के बाद की कॉफ़ी पी तो—वे रंग-रंग के ट्यूलिप के खेत पंख फड़फड़ाकर विशाल रंगीन तितलियों की तरह उड़ते रहे।

और तुम यक़ीन नहीं करोगी कि मैं सोकर उठा और चैम्बर-मेड बेड-टी के साथ सुबह का अखबार लाई, तो मैंने देखा कि टाइम्स के मुखपृष्ठ पर जो सबसे बड़ा समाचार-चित्र छपा हुआ है वह है पार्लियामेंट के सामने के ट्यूलिप फूलों का—और नीचे चित्र-परिचय था कि लंदन की सबसे महत्त्वपूर्ण ख़बर यह है कि ट्यूलिप की क्यारियाँ खिल आई हैं, अपने भरपूर तबस्सुम पर हैं।

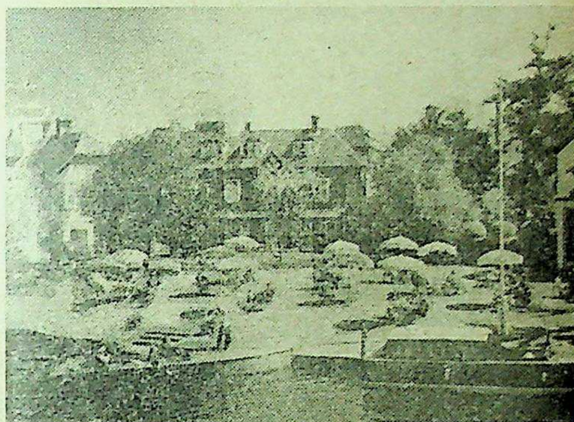
जो शहर फूलों के खिलने को मुखपृष्ठ की ख़बर मान सकता है उससे मेरी अंतरंग दोस्ती! उसे मेरा अमित प्यार!

●

लंदन ने अपना ट्यूलिप का दरवाज़ा खोला तो मेरे लिए—मगर जानती हो वह दरवाज़ा खुला किस आँगन में? पार्लियामेंट के पिछवाड़े, डाउनिंग स्ट्रीट की राजकीय इमारतों के बीच का वह पत्थर जड़ा पुराना आँगन जो ब्रिटिश साम्राज्य की हिन्दुस्तानी हुकूमत के सूत्र-संचालन का मुख्य केन्द्र रहा है। दूसरे दिन सुबह ही मैं यहाँ आया अपने मेज़बान से मिलने। यही वह आँगन

है जहाँ से ईस्ट इंडिया कम्पनी की देख-रेख होती थी, यही वह जगह है जहाँ से हिन्दुस्तान के बारे में नीतियाँ तय होती थीं और घोषणायें तैयार की जाती थीं। आज साम्राज्य उजड़ गया है। हाथ से निकली जागीरों का बक़ाया हिसाब-किताब और उन जागीरों में शासक-रूप में नहीं वरन् मित्र रूप में अपनी रही-सही प्रतिष्ठा बनाये रखने का काम भी अब इसी आँगन से होता है। इंडिया हाउस की लाइब्रेरी भी यहीं है। कामनवेल्थ रिलेशन्स आफ़िस भी यहीं है। काई जमे, गढ़े हुए बड़े पत्थरों की इमारतों की अपनी एक आतंकमयी भव्यता होती है। अंदर बड़े-बड़े गलियारों में चिदम्बरम्, बनारस, मथुरा और त्रिचनापल्ली के तैल-चित्र लगे हैं। कभी इन गलियारों में अँग्रेज़ बहादुर खड़े होकर इन चित्रों को देखते होंगे और गर्व से फूल उठते होंगे कि यह सब उनकी मिल्कियत है, उनकी सम्पत्ति है। आज उन्हें देखकर क्या भाव उठते हैं?

गलियारा जहाँ खत्म होता है वहाँ सामने दीवार पर नेपाल के प्रख्यात सशक्त शासक राजा जंगबहादुर का क़द्देआदम चित्र लगा हुआ है। वे पहले राजा थे जो ग़दर के तुरत बाद पंडितों के विरोध के बावजूद इंगलैण्ड आये थे। अन्दर ड्यूक के कमरे में अँगीठी के ठीक ऊपर प्रख्यात गद्यकार चार्ल्स लैम्ब का तैल-चित्र टँगा हुआ था। चार्ल्स लैम्ब इसी इंडिया हाउस में कभी मुनीम था। ड्यूक हमारे खास मेज़बान थे, शासक-दल कन्ज़र्वेटिव पार्टी की ओर से कामनवेल्थ देशों के सांस्कृतिक संबंधों के इंचार्ज! अभी ख़ासे युवक—चुस्त और जागरुक। वह मखमली फ़र्श का कमरा, पुरानी बहुमूल्य लकड़ी का फ़र्श, छत और दीवारें, दरवाज़ों पर सुनहरी पच्चीकारी, कार्निस पर ट्यूलिप के फूल, और ड्यूक का दोस्ती भरा स्वागत और ख़ास दार्जीलिंग की हरी चाय।...... वी० आई०पी० होने की एक अलग ख़ुमारी



मार्लो में टेम्स नदी के तट पर कुंजनुमा कम्प्लीट एंगलर होटल।

है जो धीरे-धीरे मुझ पर चढ़ रही है.... मगर यह भारतीय संगीत-स्वर कहाँ से आ रहा है? क्या हमारे स्वागत के लिए इन्होंने भारतीय रेकार्ड भी लगवाये हैं? मगर इतना परुष स्वर? कौन गा रहा है?....'जागो ऐ हिंद वालो हरसू हुआ सवेरा, सब लूट करके अपने घर ले गया लुटेरा!'....ओह यह हैं बेनी काका! यादों की गुफ़ा से उभरकर इनका भटकता हुआ प्रेत-स्वर यहाँ इस क्षण मुझे क्या याद दिलाने आया है! [शेष पृष्ठ ३०७ पर]

'द कलकत्ता म्यूनिसिपल गज़ट' के शनिवार, १३ सितम्बर १९४१ के 'टैगोर स्मृति अंक' के परिशिष्टांक में श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रस्तुत पत्र प्रकाशित हुआ था जो कि कुमारी रेथबोन एम० पी० के पत्र के उत्तर में लिखा गया था। कुमारी रेथबोन ने 'भारतीयों के नाम एक खुला पत्र' लिखकर भारत में अँग्रेज़ी शासन की वकालत की थी।

●

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

●

एक अँग्रेज़ महिला को एक देशभक्त भारतीय का उत्तर

भारतीयों के नाम कुमारी रेथबोन का खुला पत्र पढ़कर मुझे हार्दिक दुःख हुआ है। मैं नहीं जानता कि कुमारी रेथबोन कौन हैं, लेकिन यह स्पष्ट है कि वह एक औसत 'शुभ-चिन्तक' अँग्रेज़ की ही प्रवृत्ति की प्रतिनिधि हैं। उनका यह पत्र मुख्यतः जवाहरलाल को ही सम्बोधित है और मुझे इसमें कोई संदेह नहीं कि स्वतन्त्रता-संग्राम का वह वीर सेनानी यदि मिस रेथबोन के देशवासियों द्वारा इस समय बरबस जेल में न ठूँस दिया गया होता तो अवश्य ही इस कुटिल और उपदेशपूर्ण पत्र का खरा उत्तर देता। उनकी यह विवश चुप्पी मुझे अपनी इस अस्वस्थता की दशा में भी इस पत्र के विरुद्ध आवाज़ उठाने को बाध्य करती है। कुमारी रेथबोन ने इस तरह के अविवेकपूर्ण बल्कि उद्धत पत्र द्वारा हमारी चेतना एवं अन्तःकरण को चुनौती देकर अपने देश का भी अहित ही किया है। कुमारी रेथबोन हमारी इस कृतघ्नता से पीड़ित हैं कि 'अँग्रेज़ी ज्ञानकूप के जल से अपनी तृषा को शान्त करने के उपरान्त भी' हम अपने निर्धन एवं दुर्बल देश के प्रति कोई सद्भावना रखते हैं!

यह सच है कि पश्चिमी सभ्यता की श्रेष्ठतम परम्पराओं के प्रतिनिधि के नाते अँग्रेज़ी विचार-धारा ने हमें बहुत-कुछ सिखाया है, किन्तु मुझे इतना और कह लेने दें कि हमारे जिन देशवासियों ने इससे कुछ लाभ उठाया भी है, वह अँग्रेज़ों द्वारा हमें ग़लत शिक्षा देने के प्रयत्नों के बावजूद किया है। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का परिचय हमें किसी अन्य यूरोपीय भाषा के द्वारा भी हो सकता था। क्या सम्पूर्ण विश्व ने अँग्रेज़ी द्वारा ही ज्ञान प्राप्त किया है? हमारे तथाकथित अँग्रेज़ मित्रों का यह सोचना सरासर अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना ही है कि यदि उन्होंने हमें शिक्षित नहीं बनाया होता तो हम अज्ञान के अंधकारपूर्ण युग में ही रह जाते।

भारतीय बच्चों को शिक्षा की मेज़ पर अँग्रेज़ी का सर्वोत्तम नहीं अपितु जूठन ही आहार में दिया जाता रहा है, जिसका परिणाम यह हुआ कि वे अपनी गौरवपूर्ण संस्कृति से भी वंचित रह गये हैं।

यदि किसी भाँति यह मान भी लें कि हमारे लिए एकमात्र अँग्रेज़ी के माध्यम से ही शिक्षा प्राप्त करना संभव था तो भी सन् १९३१ में भी स्थिति यह थी कि दो शताब्दियों के ब्रिटिश-शासन के उपरान्त भी हमारी पूरी आबादी की मात्र एक प्रतिशत जनता ही शिक्षित हो पायी थी जबकि रूस में केवल पन्द्रह वर्षों के सोवियत राज्य के पश्चात् वहाँ के ९८ प्रतिशत बच्चे शिक्षित थे। [ये आँकड़े अँग्रेज़ी-प्रकाशन के पत्र स्टेट्समैन की ईयर-बुक से लिये गये हैं जो कि किसी भी दशा में रूस के साथ पक्षपात नहीं कर सकता।] किन्तु इस तथाकथित 'संस्कृति' से भी अधिक ज़रूरी जीवन की वे अनिवार्य आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी नींव पर ही किसी भी सभ्यता या संस्कृति की इमारत खड़ी हो सकती है।

और जो अँग्रेज आज पूरी दो शताब्दियों से हमारे देश को बुरी तरह लूट-खसोट रहे हैं, उन्होंने ग़रीब भारतीयों के लिए क्या किया है? म चारों ओर दृष्टि दौड़ाने पर रोटी के लिए तड़पते, दुर्भिक्ष से ग्रस्त भारतीय मानव-शरीरों को ही देख पाता हूँ। मैंने गाँवों में दो बूँद पानी के लिए महिलाओं को कीचड़भरी धरती खोदते देखा है क्योंकि भारतीय गाँवों में स्कूलों से भी ज्यादा अभाव कुओं का है।

मुझे पता है कि आज इंग्लैण्ड की जनता भी भुखमरी के ख़तरे से आक्रान्त है, और इसके लिए उनके साथ मेरी हार्दिक सहानुभूति है, किन्तु जब मैं ब्रिटिश नौसेना के समस्त जहाज़ों को इंगलैण्ड की ओर अनाज ढोने में व्यस्त देखता हूँ और दूसरी ओर मैं स्मरण करता हूँ कि मैंने अपने देश के लोगों को भूख से मरते देखा है और तब भी निकटवर्ती ज़िले से भी एक बैलगाड़ी भर चावल लाने की भी व्यवस्था नहीं की गयी तो मैं विलायती अँग्रेज़ों और भारतीय अँग्रेज़ों में तुलना किये बिना नहीं रह सकता।

तो हम अँग्रेज़ों के इस बात के लिए तो कृतज्ञ हो नहीं सकते कि वे हमें भरपेट खाने को देते हैं.... फिर किस बात के लिए उनके कृतज्ञ हों? देश में क़ानून तथा व्यवस्था क़ायम रखने के लिए?

मैं चारों ओर दृष्टि दौड़ाता हूँ तो पाता हूँ कि मेरे देश में चारों ओर दंगे-फसाद का ज़ोर है। जब सहस्त्रों-हज़ारों भारतीय जीवन नष्ट हो रहे हों, उनकी धन-

सम्पत्ति लूट ली जाती हो, उनकी महिलाओं की अस्मत का हरण हो रहा हो तब शक्तिशाली ब्रिटिश सेनाओं में यहाँ ज़रा हलचल तक नहीं होती, हाँ सागर-पार से हमें धिक्कारता हुआ यह ब्रिटिश स्वर ज़रूर सुनाई देता है कि हम अपने घर में व्यवस्था बनाए रखने के भी निपट अयोग्य हैं।

ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं जब महायुद्ध में ब्रिटिश, फ्रेंच व ग्रीक योद्धाओं को युद्धस्थल छोड़ना पड़ा है क्योंकि शत्रु उनसे कहीं अधिक अच्छे शस्त्रों से लैस थे, परन्तु जब हमारे ग़रीब, शस्त्रहीन तथा असहाय किसान सशस्त्र गुंडों से अपने घरों को बचाने में स्वयं को असमर्थ पाकर अपने रोते-बिलखते बच्चों को गोद में उठाकर भागने के सिवाय और कोई चारा नहीं देखते तो ब्रिटिश अधिकारी तिरस्कार से उनकी कायरता पर हँसते हैं!

आज इंग्लैण्ड में प्रत्येक नागरिक अपनी धन-सम्पत्ति तथा शत्रु से स्वयं की रक्षा के लिए सशस्त्र है, किन्तु भारत में लाठी-प्रशिक्षण भी क़ानून द्वारा अवैध घोषित कर दिया गया है। हम लोगों को जान-बूझकर शस्त्रहीन कर असहाय बना दिया गया है ताकि हम अपने सशस्त्र स्वामी की दयादृष्टि पर, उनके अधीन होकर जीवित रह सकें।

अँग्रेज़ों को नाज़ियों से इसलिए घृणा है क्योंकि उन्होंने उनके विश्व-प्रभुत्व को चुनौती दी है, और कुमारी रेथबोन हमसे यह आशा करती हैं कि अपनी दासता की ज़ंजीरों को निरन्तर कसनेवाले हाथों को हम चूमें। किसी भी सरकार की योग्यता उसके वक्ताओं के छल-कपट से पूर्ण वक्तव्यों द्वारा नहीं मापी जाती, वरन् मापी जाती है उस सरकार द्वारा जनता की भलाई के लिए किये गये वास्तविक एवं ठोस कार्यों द्वारा ही।

यह कहना ग़लत है कि चूँकि अँग्रेज़ विदेशी हैं, इसीलिए उनके लिए हमारे हृदयों में कोई स्थान नहीं है, बल्कि इसका वास्तविक कारण तो यह है कि स्वयं को हमारा कल्याणकर्ता बताने का ढोंग करते हुए, उन्होंने हमसे विश्वासघात किया है और अपने चंद पूँजीपतियों की जेबें भरने के लिए ही उन्होंने करोड़ों भारतवासियों के सुख का बलिदान कर दिया है।

मेरा ख़याल था कि हमारे प्रति किये गये इन ज़ुल्मों के लिए एक सभ्य और सुशिक्षित अँग्रेज़ कम-से-कम ख़ामोश रहेगा और हमारी निष्क्रियता के लिए हमारा कृतज्ञ ही होगा, लेकिन वह स्वयं अपने ही द्वारा किये गये हमारे घावों पर नमक छिड़कने का कार्य करेगा——इसकी तो कल्पना भी असह्य है।

[चन्द्रकान्ता वर्मा द्वारा अनूदित]

देवराज इन्द्र अपने एक विशेष देवदूत को भारत भेजते हैं कि वह आज के भारत-वासियों की धार्मिक प्रवृत्तियों की सही रिपोर्ट भेजे। यहाँ प्रस्तुत हैं 'सही रिपोर्ट' के वे सब पत्र जो दिल्ली के डिप्लोमेटिक एंक्लेव से देवदूत ने देवेन्द्र के पास भेजे।



कृश्नचन्दर

९, राजदूत होटल,
डिप्लोमेटिक एंक्लेव,
नयी दिल्ली,
ता० १०-८-६३

देवनायक महाराज इंदरदेव,

मेरा प्रणाम स्वीकार हो। आपके चरणों का दास दिनांक ९ जुलाई, १९६३ को स्वर्गीय-राकेट पर सवार होकर नौ करोड़ मील प्रति सेकिंड के वेग से उड़कर आज पूरे एक महीना एक दिन के बाद नयी दिल्ली पहुँचा है। यात्रा में किसी प्रकार की तकलीफ़ नहीं हुई। आपकी दी हुई ह्विस्की, जिसे स्वर्ग में आने वाले भारतीय स्मग्ल करके लाये थे और जिसे आपकी आज्ञा से ज़ब्त कर लिया गया था, ने इस लंबी यात्रा को बड़ा मनोरंजक बना दिया। मैं समझता

देवदूत के पत्र : देवेन्द्र के नाम

हूँ कि स्वर्ग में यदि भुने हुए सत्तू के साथ थोड़ी-सी ह्विस्की भी मिल जाया करे तो भगवान के गुण गाने और अपना मन बहलाने में बहुत मदद मिल सकेगी। यह बात मैं अपने निजी अनुभव के आधार पर कह रहा हूँ।

मैं यहाँ राजदूत-होटल में ठहरा हूँ जो डिप्लोमेटिक एंक्लेव में स्थित है। यहाँ पर केवल विदेशों के राजदूत ठहरते हैं और स्वर्ग भी इस मानव-संसार के लिए एक प्रकार का विदेश है; और इस कारण मुझे भी आपका राजदूत होने के नाते इस भव्य होटल में स्थान मिल गया है। हवाई-अड्डे पर मुझे लेने के लिए श्री नेहरू, मोरारजी देसाई, गुलज़ारीलाल नन्दा और एस० के० पाटिल उपस्थित थे। इन सब लोगों ने मुझसे पूछा, "स्वर्ग कैसा देश है ?" मैंने कहा, "जाकर देखिए।" इसके बाद कोई कुछ नहीं बोला।

मेरा विचार है, इन लोगों को संदेह है कि मैं स्वर्ग से नहीं आया। कहते हैं, "वहाँ जो जाता है, लौटकर नहीं आता!" मैंने कहा, "मैं देवों के देव, सातों लोकों के देव, महाराज इंदरराज का दूत हूँ और सीधा स्वर्ग से आया हूँ," परन्तु ऐसा प्रतीत होता है, मेरे उत्तर से वे संतुष्ट नहीं। उन्होंने मुझे राजदूत-होटल में स्थान तो दे दिया है परन्तु मेरे पीछे सी० आई० डी० भी लगा दिया है। ये लोग हवाई-अड्डे पर खड़े मेरे विचित्र रॉकेट को देखते हैं। उनका विचार है कि मैं स्वर्ग से नहीं, किसी दूसरे लोक से आया हूँ।

संध्या समय ६ बजे मैं नहा-धोकर, लांड्री से धुली हुई साफ़ धोती पहनकर और माथे पर चन्दन का तिलक लगाकर, हाथ में एक कमंडल लेकर पूजा के लिए निकला और नीचे काउंटर पर जाकर मैंने क्लर्क से किसी मंदिर का पता पूछा तो मेरा प्रश्न सुनकर हँसने लगा; फिर बोला, "इस क्षेत्र में दूर-दूर तक कोई मंदिर नहीं है।"

"क्या कहते हो ?" मैंने गरजकर उससे कहा, "यह भारत है, धर्म की धरती! मीरा, तुलसी, सूरदास और वाल्मीकि का जन्मस्थान!—यहाँ पर मंदिर की क्या कमी हो सकती है ?"

"वह बोला, "यह डिप्लोमेटिक एंक्लेव है, यहाँ पर कोई मंदिर नहीं है।"

"तो मैं पूजा के लिए कहाँ जाऊँ ?" मैंने उससे पूछा।

बोला, "एक नाइट-क्लब है, उसमें जाइये।"

मैं नाराज़ होकर वापस अपने कमरे में चला आया और ह्विस्की पीने लगा, कि ह्विस्की से दिल का बोझ हल्का होता है। यह भी एक निजी अनुभव है!

कल सुबह नाश्ते पर पंडित नेहरू से भेंट करनी है। उसका हाल कल लिखूंगा।

चरणों का दास

देवरत्न

नयी दिल्ली,
११-८-६३

देवाधिदेव देवेन्द्र,

आज सुबह नाश्ते पर पंडित नेहरू से भेंट हुई। सबसे पहले उन्होंने मेरे आने का कारण पूछा। मैंने बताया कि स्वर्ग में आनेवाले भारतीयों ने शिकायत की है कि भारत की धार्मिक अवस्था इस समय गहरे संकट में है। लोग अपना धर्म-कर्म भूल चुके हैं। अपने भगवान को याद नहीं करते और दिन-रात मुनाफ़ाख़ोरी, रिश्वत और भ्रष्टाचार में डूबे रहते हैं। इससे महाराज इंदर को बहुत चिन्ता है और उन्होंने मुझे विशेषतः इसी बात की छान-बीन करने के लिए भारत भेजा है।

पंडित नेहरू ने मेरी बातें सुनकर कहा, "धार्मिक-अवस्था के बारे में मेरी जानकारी कुछ ज़्यादा नहीं है—आप श्री गुलज़ारीलाल नंदा से मिलिये, जो शायद भारतीय साधु-समाज के अध्यक्ष हैं या रह चुके हैं और मॉरल री-आर्मामेंट-आंदोलन से दिलचस्पी रखते हैं या रखते थे। मुमकिन है, वह आपको इस बारे में शायद कुछ बता सकें—या न बता सकें, मैं कुछ कह नहीं सकता। वैसे यह मामला बहुत गंभीर है—परन्तु इससे भी ज़्यादा गंभीर मसले मेरे देश में मौजूद हैं और थे और शायद यह मुमकिन है कि आगे चलकर भी रहें, कुछ कह नहीं सकता।"

"बहुत अच्छा," मैंने आमलेट खाते हुए जवाब दिया।

फिर इधर-उधर की बातें होने लगीं। पंडितजी ने पूछा, "स्वर्ग में लोहे के कारख़ाने कितने हैं?"

मैंने कहा, "एक भी नहीं।"

पूछा, "लोग खाते क्या हैं?"

मैंने कहा, "कुछ भी नहीं।"

बोले, "वहाँ का प्रधान मंत्री कौन है?"

"कोई भी नहीं।"

चकित होकर बोले, "फिर काम कैसे चलता है?"

मैंने कहा, "वहाँ काम होता ही नहीं।"

मस्कुराए, कुछ देर चुप रहने के पश्चात् गंभीर स्वर में बोले, "तो वहाँ कोई प्रॉबलम भी नहीं होती होगी?"

मैंने कहा, "एक प्रॉबलम है।"

"क्या?"

"चीन!"

चौंककर कुर्सी से उठ खड़े हुए; बोले, "क्या वहाँ भी चीन की प्रॉबलम है?"

"जी हाँ," मैंने कहा, "स्वर्ग में जितने चीनी आबाद हैं, सब माओत्सेतुंग के चेले हो रहे हैं। दिन-रात 'माओ--ज़िन्दाबाद' के नारे लगाते हैं और कहते हैं कि स्वर्ग में क्योंकि चीनियों की आबादी दूसरी क़ौमों से ज्यादा है इसलिए स्वर्ग पर चीनी झंडा फहराया जाये!--भगवान के सामने यह बड़ी समस्या है कि स्वर्ग और नर्क दोनों पर चीनी अपना अधिकार जताने पर तुल गये हैं।"

"फिर भगवान ने क्या सोचा?" पंडितजी ने पूछा।

"भगवान ने सोचा है कि कुछ बड़े-बड़े चीनी नेताओं को स्वर्ग में बुलाकर उनसे बातचीत की जाये।"

यह सुनकर पंडित जी मुस्कराये। इंटरव्यू खत्म करके मुझसे हाथ मिला कर बोले, "जाने से पहले ज़रूर मिलिएगा।"

आपका दास
देवरत्न

नयी दिल्ली,
२०-८-६३

देवराज देवेश्वर,

श्री गुलज़ारीलाल नन्दा ने मुझे बताया कि "भारत में किसी प्रकार का धर्म-संकट नहीं है। भारत में पन्द्रह लाख साधु रहते हैं। इन साधुओं के होते हुए किसी प्रकार का धम-संकट हो ही नहीं सकता। इसके अतिरिक्त मौलवी लोग हैं, क्रिश्चियन पादरी हैं, बौद्ध भिक्षु हैं, जैनी गुरु हैं और यहूदी महात्मा हैं। इन लोगों की संख्या भारत में संसार के किसी भी अन्य देश से बहुत ज्यादा है, इसलिए इन लोगों के होते हुए यह सोचना कि भारत में धर्म और जाति संकट में है, वास्तव में

उर्दू के साहित्यिक मासिक-पत्र 'फ़नकार' के तत्कालीन सम्पादक श्री प्रकाश पण्डित के नाम श्री कृश्नचन्दर का एक अप्रकाशित दिलचस्प पत्र :

चार बँगला, अँधेरी, बम्बई
१७-८-५५

प्यारे प्रकाश पण्डित,

तुम्हारा पत्र बल्कि कोप-पत्र मिला। एक (हैदराबादी भाषा में) लेख लिखा हूँ। हास्य लेख सो को जानें। नाम रखा हूँ 'गंजा'। आप को (बम्बई की भाषा में) परोरता हो तो भेजूँ। नको तो नको। उत्तर तुरन्त देवी सों (गुजराती भाषा में) तुमने पसंद नत्थी लागे पिच्छी दूसरे को देवी सों--काए रे पण्डिता? (मराठी भाषा में) गड़बड़ साला.. (मराठी भाषा चूँकि हिन्दी भाषा के बहुत क़रीब है इसलिए आगे कुछ नहीं कहा जा सकता—सावधानी का तकाज़ा समझो!)

बस इतना ही काफ़ी है कि 'गंजा' शीर्षक से एक लेख कल लिखा है, कहो तो भेजूँ। उसके बाद कहानी, लेख आदि माँगने से पहले प्रत्येक सम्पादक के लिए यह प्रतिज्ञा-पत्र भेजना आवश्यक हो जाएगा :

भारत की धार्मिक-प्रवृत्तियों पर खुला आरोप है। मेरे विचार से स्वर्ग में कुछ कम्युनिस्ट लोग पहुँच गये होंगे और उन्होंने यह ख़बर उड़ाई होगी।"

मैंने कहा, "स्वर्ग में कोई कम्युनिस्ट प्रवेश नहीं पा सकता--महाराज इंदर इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं।"

"अरे आप नहीं जानते," गुलज़ारीलाल नन्दा सर हिलाकर बोले, "ये लोग बड़े चालाक हैं, हर जगह पहुँच जाते हैं!"

गुलज़ारीलाल नन्दा ने मुझे सुझाव दिया है कि यदि मैं वास्तव में भारत की धार्मिक प्रवृत्तियों को परखना चाहता हूँ तो मुझे डॉ० राधाकृष्णन् से भेंट करनी चाहिये। उन्होंने मुझ पर उपकार करके, स्वयं राष्ट्रपति को टेलीफ़ोन कर उनसे भेंट का समय निश्चित कर लिया है। परसों उनसे मिलने जा रहा हूँ। आज संध्याकाल रूसी राजदूत मेरा रॉकेट देखने के लिए आ रहा है। रात को अमरीकी राजदूत डिनर दे रहा है। परसों ब्रिटिश हाई कमिश्नर ने लंच पर बुलाया है। बहुत व्यस्त रहूँगा, इस कारण दो-तीन दिन तक पत्र न लिख सकूँगा तो क्षमा कीजियेगा।

आपका दास
देवरत्न

●

नयी दिल्ली,
२८-८-६३

योर एक्सलेंसी इंदर राजजी महाराज,

भारत सरकार ने भारत की धार्मिक व्यवस्था पर विचार करने के लिए एक धार्मिक कमीशन बिठाने का निर्णय किया है और मुझे उसका अध्यक्ष चुना है। तनख़्वाह दो हज़ार रुपये

"मैं--प्रकाश पण्डित--अपने पूरे होशोहवास में प्रतिज्ञा करता हूँ बल्कि स्थायी वचन देता हूँ कि आइंदा कहानी माँगते समय कृश्नचन्दर से कभी यह नहीं कहूँगा कि साहब (१) कहानियाँ कम लिखिये! (२) सोच-समझकर लिखिये! (३) केवल महान् कहानियाँ लिखिये! (४) जब कहानी आपको सताए तभी लिखिये और किसी के कहने पर मत लिखिये! (५) परिश्रम को तजकर केवल अवतरण का आज्ञापालन कीजिये अन्यथा मौन रहिये! (६) यदि कहानी लिखी जाए तो सम्पादक के बार-बार तकाजा करने पर भी साफ़ इन्कार कर दीजिये! (७) कृश्नचन्दर साहब, अपने-आपको इतना सस्ता मत बनाइए! (८) आपकी कला, आपका दृष्टिकोण तथा आपकी निर्धनता हमें अत्यन्त प्रिय है।"

आइंदा जब तक यह तहरीर नहीं आएगी, किसी सम्पादक को कहानी नहीं मिलेगी--इस स्कीम के बारे में तुम्हारा क्या ख़याल है? केवल राय पूछ रहा हूँ--फ़ैसला तो मैं कर चुका।

तुम्हारा
कृश्नचन्दर

महीना, यात्रा-व्यय और होटल के दूसरे खर्चे इसके अतिरिक्त हैं। छः महीने सारे भारत का दौरा करूँगा। एक लेडी-स्टेनो और दो अरदली मेरी सेवा के लिए दिये गए हैं। यात्रा विमान द्वारा होगी और यदि कहीं पर विमान उपलब्ध न होगा तो एयर कंडीशंड कंपार्टमेंट में यात्रा होगी। भारत के जिन क्षेत्रों में प्रोहिबीशन है वहाँ मेरे लिए ह्विस्की का विशेष कोटा मंजूर किया गया है क्योंकि ह्विस्की की अजीब लत पड़ गई है। पीकर बिल्कुल स्वर्ग के-से झोंके आते हैं! (और इसीलिए पीता हूँ कि अपने देश से इतना दूर हूँ!)

मैंने कमीशन का अध्यक्ष बनना स्वीकार कर लिया है। भारत-सरकार ने यह भी तय कर दिया है कि यदि मुझे अपनी छानबीन के सिलसिले में योरोप जाना पड़ा तो उसके लिए फॉरन एक्सचेंज भी मंजूर कर दिया जायेगा क्योंकि श्री १०८ स्वामी उदबुदानन्द के शब्दों में "भारत में रोटी का संकट तो चलता ही रहता है परन्तु यदि भगवान न करे कहीं धर्म-संकट भी भारत में शुरू हो गया तो हमारी संस्कृति का दीवाला पिट जायेगा।"

भारत को इस दुर्घटना से बचाने के लिए मैंने इस कमीशन का अध्यक्ष बनना स्वीकार कर लिया है। आशा है, आप आशीर्वाद देंगे।

हाँ, यह तो बताना मैं भूल ही गया कि राष्ट्रपति श्री राधाकृष्णन् से भेंट हुई थी। बहुत ही पहुँचे हुए दर्जे के फ़िलास्फ़र और विद्वान् हैं। मैं उनसे उनकी कुछ किताबें माँगकर लाया हूँ। आजकल दिन में उनका अध्ययन करता हूँ, रात को नाइट-क्लब में जाता हूँ। बहुत व्यस्त जीवन है नयी दिल्ली का—यदि अगले दो-तीन सप्ताह तक मेरा पत्र आपको न मिले तो परेशान न होइयेगा। मैं बराबर आपका काम कर रहा हूँ।

आपका दास
देवरत्न

●

नयी दिल्ली,
२८-१०-६३

इंदर महाराज,

आपका पत्र मिल गया। जिसमें आपने मुझे डाँटने की कोशिश की है। आपका विचार है कि मैं भारत आकर अपना कर्तव्य भूल गया हूँ; दिन-रात अधिकारियों के साथ लंच और डिनर खाता हूँ; हवाई जहाज़ में यात्रा करता हूँ; ऊँचे होटलों में ठहरता हूँ और सरकार से डबल भत्ता चार्ज करता हूँ—परन्तु यह तो सब करते हैं। इसलिए यदि मैं भी करता हूँ तो क्या ग़लत करता हूँ। दूसरी बात यह है कि मैं ब्रह्मांड का सबसे बड़ा राजदूत हूँ, इसलिए मुझे अपनी पोजीशन का भी ख़याल रखना पड़ता है।



वाल्या की पाती और बलियाबाला का मसौदा

उर्फ़

एक टिकट में दो तमाशे

चिट्ठीरसा :
अमृतलाल नागर

●

वाल्या का नाम आज विश्व के बच्चे-बच्चे की जबान पर है, लेकिन अन्तरिक्ष में पृथ्वी की परिक्रमा करते समय उसने अपने भावी बच्चों के पिता को जो 'प्रेम-पत्र' लिखा था, उसके बारे में कोई नहीं जानता, क्योंकि उस 'प्रेम-पत्र' के गुप्त 'चिट्ठीरसा' श्री अमृतलाल नागर थे, जिनके सौजन्य से प्राप्त वह पत्र पहली बार 'ज्ञानोदय' में प्रकाशित हो रहा है।

प्यारे तवारिश,

तुम्हारे होने वाले बच्चों की माँ वाल्या का अन्तरिक्ष से लाल सलाम। इस समय दुनिया के तमाम फ़िल्मी और पोलिटिकल सितारे मुझ टैक्सटाइल-मजदूरनी के आगे अपनी चमक-दमक खोकर फीके-फक्क पड़ गए हैं, सिवा हमारे तवारिश ख्रुश्चेव के जो हम अन्तरिक्ष-यात्रियों के रूहानी अतेंत्स (पिता) हैं। तवारिश, (कामरेड) अगर मैं बुर्जुआ होती तो कहती, कम-से-कम मन में यह सोच-सोचकर तो खुश होती ही, कि मैं इस वक्त जानेजहाँ हूँ। करोड़ों नौजवान (आम तौर पर पूँजीवादी देशों के निवासी) इस वक्त समाचार-पत्रों में छपी मेरी फ़ोटो देख-देखकर आहें भर रहे होंगे। लाखों नौजवान कुँवारे (आम तौर पर समाजवादी देशों के निवासी) मुझ चाँद को पाने के लिए अपने-अपने अरमानों को उसी तरह गुलाबी क़वायदें करा रहे होंगे जिस तरह हम अन्तरिक्ष यात्री और वैज्ञानिक धरती के चाँद को पाने के लिए कठोर शारीरिक और बौद्धिक क़वायदें किया करते हैं। हमें मानना ही होगा साथी, कि कुँवारे लड़के-लड़कियों में अपनी-अपनी रुचि और स्वभाव के मुताबिक़ एक-दूसरे के लिए प्यार और आकर्षण होना स्वाभाविक है। इस मामले में पूँजीवादी अमेरिका, त्रात्स्कीवादी चीन और लेनिन महान् की बोल्शेविक पार्टी द्वारा अनुशासित महान् सोवियत संघ---मतलब ये कि तमाम दुनिया के जवान एक हैं। शादी करने के लिए प्यार करना मार्क्सवाद-लेनिनवाद के सिद्धान्तों के एकदम अनुकूल है। हुल्लड़बाज चीनियों की भी मजाल नहीं कि इस मामले में हमें 'टीटोइस्ट' साबित कर सकें इसलिए मैं अपने मनोलोक में बेधड़क होकर तुम्हारी प्यारी-प्यारी अनजानी सूरत पर वारी जाती हूँ।

जानेमन, मैं इस समय 'सी-गल' बनी सूनेपन में उड़ानें भर रही हूँ। वोस्तोक–६ का स्टीयरिंग-ह्वील मेरे हाथों में है। सितारे मेरे बहुत निकट चमक रहे हैं। मैं अपनी धरती के जिस भाग के ऊपर इस समय उड़ रही हूँ उसमें रात है। मेरे सामने दो चाँद हैं--एक नीली रौशनी वाला, दूसरा पीला-पीला चाँद। नीली अपनी धरती है और पीला वह चाँद है जिसमें पूँजीवादियों के काले कारनामे कलंक बनकर झलक रहे हैं और जो कि चीनी बुद्धिवादियों की आस्था के समान ही कुबड़ा है। प्यारे! मैं एक वैज्ञानिक की तरह खोज की नीयत से उस पीले चाँद तक पहुँचने की इच्छा तो रखती हूँ लेकिन उस चाँद से तुम्हारी उपमा कदापि न दूँगी। चीनी त्रात्स्कीवादी कामरेडों के समान ही बौद्धिक रूप से 'एनेमिक' (खून की कमी वाला) यह चाँद किसी भी सच्चे कामरेड का आदर्श हरगिज़ नहीं हो सकता। खून की कमीवाले बीमार दिमाग़ के दम्भी ज़िद्दी और मूर्ख लोग ही खूनी क्रांति चाहते हैं। हम रूसी अनावश्यक रूप से

यह हरगिज़ नहीं चाहते। इसका सबसे ताज़ा प्रमाण तो मैं यहीं दे सकती हूँ कि अभी थोड़ी देर पहले ही पृथ्वी से अपना स्नेह-सन्देश भेजते हुए तवारिश यूरी गागारिन ने मेरे लिए यह शुभकामना प्रकट की थी कि मैं ढेर सारे बच्चों की माँ बनूँ। ऐ मेरे होनेवाले बच्चों के प्यारे बाप ! इसी कारण तो मैंने तुम्हें इस समय याद किया है। भला अपनी छाती पर हाथ रखकर यह तो कहो, तुम दिग्-काल-भ्रांत चीनी नेताओं की तरह बच्चों भरी दुनिया को तबाह करने की कल्पना तक कर सकते हो ? अगर हाँ, तो मैं बिना शादी किये ही तुम्हें तलाक़ देती हूँ।

लेकिन.... हाय-हाय, ये निगोड़ी 'बलियाबाला' की रूह मुझे तलाक़ देने से रोकती है, कहती है कि ब्याह से पहले अपने बलमूँ से छुड़ा-छुड़ौअल की बात मत करो। सूत न कपास और अभी से ही कोरियों में लट्ठमलट्ठ शुरू हो जाय यह ठीक नहीं। कहती है कि मुझे प्यार की चिट्ठी लिखने की तमीज़ नहीं, कहती है कि प्यार से मान तो किया जाता है पर अकड़ा नहीं जाता। आगे की चिट्ठी लिखने से पहले वह मुझे ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः जप लेने की सलाह दे रही है। तवारिश, मैं रूसी भाषा में ॐ का तो अनुवाद नहीं कर सकती क्योंकि वह भारतवासियों का ख़ास वैदिक शब्द है लेकिन शान्ति के माने 'मीर' हैं। यह शब्द तो बड़ा प्रगतिशील है और मैं बग़ैर किसी क़िस्म के अन्धविश्वास में फँसे ही तीन बार 'मीर-मीर-मीर' लिखती हूँ।

तुम अचरज कर रहे होगे कि इतनी ऊँचाई पर उड़ने वाले मेरे बन्द सुरक्षित वोस्तोक–६ में ये प्रेतात्मा अचानक कैसे घुस आई ? यह एक रहस्य की बात है। ....ठीक उसी समय जबकि बैकानूर के अन्तरिक्ष-अड्डे से मेरा रॉकेट छोड़ा गया था, इस औरत ने हिन्दुस्तान में अपना शरीर छोड़ा था। जब मैं अन्तरिक्ष में पहुँची तो उसकी रूह भी स्वर्ग जाने के रास्ते में उड़ते-उड़ते मेरे वोस्तोक–६ से टकराई। पहले-पहल तो यह रूह मुझे उस झरोखे के बाहर दिखलाई दी जो दुनिया देखने के लिए मेरे वास्ते बनाया गया है। झरोखे के शीशे पर एक चेहरा नक्श हो गया। बड़ी-बड़ी शरबती आँखें, पतली नुकीली नाक जिसमें सोने का एक छल्ला पड़ा था, पतले होठ, साँवली-सलोनी सूरत—मैं दंग रह गयी कि यह ज़नाना रेखाचित्र शीशे पर आख़िर कैसे बन गया, किसने बना दिया ! मैं और भी दंग हुई जब कि वह रेखाचित्र मेरी आँखों में आँखें डालकर मुस्कुराने लगा, फिर एकाएक उसकी आवाज़ भी मेरे कानों में पड़ने लगी। उसकी भाषा यद्यपि मेरे लिए एकदम अपरिचित थी फिर भी न जाने कैसे हम एक-दूसरे की बातें समझ रहे थे। वह बोली :"बहिनी, अन्दर आय जाऊँ ?" मैंने कहा : "वैदीते, पज़ाल्स्ता।"

ऐ मेरे तान्या-वान्या-फ़िदेया-ऊल्या-माया आदि-आदि दसियों बच्चों के होने वाले बाप ! तुम्हें यह सुनकर हैरत होगी कि वह प्रेतात्मा जाने किस तरक़ीब

से मेरे केबिन के अन्दर आ गयी। उससे भी अजीब बात ये थी कि अन्तरिक्ष की भारहीनता का उस पर कोई असर नहीं हो रहा था। मेरी उसकी बातें बग़ैर किसी दुभाषिये की मदद के फराफर्र होने लगीं।

बलियाबाला, दहेज़ की समस्या से पीड़ित, आत्महत्या करके मरी है। छब्बीस बरसों तक अरमान दबाये बैठी रही। भारत में आबरूदारी की बुर्जुआ समझ के कारण बहुत-से लोग अपनी लड़कियों - औरतों को बाहरी दुनिया में काम करने का अवसर अब भी नहीं देते। अपना प्रेमी-पति आप पसन्द करना इनके यहाँ बेहद-बेहद बुरा माना जाता है। शादी माँ-बाप को करनी चाहिए, वर और उसके माँ-बाप को कन्या के साथ हज़ारों रुपया देकर उनके पैर पूजने चाहियें। बेचारी भोली-भाली, सुघड़, सुन्दर, सलोनी बलियाबाला के ग़रीब माँ-बाप दहेज़ न दे सकने के कारण अपनी बेटी को कहीं ब्याह न सके। आबरू के डर से ही बेचारी को स्कूल में पढ़ने न दिया गया। उसे विकास का कोई मौक़ा ही न दिया गया। दुखी माँ-बाप के तीखे-तीखे तानों से घुटकर, उनकी चिन्ताओं से तप-तपकर कल सुबह उसने रसोईघर में अपने शरीर पर मिट्टी के तेल की बोतल छिड़ककर आग लगा ली। अब इस समय वह प्रेतात्मा है मगर इस हालत में भी मेरी संगति के प्रभाव से वह प्रगतिशील बन रही है। थोड़ी देर पहले मुझसे कह रही थी कि गाय की पूँछ पकड़कर वैतरणी पार करने के बजाय राकेट में लटककर पार करना

श्री भँवरमल सिंघी के नाम लिखा श्री जैनेन्द्रकुमार का एक विशिष्ट अप्रकाशित पत्र :

७ दरियागंज,
दिल्ली
२१-४-३७

भाई सिंघी जी,

पत्र मिला। नहीं भाई, श्रद्धा मैं न लूँगा। मैं नहीं ले सकता। मुझे नज़दीक से और भीतर से देखोगे तो जानोगे मैं श्रद्धेय तो क्या, उल्टे दयनीय हूँ। भीतर बहुत अपवित्रता है, बहुत मैल है। यह तो मेरी अपनी बात। यों भी श्रद्धा का पात्र वह एक है जो निराकार है, जहाँ सब द्वंद सब 'अपोजिट्स' पूर्णता पाकर शांत हो गए हैं। श्रद्धा वहीं की अगम अडिग रहेगी। बाक़ी तो भ्रांति हैं, पत्थर की भी हो सकती है। पत्थर को पूज्य मानने की भूल भूल है। लेकिन वह भूल तो इसलिए की भी जा सकती है कि पत्थर बिचारा इतना जड़ है कि श्रद्धावान की श्रद्धा को बिलकुल नहीं छूता। पर व्यक्ति को मूर्ति मानने लगना अनिष्टकारक है। श्रद्धा तो श्रद्धावान के लिए सदैव ही लाभकारी है, पर बिचारे मूर्ति बने मानव के प्रति क्षमाभाव भी रखना चाहिये। उसके लिए यह बात अत्यन्त दारुण बन जा सकती है। और कहीं उसके अहंकार को छू गई तो, ओह, यह एकदम विनाशकारी ही होगी।

अधिक आसान है। वैतरणी इनके धर्म की कोई ख़ास नदी है जिसे सदियों से ये लोग गाय की पूँछ पकड़कर पार करते आये हैं। उसकी समझदारी देखकर सोचती हूँ कि यदि यह जीवित रहती और अवसर पाती तो मेरी ही तरह कुशलता से अन्तरिक्ष-यान भी चला सकती थी। ख़ैर।

इसी बलियाबाला ने तुम्हारे नाम लिखी गयी मेरी इस चिट्ठी को एकदम नापास करते हुए मेरी ख़ातिर एक प्रेम-पाती का ड्राफ्ट तैयार किया है। उसका पत्र हिन्दी भाषा में है, तुम मास्को या लेनिनग्राद में किसी हिन्दी के विद्वान् से पढ़वा लेना।

सदा तुम्हारी ही

—वाल्या

संलग्न : वाल्या की ओर से लिखी गयी बलियाबाला की प्रेम-पाती

प्राणनाथ, सुख की खान, सकलगुणनिधान, प्यारे रसिया बिहारी को दासी का राम-राम पहुँचे। आगे अपना हाल क्या लिखूँ—

कर काँपत पतियाँ लिखत जल भरि आवत नैन।
कोरो कागद हाथ दे, मुखसों कहियो बैन॥
कि
कागद भींजत नैन जल, कर काँपत मसि लेत।
पापी बिरहा मन बसा, बिथा लिखन नहिं देत॥

प्राणप्यारे, अब हमारी उमिर का छब्बीसवाँ साल बीत रहा है, नाते-गोते, पास-पड़ोस वाली सब सखी-सहेलियाँ मेरे सामने 'छोटी से बड़ी हुइबै मन धीरज धरौ' गाते-गाते अब

*————————————————

भाई सिंघीजी, श्रद्धा की बात को आपसों से एकदम सदा के लिए निकाल बाहर कर दीजे। आदमी का मन मन है। और जीवन अनन्त है। जाने क्या-क्या उलट-फेर होते हैं और होंगे। यहाँ आदमी का क्या भरोसा। भरोसा उसका ही पकड़ें जो सदा है और सदा रहेगा और जो कभी सोता नहीं, सदा जाग्रत है।

लेख जिसको मैंने देखना चाहा था मेरा 'निरा अबुद्धिवाद' नहीं। उसकी तो मुझे याद है और वह मेरे पास है भी। उसको पढ़कर जो आपने अपना एक लेख लिख डालने का जिक्र किया था, छपा हो तो उसी को देखना मैं चाहता था।

आपका सम्प्रार्थी—जैनेन्द्र

पुनः

पं० सुखलालजी का पता क्या होगा? कब जा रहे हैं और कब तक के लिए?

जैनेन्द्र

*————————————————

अपाने अपाने पिया की प्यारी सुहागिनें बनके दो-दो चार-चार बच्चों की महतारी हो गयीं और मुझ मुँहजली को अभी तक तुम्हारे दरस-परस भी नसीब नहीं भये। ना जानूँ कि मेरा सजन काला है कि गोरा। हाय सैयाँजी, तुम्हें देखे बिन मुझे कल कैसे पड़ेगी। मेरा वैसा ही हाल है जैसा कि सायर ने लिखा है--

दिलदार दिल तेरे बिना तड़पै मेरा बेताब है।
गुल के रहते इस चमन में बुलबुल तेरा बेताब है।
जाँ जिगर कालिब कलब की नातवानी होयगी।
जब तक न आओगे सनम प्यारी तुम्हारी रोयगी॥

आगे तुम्हें अखबारों, फोटुओं, रेडियो-बाइस्कोप से ये खबर तो मिल ही गई होगी कि मैं अब मिल की मजूरी से तरक्की करके राकिट वाले हवाई जहाज की ड्रेवरी करने लगी हूँ और इस समय तुम्हारी दुनिया छोड़के ऊँचे आसमान में चली आई हूँ। ऐ मेरे जिगर के छल्ले, तनिक हमारी वफादारी तो देखो कि 'गली तुमने कही थी हम तो दुनियाँ छोड़ आये हैं।' क्या तुम मुझ गरीबनी पे अब भी न पसीजोगे? हमसे एक बार भी न मिलोगे? अब तो हमारी तरक्की हो गयी है, हम बड़ी आदमिन हो गयी हैं और फिर भी तुम्हारे बिना हमें कुछ नहीं सुहाता--

भौंरा व्याकुल मद बिना कोकिल बिना बसन्त।
हम व्याकुल तुम्हरे बिना जानत श्रीभगवन्त॥

प्राणप्यारे, हमारा राकिट चन्द्रलोक में उड़ा जा रहा है। और हमारे नीचे धरती में आधी रात है और हमने अपानी पहलेवाली पाती में पीले चाँद को लेके जो तुम्हें पूँजीबादी, बुद्धिबादी जाने क्या-क्या लिखा था सो तुम उसका बुरा न मानना। कमनिस्टों की संगत में हम कानून बहुत छाँटने लगी हैं पर तुम उसका खियाल अपाने मन में हरगिज न लाना। तुम्हें मेरे सिर की कसम है, मेरे मरे पे रोओ जो अब बुरा मानो। सच्ची बात तो ये है कि तुम चाहे बुद्धिबादी हो चाहे इलाहाबादी या मुरादाबादी, मुझे तुमसे सच्चा प्यार है। तुम भी जो हमसे प्यार करोगे तो रामजी हमें तुम्हें बच्चे देंगे। जितना हमसे प्यार करोगे उतने बच्चे देंगे। बस कमाई का इन्तजाम रखना। चाहो तो हम तुम्हारी सुफारस बड़े कामरेड साहेब से करदें। तुम भी मेरे साथ ही साथ राकिट की ड्रेवरी सीख लेना। फिर हम तुम दोनों ढोलक बजाते गाते आस्मान की सैर किया करेंगे--

मैं गोरी पिया साँवला रे, दरपन में देखेंगे दोनों जने--दरपन में।
मैं मोटी पिया पातला रे, राकिट में उड़ेंगे दोनों जने--राकिट में॥

[शेष पृष्ठ ३८ पर]

पाती लिखवायी निज पिय को गाँव की एक नव-विवाहिता अनपढ़ बहू ने अपनी सखी से बोलकर, और वह छपने को भेजी गयी 'ज्ञानोदय' के पत्र-विशेषांक में डॉ० लाल द्वारा।

॥ पार्वती जी सदा सहाय ॥

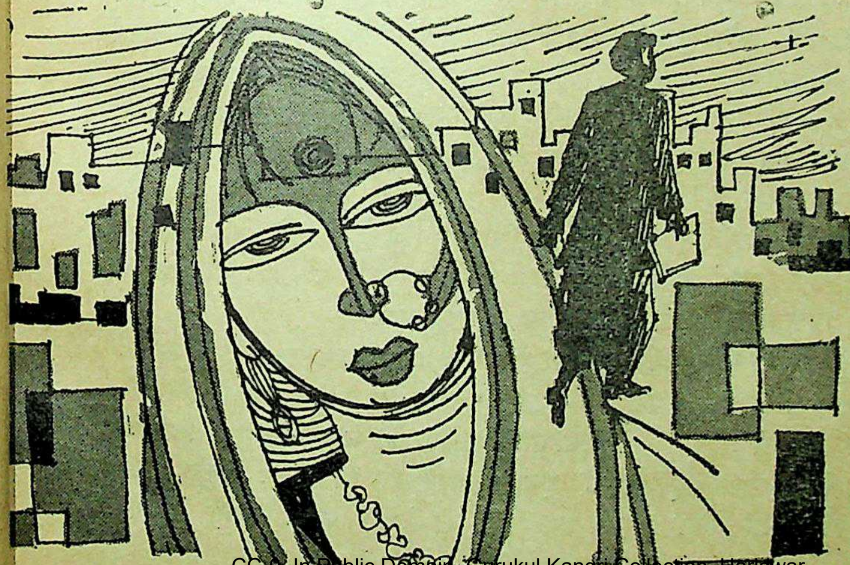
अन्दर मकान
गाँव रानोपाली
डाकखाना, सेमरी
जिला फैजाबाद
तिथि : सावन द्वादसी
बिरहा की रात।

प्रान सोहाग,

जब से आप यहाँ से गये हैं, हमका नींद नहीं आती। अब ई पाती आपके पास क्या लिखवायी, हमें तो राउर की याद से ही रुलाई आती है। **कागज भीजत नैन जल, कर काँपत मसि लेत, पापी बिरहा मन बसो, बिथा लिखन नहिं देत।** इहै समझीं, कि बिरहा की रात में जब बिजुरी चमकती है,

पतियाँ ताहि पठाइये, जो साजन परदेश

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल



तो लगता है कि हम बेहोश ह्वै जाब ! और जब पानी बरसने लगता है तब तो जियरै उड़ जात है। सोचती हूँ हाय, वहाँ प्रयागराज में कहीं मोर राजा भींग न रहे हों। सच, **सूआ बन तुम उड़ि गये खाली पड़ा मकान, दिन दिन तो हम काट दें, बैरन मेरी रात।** पता नहीं, वहाँ परदेश में आपके खाने-पीने और रहने का क्या इंतजाम है। मैं दिन-रात आप ही के विषय में सोचती रहती हूँ। आपकी एक एक बात मुझे हरदम याद आती रहती है। **प्रीतम तुम मत जानिये भयो दूर को बास, देह गेह कितहूँ रहै, प्राण तिहारे पास।** हाथ-पैर म मेंहदी रचती हूँ तो उसका रंग देखकर लगता है, मैं पागल हो जाऊँगी। घर के उत्तर ओर जो गड़हा है न, वह पानी से भर गया है और उसके चारों जो बसँवारी है उसमें न जाने कितने महोख और बनपाँखी आ बसे हैं। बहुत बोलते हैं वे रात भर। मैं जब यह पाती आपको लिखा रही हूँ--इस समय भी बँसवारी में वही महोख का जोड़ा बोल रहा है। कुर्मी टोला में औरतें झूला झूलती हुई कजरी गा रही हैं--**रतियाँ पड़ी सवन की झीसी, सैयाँ संग खेलों पचीसी ना !** ठाकुर के दुवारे पर पीपल के पेड़ में भी एक झूला पड़ा है। वहाँ आदमी लोग अलाप मारकर गा रहे हैं--**गगरी पै कगवा, अरे बोलन लागे।······कजरी बना में, बोले मयुरवा······SSS······।** पर चमरटोलिया में कलपू की औरत बेचारी दो रात से रो रही है। कलपू का दो बीघा खेत पहले के जमीदार ने उससे धोखा करके इस्तीफा करा लिया है। गाँव में चकबन्दी चल रही है न इस समय। जमीदार--ठाकुर बाबा के ही तो दरवाजे पर चकबन्दी के हाकिम टिके हुए हैं ! सो हुआ यह कि ठाकुर ने जाने किसके हाथ अपना बैल बेंचा। कलपू उन्हीं के यहाँ पिछले पन्द्रह वर्षों से हलवाहा है। सो ठाकुर ने कलपू से कहा कि चल जरा रवन्ना के कागज पर गवाही का अंगूठा लगा दे। मेरी ही तरह वह भी बेचारा अनपढ़---उसने कागज पर अंगूठा लगा दिया। अब चकबन्दी का कागज मिला तो उसमें उसका दो बीघा खेत ही गायब। हाय, सब कजरी गा रहे हैं, बेचारी कलपू की औरत बिलाप कर रही है !

अब सोचती हूँ, यह विद्या भी कितनी जरूरी चीज है। पड़ोस की धरकारिन बुआ कितना अच्छा गाती हैं इसी बात पर। वही पूर्वी कहँरवा : **पेट काटि कै रहिबै, पिया पढ़ाई करबै ना, पिया पढ़ाई करबै ना !**

हाय मैं भी कैसी पागल हो गयी हूँ, अपनी पाती में क्या-क्या लिखने लगी ! क्या करूँ मैं अपने मन को ! लगता है, मैं राउर से बात करती रहती हूँ। यह पाती कैसी ? अरे--**पतियाँ ताहि पठाइये जो साजन परदेश, निसिदिन हियरे में बसै, ताको कहाँ सँदेश ?** हाय, कैसी किस्मत थी मेरी ! कुल पन्द्रह दिन का ही तो साथ था ! अब मैं रो-रोकर पछता रही हूँ न !

उन पन्द्रह दिनों में भी क्या मैं पाँच दिनों तक आपसे इस तरह लजाती रही ! बैरी मोर लाज ! आपसे मन की कोई एक बात भी न कर पायी। चीठी-पाती में कैसे कहाँ तक मन की बात कहूँ। ई मन तो भरा समुन्दर है न ! आगे लाज लागे !

गाँव में मेरे संग की दुल्हन बहुएँ मुझसे पूछती हैं कि हाय, तुमने इस तरह अपने गोइयाँ को परदेश क्यों जाने दिया ? आँचल में बाँध क्यों नहीं लिया ? नैन के झूले में झुला रखती !.... मैं भी अब हाथ मल-मलकर सोचती हूँ— **मैं न लड़ी मोर पियवा चले गये !**

तुम्हीं बोलो ! मुझे आकर समझाओ न ! मैं तो सच, अब चारों ओर से यहाँ अकेली लड़ रही हूँ—तन से, मन से, सब से ! बस, केवल तुम्हारी आस से— **मन माला तुव नाम की, जपत रहै दिन-रैन, नयन पियासे दरस के, नेक न पावैं चैन !**

मुझसे बिछुड़ते समय राउर ने कहा था, रोओ नहीं, धीरज रखो, मैं दसहरे की छुट्टी में जरूर आऊँगा। कुल तीन ही महीने की तो बात है। सच है, तीन महीने में कितने दिन, कितनी घड़ी होती हैं, राउर को क्या पता ! आपके सामने तो वहाँ किताब होगी, वहाँ की सुन्दर दुनियाँ होगी। पर हमरे लिए तो वही आपकी मोहिनी मूरत और आँसू ! **मन चाहत है मिलन को, मुख देखन को नैन, श्रवण जु चाहत हैं सुन्यो, पिय प्यारे कै बैन।**

भगवान भगौती माई आपको वहाँ सुखी रखे ! और आप की तन्दुरुस्ती कायम रहै। एक विनती सुनो ! राउर कैं हमरे माथे कै कसम, आप वहाँ खाय पियै में जरा भी तकलीफ न उठाइयेगा ! नहीं तो यहाँ हम आपन प्राण तजि देब । वहाँ यदि राउर को जरा भी किसी बात की तकलीफ हुई तो यहाँ हमरे जीवन को धिक्कार ! राउर कैं रुपया पैसा कै जब भी जितना जरूरत पड़ै, हमार सारा गहना गुरिया आपके चरन कै धूल ! इस बात को राउर सदा याद रखीं। आपसे बढ़कर इस दुनिया में हमरे लिए और कोई चीज नहीं है। बस, यही पार्वतीजी से प्रार्थना है कि **जल में कूदे माछली, गदला पानी होय; तुम परदेसी बालमा, मिलना कैसे होय !**

यहाँ अभी गोविन्दपुर वाली बीबी के मर्द आये थे। मुझसे बहुत बढ़-बढ़के मजाक कर रहे थे। राम कसम, मैंने उन्हें हर मजाक में हरा दिया। अन्त में खिसियाय के उन्होंने मुझे एक वाण मारा—जिसके लिए मैं सचमुच चिंता में पड़ गयी हूँ। पहुना ने बताया कि वहाँ युनिवरसिटी में एक-से-एक लड़कियाँ पढ़ती हैं। वहाँ राउर को मेरी क्या याद आयेगी ! क्या यह सही है ? राउर सच-सच बताइये। आपको मेरी आँख की कसम—क्या यह सही है ? मुझे अपने पत्र में सबसे पहले मेरे इसी सवाल का जबाब दीजिये। सच, पहुना

न जब से यह बात कही है—तब से मेरा कलेजा दहक रहा है। मेरे लिए तो इस जग में, बस इतना ही जानिये कि,

रवि को कमलिनी बहुत है, कमलिनी को रवि नाय, हम सी तुमको बहुत हैं, तुमसी हमरे नाय।

श्री सीताराम सेकसरिया को लिखा डॉ० राजेन्द्रप्रसाद का एक महत्वपूर्ण अप्रकाशित पत्र :

जीरादेई
१३–१२–३८

प्रिय श्री सीतारामजी,

मेरे पास प्रयाग के श्री भगवतीचरण वर्मा जी आये थे। उनकी इच्छा है कि एक प्रेस और प्रकाशन संस्था कायम की जाय जिसके द्वारा हिंदी लेखकों और साहित्यिकों की रचनाएँ और कृतियाँ प्रकाशित की जायँ और उनको भी कुछ माकूल पारिश्रमिक मिले। इसके लिए वह एक कम्पनी कायम करना चाहते हैं जिसके उद्देश्यों में एक यह है कि साहित्यिकों को प्रोत्साहन देने के लिए मुनाफे का कुछ अंश लगाया जाये। आपने उसका डाइरेक्टर बनना मंजूर कर लिया है। वह मुझे भी बहुत कह रहे थे कि मैं भी डाइरेक्टर बनूँ। मैं किसी उपार्जन करनेवाली संस्था का डाइरेक्टर होना नहीं चाहता हूँ और बहुतेरे मित्रों

और क्या हाल-चाल लिखूँ, इस वक्त गाँव में चकबन्दी बहुत धूम से चल रही है। बड़कू दादा तो जैसे दिन-रात उसी ठाकुर के दुआरे पर बैठे रहते हैं। जीजी बहुत परेशान होती हैं, और पर्दा करके किसी तरह जब खुद दादाजी को बुलाने जाती हैं, तब वह कहीं घर लौट पाते हैं। मैं तो बस अभी घूँघट मारे बैठी रहती हूँ। जीजी जी मुझे अभी कुछ खाना-पानी भी नहीं बनाने देतीं। कहती हैं कि दुल्हन-बहुरिया को अभी चौका-गृहस्थी से क्या संबंध? कितनी अच्छी हैं मेरी जीजी! कहती हैं कि कहीं दुलहिन की मेहदी न मैली हो जाय!

चकबन्दी में इस समय चक काटा जा रहा है। हाकिम यहाँ बड़ा घूसखोर है। जो जितना ही घूस देता है, उसको उतना ही अच्छा चक काटकर देता है। हमरे दादाजी ने भी जीजी का एक गहना बेंचकर उसे पचहत्तर रुपये नजर किये हैं। बीच गाँव में चमरटोलिया वालों ने कठघोड़वा की नाच की है। उसमें उसवांगी ने बड़ा मजा दिखाया। मैं तो अपनी खिड़की से नाच देख रही थी। पहले तो खूब हँसी आयी, पर जब उसने चकबन्दी के हाकिम की नकल की तो सब सन्न हो गये। तवलदार बना था जमींदार, नचनियाँ बनी थी किसान की औरत, और उसवांगी बना था चकबन्दी का हाकिम। किसान की औरत बोली—दुहाई सरकार की, साहेब ई चार बीघा खेत हम बरसों से जोतते-बोते आ रहे हैं, मुला कागज में हमार नाम नाहीं। नाम है उसी जमीदार का। तवलदार ने कहा—चुप रह बेईमान कहीं की, झूठी नहीं तो। तब भइया उसवांगी बोला—पहले तो अभुआने लगा तब चिल्लाया—मैं भूत हूँ भूत! ला पहले चढ़ा परसाद—सवा सौ रुपये नकद, सवा दो सेर घी, सवा तीन मन गेहूँ, सवा दो मन तुलसीराम चावल, सवा मन अरहर की दाल। तब ले मुझसे कागज में

को मैंने इनकार भी कर दिया है। मैं अभी दो कम्पनियों का डारेइक्टर हूँ—एक तो वह कम्पनी जो "सर्चलाईट" चलाती है जिसमें मुनाफे का कोई प्रश्न नहीं है और दूसरी जो "नवशक्ति" चलाती है जो वैसी ही है। तीसरी कम्पनी छपरे की एलैक्ट्रिक कम्पनी है जिसको मेरे भाई साहब ने कायम किया था और जिसके हमारे ही लोग मैनेजिंग एजेंट हैं। वह अपने घर की चीज पहले से रही है और मैं उससे अलग नहीं हो सका। ऐसी अवस्था में आपकी राय जानना चाहता हूँ कि आप मुझे क्या सलाह देते हैं। क्या मैं इस कम्पनी का डाइरेक्टर बनूँ? अगर बनूँगा तो भी आपको ही देखना-सुनना होगा; मैं केवल नाममात्र के लिए ही तो रहूँगा और आप पर ही भरोसा करके बनूँगा।

मेरा स्वास्थ्य इधर कुछ सुधर रहा है पर अभी कमजोरी है। यहीं घर पर हूँ। और सब आनन्द है।

आपका
राजेन्द्र प्रसाद

अपना नाम। चकबन्दी का अफसर दौड़ा हुआ आया। लगा बेंत से मारने उसवांगी को। अरे, मारते-मारते उसे बेहोश कर दिया। हाय राम, कहीं गाँव में उस समय राउर होते, तो अँगरेजी में बोलकर उस अफसर को मारने से तो रोक लेते।

तभी तो और मुझे आपकी याद आती है। हाय, विद्या का कितना तेज है! अब मेरी आँख खुली है। नैहर में तो खेलने-गाने के आगे और कुछ सूझा ही नहीं। राउर छुट्टी में यहाँ आयेंगे, तो मैं आपसे पढ़ना शुरू करूँगी। फिर अँगरेजी में आपको प्रेमपत्र लिखा करूँगी, ताकि यहाँ कोई पढ़ भी न पाये।

मेरे प्रीतम, पाती बड़ी होती जा रही है, पर मेरे मन की प्यास उतनी ही बढ़ती जा रही है। आप ही बताइये क्या करूँ! **जी चाहत है मिलन को, पर बिन मिला न जाय, कहा करूँ करतार ने, पर ना दिये लगाय।**

सच, यह पाती लिखते-लिखते मेरा सारा शरीर काँपने लगा है। आँचल तो जैसे बाँध नहीं बँधता, बड़ा लाज लगता है। ऐसा लगता है कभी-कभी कि राउर मेरे पीछे खड़े हैं और मेरे नैन घूँघट में नहीं समा पा रहे हैं। तब मैं घूँघुट उठाकर देखती हूँ तो बस घायल हिरनी की तरह पागल हो जाती हूँ।

पिया बिनती सुनो। पाती पाते ही मुझे अपना पत्र दीजियेगा। पाती में मुझसे जो भूल-चूक हुई हो उसे क्षमा कीजियेगा नाथ! मेरी यह प्राणसखी जिसके हाथ से मैं यह पाती आपके पास भेज रही हूँ राउर को नमस्ते कह रही है और आपसे एक सवाल पूछ रही है:

झुरझुर झुरझुर नदी बहत है झुरझुर बहै बयार।
हम तुमसे पूछी ये सखा तोहरे जुल्फी के कौन सिंगार?

इसका जवाब दोहे में ही दीजियेगा, नहीं तो आपकी हारी, हाँ ! हाथ जोड़ रही हूँ आपसे, मेरी सारी गल्तियों को आप क्षमा कीजियेगा। और आपके पइयाँ पड़ रही हूँ कि मेरी पाती वहाँ किसी और को न दिखाइयेगा। लाज लागे हाँ।

हे शंकर-पार्वती, खूब राजी खुशी से हमार यह पाती मेरे उस राजा के ही हाथ में पड़े। बीच में इसे न और कोई खोल ही सके और न पढ़ ही सके और न कहीं यह गायब हो। मैं इसके लिए आपका व्रत रखूँगी। अंत में,

कर कमलन पाती लिखी प्यारी चतुर सुजान।
इक-इक अक्षर पै पिया वारौं तन मन प्रान॥

हे नाथ, प्राणेश्वर, आपकी वही बिछुड़ी हुई
दुखी मैं —चन्देरी

● ●

[पृष्ठ ३२ का शेष : वाल्या की पाती]

आगे क्या लिखूँ। थोड़ा लिखना बहुत मानना और हमारी प्रेमपाती का जवाब जरूर-जरूर देना, क्योंकि—

तलफौं अति व्याकुल पड़ी, बिरह लिया तन लूट।
का करिहौ फिर आयके, जब तन जैहै छूट॥

कागा सब तन खाइयो चुन-चुन खइयो माँस।
दोउ नैना मत खाइयो पिया मिलन की आस॥

तुम्हारी प्राणप्यारी
....

पोस्टस्क्रिप्ट

तवारिश, बलियावाला का ड्राफ्ट पढ़कर तुम्हारा बड़ा मनोरंजन होगा...लेकिन यहाँ मैं तो तुम्हारी कल्पना में फँसकर ड्यूटी से 'डीवियेट' कर गई। नीचे कमाण्ड पोस्ट से सन्देश पर सन्देश आये पर तुम्हारी धुन में मैं कुछ सुन ही न पाई। धरती वाले समझे कि मैं बिना प्रोग्राम के सो गयी या कहीं खो गयी। उन्होंने तवारिश 'हॉक' से कहा कि वोस्तोक-५ से वोस्तोक—६ को सन्देश भेजकर 'सी-गल' यानी मेरा हाल पूछो। हॉक का सन्देसा पाकर मैं लाज के मारे गड़ गयी, क्या कहती, यही कहा कि सो गयी थी। हाँ सच, सो ही गई थी। मैंने शायद सपने में ही तुम्हें यह पत्र लिखा है और सपने ही में बलियावाला की रूह से भेंट भी की है। ख़ैर, मेरा सपना सच्चा हो, साथी गागारिन की दुआ कारगर हो। हम तुम जल्द मिलें और हमारे बहुत सारे बच्चे हों। हरा-भरा प्यार और लाल सलाम।

तुम्हारी
वाल्या

●

प्रतिनिधि-चिट्ठियाँ=जनता प्रतिनिधि द्वारा लिखी —अपने प्रतिनिधियों के ! पत्र की भाषा के लिए क, सम्पादक और पाठक— जिम्मेदार नहीं। राजभाषा व्यवहार, जिसे जैसे जी में , कर सकता है—छोटनबाबू राय है! फिर भी, यथा-य संपादन कर दिया है। —लेखक]



तुतकर्त्ता :

णीश्वरनाथ रेणु

पाँच प्रतिनिधि - चिट्ठियाँ

शहर अजीमाबाद
१२.६.६२.

प्रिय मनरखन,

यहाँ का हवा-पानी का खबर अखबार से जितना-सा मिला होगा उससे ज्यादा गरम है, असल में। लीडर के चुनाव के समय तो तुम 'देखिये' गये हो। हाँ, उस बार जितना 'कार्यकर्ता'[1] तुम्हारे साथ आया था—उसका बिल 'लाल बाबू'[2] ने पास कर दिया है। सो, इधर का हवा-पानी का रुख ऐसा ही रहा, तो समझो कि डिपटी-मिनिस्टरी नहीं तो पार्लियामेंटरी-सिकरेटरी की जगह धरी हुई है। इसी सबब से तुमको यह लम्बा चिट्ठी लिखा है। इधर दो-तीन सब-कमेटी का लगातार बैठक है फिर इसके बाद से ही 'सेसन' शुरू हो जायगा।

१. कार्यकर्त्ता=यहाँ लठैत के अर्थ में प्रयुक्त।
२. बड़ी कुर्सी के उम्मीदवार और हक़दार किसी मिनिस्टर का पुकार-नाम=लालबाबू।

सो दो-तीन महीना हम 'छेत्र'[1] में नहीं आ सकेंगे। और अब 'छेत्र' तो तुम्हारा है। तुम्हारे भरोसे ही मैं खड़ा हुआ और तुम्हारे बल से जीता भी। हमको अफसोस है कि तुम्हारे लायक कोई 'पाटी'[2] अभी तक नहीं ठीक कर सके। मगर, तुम घबराना मत। अच्छा अब पहले जरूरी काम के बारे में नोट कर लो :—

(क) यह तो जाहिर ही हो चुका है कि रामपुर और मदारगंज के लोगों ने एकजुट होकर हम लोगों का विरोध किया—इसलिए ऐसे विरोधी - गाँवों के 'अगुआ' लोगों का एक 'लिस्ट' तैयार कर लो। रामपुर और मदारगंज गाँव में पुश्तैनी - दुश्मनी चली आ रही थी। इधर, पिछले कई साल से 'एच'[3] और 'एम'[4] में खूब हेल-मेल हो गया है। और यह हुआ है हम लोगों के सभापति जी के चलते। तो, रामपुर और मदारगंज गाँव में फिर से 'खटपटी' लगा देना तो आसान है। बहरी-चमाइन को 'ठीक'[5] करके रामपुर-ठाकुरबाड़ी के सामने और स्कूल के कूप में 'बीफ' फेंकवा दो। इसके बाद मदारगंज के 'एम' लोगों के 'अगुआ' नौजवानों को थानेदार गिरफ्तार करके—'पीटपाट' करके कबूल करवाये—दो-तीन धनी 'एम' का नाम लिखवाये! और यदि तुम रामपुर के 'मैजरोटी-कास्ट' गोप लोगों में से किसी एक-दो को भड़काने में समर्थ और सफल हो जाओ तो फिर क्या कहना! पुलिस के आने के पहले 'रैट'[6] हो जाय तब रामपुर के विरोधी लोग भी गिरफ्तार होंगे। इसके बाद, मैं तो 'छेत्र' में पहुँच ही जाऊँगा। लेकिन, तुम तीन-चार 'नाम' से मुझे तार दिलवाना—इसके साथ सभी अफसरों और चीफ मिनिस्टर के नाम भी टेलीग्राम दिलवाना!

इस बीच एजुकेशन बोर्ड का बैठक होनेवाला है शायद। तुमको उसका मेम्बर 'कोप्ट'

अपनी पत्नी श्रीमती कमला सांकृत्यायन को लिखा श्री राहुल सांकृत्यायन का एक नितान्त व्यक्तिगत अप्रकाशित पत्र :

बौद्ध विहार,
समीप बिड़ला मंदिर
नई दिल्ली १९-११-५०

म्हारी राणी,

साहा कू जबी देक्खा, जब हम मोट्टर से नीच्चे आ रये ते। भौत संतोख हुआ। कल पेल्ली बैठक हुई ती। असा करूँ ऊँ, के कल संझा कू ह्याँ से अम्मरसैर जाऊँ। कल हाट बाजार नी गये। आज बाजार बन्द रवे। इस करके कल चीज्जें खरीद दूँगा। आज की बैठक से मालूम होग्गा, अक कल चल सकूँ या नी चल सकूँ। जो कल

---

१. छेत्र=क्षेत्र, कंस्टिच्युएंसी (धर्मक्षेत्रे, कुरुक्षेत्रे...)।
२. पाटी=पैसे देनेवाला कोई व्यक्ति या फ़र्म।
३. एच=हिन्दू।
४ एम=मुसलमान।
५. ठीक करना=ले-देकर तैयार करना।
६. रैट=दंगा।

करवा दिया है। इस बैठक के पहले एक लिस्ट ऐसा तैयार करो जिसमें विरोध करनेवालों के लड़के, उनके सगे-संबंधियों के लड़के, जो भी हों और जहाँ भी पढ़ते हों--उनके नाम मय पता-ठिकाना के लिखा रहे। यदि सरकारी 'मदद'--किसी भी किस्म का--मिलता हो, तो उसको 'नोट' करो। और--उन सभी का 'मदद' जल्दी ही कैंसिल करवाना तुम्हारा मुख्य कर्तव्य है।

तुम तो जानते ही हो कि सभापतिजी कैसा चाल चल रहे हैं। इस बार जिला-कमिटी की बैठक में तुम किसी भी 'औफिसियल-प्रस्ताव' पर 'न्यूटरल' रहना और थोड़ा अलगाव का भाव दिखलाना। यदि भगवान ने चाहा और यहाँ 'लालबाबू' की गोटी लाल हुई तो तुम्हारे लिए 'डिस्टिक्ट-सिकरेटरी' की जगह धरी हुई है!

हाँ, एक बात--सबसे पहले नोट कर लो--मैं भूला जा रहा था। रामदत्त-रामलगन वाला मामला में कुछ गड़बड़ी न हो--इसलिए एक दिन रामदत्त का नाड़ी जाकर 'टीप' आना जरा। यदि रामदत्त ने मेरे साथ चार सौ बीस किया तो कह देना कि छोटन बाबू सौ चार सौ बीस के एक चार सौ बीस हैं। मिनिस्टर को पाटी दिया उसका खर्चा हम लोगों के हिसाब में जोड़ता है तो जोड़ने दो। रामदत्त से कह देना कि 'बिजनेस इज बिजनेस'--दोस्ती अपनी जगह। हम यहाँ आये हैं जनता का प्रतिनिधि होकर -- रामदत्त - रामलगन के इनकमटैक्स के मुकदमों की पैरवी करने के लिए नहीं! यह बात उससे तुम साफ - साफ कह देना।....महा-सभापति का दौरा होने वाला है, 'बाढ़ पीड़ित फंड' के बकाया हिसाब का भुगतान तुम इसी बार कर लेना--चालाकी से। 'वौचर' सभी तुम्हारे जिम्मे लगाकर आया हूँ।

नरकटिया के 'पाटी' के तरफ़ से कोई आवे तो पहले 'फंड'[1] में जमा

नी चला तो परसों तो जरूर चलूँगा। स्वामी जी कू बी चिट्ठी ऐसी ई लिक्खूँ ऊँ।

म्हारी राणी खूब पढ़ रई होग्गी, यो म्हारेकू पूरा भरोस्सा है। देहरादून में पलशवाले ने कया, अक हम कल ई समान भेज्जे ते। इब तो भेज दिया होग्गा। १७ की रात की गाड्डी से हम दिल्ली चले। अच्छा आराम रया। हयाँ भी अच्छी तराँ पौंच गये।

जो कल रात कू चल पड़े तो २२ तारीख कूँ थारे धोरे पौंच जांगे। चार दिण रैके, फेर बंबई जाणा होग्गा। महादेव जीक्की रजाई अर होर चीज डागडर सुनीत चटरजी म्हारे धोरे छोड़ गये हैं। हम लेत्ते आ रहे हैं, हवाँ नई रजाई नी बणवानी। होर सब कुसल मंगल है।

थारा,
राहुल

---

१. फंड=उत्कोच का दूसरा नाम।

करवा लेना।

सुना है अगले महीने मार्टिनगंज में 'साहित-सम्मेलन' की तैयारी के लिए कोई बैठक होने वाला है। उस बैठक में जहाँ तक हो सके, बहुमत अपना हो। देहात से अपने 'कार्यकर्त्ता' को बुला लेना। रामगुलाम और नकछेदीलाल-टाइप के दो-चार गलाबाज कार्यकर्त्ता को तैनात रखना। बैठक चाहे कोई भी हो—बैठक का दस्तूर है कि जो गलाबाजी करता है—बात उसी की रहती है। और गले की आवाज बुलन्द रहती है—लाठी के जोर पर। सो तुम्हारे 'कार्य कर्त्ता' लोगों की लाठी 'लालबाबू' देख चुके हैं—राजधानी में—तब वहाँ उस छोटे-से कस्बे में....। बात यह है कि यह 'साहित-सम्मेलन' जो होनेवाला है, उसका उद्घाटन 'कालेबाबू'[1] करने वाले हैं। तुम मेरा नाम स्वागताध्यक्ष के लिए 'परपोज' करके 'सेकेन्ड' करवा कर बहुमत से पास करवा लेना—किसी भी तरह। फिर देखना—बात यह है कि 'लालबाबू' तो अपने हाथ में हैं ही। हम लोग उन्हीं के 'साइड' के हैं यह बात छिपी नहीं। 'कालेबाबू' को अपने 'छेत्र' में पाकर—यदि उनको भी हाथ में कर लिया जाय—तो क्या हर्ज है। इसलिए, यह बैठक बहुत महत्वपूर्ण है। यदि किसी कारण से बैठक में बहुमत नहीं हो सके तो इसको भंग करने की हर कोशिश करना। हो सके तो एक 'पैरेलल-कमेटी' कायम कर लेना—चटपट! और सबसे बड़ी बात—उस सीतारमवाँ को अपने 'साइड' में, जैसे भी हो, रखना। वह ड्रिंक करता है—इसलिए उसको अपने 'साइड' में रखना आसान है। 'पैरेलल कमेटी' कायम करके तुरत सीताराम से कहना कि प्रेस में 'प्रेस-टेलिग्राम' खटखटा दे।

तुम वहाँ के 'फंड' का हिसाब रखना। मैं यहाँ के 'फंड' का हिसाब के बारे में क्या कहूँ—जितने मेरे सगे-संबंधी हैं, लगता है, सभी को इसी समय बारी-बारी से बड़ी-बड़ी बीमारी का इलाज करवाने का मौका मिला है। आज इसको टी०बी० वार्ड में भर्ती करवाओ तो कल उसको कैंसर-अस्पताल में रेडियम लगवाओ...। तबाह हो गया हूँ। यह तो भला कहो अपनी भाभी को—दस-ग्यारह रिवसा चलता है उनका और उसी से यहाँ का खाना-खर्च और बच्चों की पढ़ाई चल रही है। इसलिए वहाँ जमा हुए 'फंड' से तुम अपने लिए अपने 'कोटा' से फाजिल खर्च मत करना।

बैकवार्ड-स्टाइपेंड-कमेटी के लिए तुम्हारा नाम 'परपोज' कर दिया है। 'लालबाबू' को और उनके पी० ए० को नोट करवा दिया है। यहाँ के सभी काम

१. बड़ी कुर्सी पर आसीन और सदा बिराजे रहने की क़सम खाये हुए एक मिनिस्टर का पुकार-नाम = कालेबाबू।

के लिए तुम बेफिकर रहो और वहाँ के सभी काम को अंजाम दो। ज्यादे, जयहिन्द।

तुम्हारा शुभचिन्तक
छोटन बाबू (एम० एल० ए०)



शहर अजीमाबाद
१२-६-६३

प्रिय मँझले भैया,

मैं अभी दो-तीन महीना क्षेत्र से बाहर रहूँगा। इसलिए घर और गाँव आने की उम्मीद नहीं। आप मेरे घर-गृहस्थी के प्रतिनिधि हैं। आपके ही भरोसे मैं राजनीति जैसे कठिन पेशा में आया और सफल हुआ। हालाँकि, आपको भी बड़े भैया की तरह मुझ पर भरोसा नहीं था। माँ तो मुझे अपना बेटा मानती नहीं। उनके लिए सबसे छोटा ही सब कुछ है! और, उनका 'लाल' एक दिन मेरा काल होगा यह मुझे क्या पता था। आप लोगों ने बार-बार कहा था इसलिए उसको अपने साथ ले आया था। खैर, उसका किस्सा छोड़िए--बाद में लिखूँगा!

आपको यह लम्बा पत्र इस सबब से लिख रहा हूँ कि बड़े भैया के नीयत पर अब हमको कोई भरोसा नहीं है। चुनाव के पहले ही यदि मैं चेत नहीं जाता तो क्या होता कहना मुश्किल है। विरोधी पार्टी से--भाभी के मारफत--घूस खाकर--भंग में धतूरा मिलाकर--मिठाई में डालकर खिलाया ताकि मैं सुबह में समय पर नहीं उठ सकूँ और समय पर 'नौमनेशन' फाइल नहीं हुआ, तो गया। खैर, उसका किस्सा छोड़िये--बाद में लिखूँगा। कहना यह है कि इस बार जूट कटने के समय मैं नहीं रहूँगा। लेकिन, इस बार यदि बड़े भैया ने मेरे हिस्से में कोई गड़बड़ी की तो मैं सीधे सी० एम० के पास 'डेपुटेशन' लेकर चला जाऊँगा और यदि यहाँ नहीं हुआ कुछ तो सीधे दिल्ली जाकर पी० एम० से प्रार्थना करूँगा....। आप कृपा करके यह चिट्ठी उनको भी सुना देंगे पढ़कर। घर से उस बार दो बोरी चावल भेज देने को लिखा तो बड़ी भाभी ने साफ जबाब लिखवा दिया। खैर, उसका किस्सा छोड़िये, बाद में लिखूँगा।

आपने मुनिया के लिए 'बर' खोजने को कहा है--इधर बहुत महँगा है--साधारण घर का फटेहाल फेलियर लड़के का बाप भी



पाँच हजार माँगता है। दस हजार से कम में एक का बच्चा भी नहीं मिलेगा। उधर अपने 'छेत्र' में कोई लड़का नजर में आवे तो मुझे लिखवाइयेगा। मैं हरचन्द कोशिश करूँगा। लेकिन, तिलक के नाम पर मुनिया की शादी में एक पैसा मदद नहीं कर सकूँगा। इसके लिए आप मुझे माफ करें। अपना-अपना आदर्श है। खैर, उसका किस्सा छोड़िये....।

माँ से कहिये कि 'लाल' यहाँ दो महीना रहा और दो ही महीने में अपने मामा लोगों के सभी गुन प्रकट करके दिखा दिया। पहले तो घर में सभी के पाकिट से पैसे उड़ाने लगा, बाद में फ्लैट में चोरी करने लगा—बल्ब और पर्दे चुराकर बेंचते हुए पकड़ा गया। तब, उसको अपना सगा भाई हम कैसे कहें? कैसे कबूल करें। यह अपने गाँव-घर की बात नहीं। यहाँ तो तुरत अखबार में बात छप जाती है। वह तो कहिये कि अखबार वाले भी मेरा दोस्त हैं, नहीं तो खबर प्रेस में चला गया था, समझिए। इसके बाद एक रिक्शावाला से लड़ाई करके सिर तुड़ा आया। एक दिन जुआ खेलता हुआ पकड़ा गया! मुँह पर कालिख पोतना और किसको कहते हैं? और माँ के दुलारे लाल ने जाकर गाँव में यह प्रचार किया है कि हम लोग उसको नौकर बनाकर रखे हुए थे, जूठा और बासी खिलाते थे। ऊपर भगवान हैं। माँ क्या चाहती है, सो मैं जानता हूँ। माँ से कहिएगा कि बाबूजी ने उनके नाम से जितना जायदाद बेनामी करके रखा है उसमें से एक धूर भी किसी भाई को फाजिल दिया कि सीधे सी० एम० के पास डेपुटेशन लेकर चला जाऊँगा। वहाँ नहीं सुनवाई होगी तो सीधे दिल्ली पी० एम० से मिलकर कहूँगा। आप यह पत्र माँ को भी सुना दीजिएगा। और उनके 'लाल' को 'रिफौरमेटरी स्कूल' में भर्ती करने की मंजूरी मिल गई है। माँ से कहियेगा कि यदि सीधे मन से नहीं आने देगी तो लाल को पुलिस पकड़कर ले आवेगा।

इस बार दशहरा के समय सब कुछ फैसला हो जाना चाहिए। दुर्गापूजा में हर साल पाँच हजार रुपये किस तरह खर्च कर देते हैं बड़े भैया—इस बार मुझे भी देखना है।

आपके लिए लुंगी खरीदकर राम भाई के हाथ भेज दूँगा। रुपया-पैसा हाथ में अभी नहीं है। इसलिए नहीं भेज सकता। आप मेरा काम कीजियेगा तो पैसा क्यों नहीं दूँगा। खाना-पीना लेना-देना तो जग-व्योहार है!

आपका भाई

छोटन बाबू [एम० एल० ए०]

नोट—आपका 'पोस्काट' अभी मिला है। आप मुखिया के लिए खड़ा हो रहे हैं सुनकर दुखित हुआ। आप खुद क्यों खड़ा होते हैं—पिछड़ी

जाति के किसी को खड़ा करके चुनाव में खर्च करने के लिए कर्ज दीजिये। फिर जब वह जीत जायगा तो पंचायत में अपना जो काम हो करवाइये। और आगे आपको मालूम हो कि सुलेमान ठिकेदार से अब आप रुपया मत माँगियेगा।....स्टेशन टोला के स्कूल का टेंडर किसका मंजूर हुआ?

छोटन बाबू [एम० एल० ए०]

पुनः--माँ से कहियेगा कि उनका दुलारा बेटा यहाँ प्रोपगंडा कर गया है—सारे एम-एल-ए० फ्लैट में कि छोटन भैया व्यापारियों से, बसवालों से, ठेकेदारों से घूस लेते हैं। यदि यही हरकत रहा उसका तो एक दिन मुझे डेपुटेशन लेकर सीधे सी० एम० के पास जाना पड़ेगा। यह पत्र आप बड़े भैया और माताजी को पढ़कर सुना दीजियेगा।

छो० बा०





शहर अजीमाबाद
१५ अगस्त, १९६२

आदरनीय लालबाबू,

अब मालूम हुआ कि क्यों आप हमसे इस तरह भागे-भागे चलते थे। मैं पहुँचूँ लालगंज तो आप अजीमाबाद और मैं अजीमाबाद तो आप बाढ़-पीड़ित 'छेत्र' में। खैर, छोड़िये उस किस्से को—अब जो होना था सो हो गया। नतीजा निकल गया, अब आपको भागने का कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। मैं नहीं कह सकता कि आपने किस 'अपराध का ऐसा कठिन दंड दिया। आपने मुझे—अपने 'साइड' के लोगों में—डिपटी मिनिस्टरी के काबिल नहीं समझा। लेकिन, 'फलाने बाबू' ने तो सब दिन 'आधे-जी' से आपका साथ दिया। उनको डिपटी-मिनिस्टर और मुझे

पार्लियामेंटरी सिकरेटरी ? यही आपका न्याय है ? यदि 'लीडर' के चुनाव के समय मेरे यहाँ के दो दर्जन 'कार्यकर्त्ता' नहीं आते तो आपकी जगह कहाँ होती ? एक बार सोचकर देखियेगा। यों यह बात कटु है। लेकिन आपके लिए हमने क्या नहीं किया ? खैर, छोड़िये उस किस्सा को। [आपने न्याय किया हो, अन्याय, यह आप समझें। मुझे यही मंजूर है। मैं पार्लियामेंटरी सिकरेटरी के पद को ही स्वीकार करके, जनता की सेवा करूँगा।

आपने मुझे दंड दिया है, मैं आपको बल दूँगा। आपके स्थानीय और गैर स्थानीय सभी दुश्मनों का मुकाबला करूँगा और आपको ऐसे लोगों से दूर रहने की सलाह दूँगा—आप मानें या नहीं मानें।

मेरे 'छेत्र' के करीब पाँच बहादुर कार्यकर्त्ता लोगों पर बेवजह मुकदमा चल रहा है। आपसे कई बार विनय किया।

'जूट मिल वालों' का क्या हुआ ? जवाब मुझे देना पड़ता है। युनियन के नाम पर इतने रुपये का कर्जा लिखने को वे तैयार नहीं है। आप एक दिन टेलिफोन पर बात कर लें तो अच्छा।

इधर मेरे 'छेत्र' में कुछ लोग मजहबी-झगड़ा सुलगा रहे हैं। आप नोट कर लीजियेगा—कृपाकर !

भवदीय
छोटन बाबू [एम० एल० ए०]

नोट—जिस बँगले में नबी साहेब रहते थे मुझे यदि वही 'एलोट' हुआ तो मैं नहीं कबूल करूँगा। आप चाहें, तो हमारे लिए अपने पास वाले बँगले का एलोटमेंट करा दे सकते हैं।

छो० बा० एम० एल० ए०

शहर अजीमाबाद
१६ अगस्त १९६३

आदरनीय कालेबाबू,

आप हमको हमेशा विरोधी साइड का आदमी मानते आये हैं। लेकिन हमारे छेत्र के साहित-सम्मेलन के अवसर पर आपने देखा ही होगा कि हमारे छेत्र में हमारा कितना प्रभाव है। आपको इस सबब से यह पत्र लिख रहा हूँ कि आप मुझे विरोधी साइड का आदमी मत मानिये। मैं लालबाबू का जैसा सेवक-वैसा आपका सेवक। आप कहियेगा तो वक्त पड़ने पर एक दर्जन क्या, दस

दर्जन 'कार्यकर्ता' आपकी सेवा में तैनात कर सकता हूँ। अगर चाहेंगे तो लाल बाबू का साइड छोड़कर--बजाप्ता आपके साइड में आ सकता हूँ।

हम बहुत कम पढ़ा-लिखा आदमी हैं। लेकिन एक बार जिससे दोस्ती करते हैं, निभाना जानते हैं।

योग्य सेवा--

भवदीय
छोटन बाबू [एम० एल० ए०]



शहर अजीमाबाद। २ अक्तूबर १९६२। **शांति और सुरक्षा-विभाग के पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी श्री छोटनबाबू ने, दंगाग्रस्त क्षेत्र से लौटने के बाद--आज शाम को प्रेस-प्रतिनिधियों के समक्ष यह वक्तव्य दिया :**

"पिछले कुछ दिनों से उस क्षेत्र में 'समाजविरोधी तत्वों' का जोर बढ़ गया था। स्मरण रहे कि ऐसे दंगे के पीछे मुट्ठी भर स्वार्थी व्यक्तियों के हाथ होते हैं--देश की नाजुक परिस्थिति को मद्देनजर रखते हुए ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति नहीं हो.... !"

× × ×

अपने पाठकों के नाम--एक पत्र और !

इन पाँच पत्रों को प्रस्तुत करने के बाद मैं अपने पाठकों से क्षमा चाहूँगा। छोटन बाबू 'मोबोक्रेट' के इन पत्रों को प्रकाशित करने का एकमात्र उद्देश्य अपने पाठकों को अपनी स्थिति का सही संकेत देना है! शान्ति और सुरक्षा-विभाग के पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी मुझे समाजविरोधी तत्वों में 'प्रधान तत्व' समझें--मेरी बला से। मैं अपने पाठकों को समाज की ग़लत तस्वीर नहीं दिखाऊँगा। किसी के डर से नहीं। किसी चीज़ के लोभ से नहीं। नहीं-नहीं-नहीं !!! --हम मोबोक्रेसी को अपने देश में जड़ नहीं जमाने देंगे!





ये ऐसी ही बातें हैं जिन्हें कहते ज़ुबान लरज़ जाये और आदमी को क़लम-काग़ज़ का सहारा लेना पड़े ! इश्क़ो-मुहब्बत, राज़ो नियाज़ की बातों का एकरारनामा ! उर्दू शायर और शायराओं के ये ख़त—जिनके हर फ़िक़रे में अपना दिल-अपने दिल का हर जज़्बा उड़ेल देने की कोशिश की गयी है।

अयोध्याप्रसाद गोयलीय

यूं तो सबसे पहले पत्रों का संकलन रजबअली बेग 'सरूर' का मुद्रित हुआ, किन्तु मिर्ज़ा ग़ालिब के ख़तूत प्रकाशित होते ही उर्दू में पत्र-संकलनों का ताँता-सा लग गया। अब तक तीन दर्जन से अधिक पत्रों के संकलन पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें मिर्ज़ा साहिब, सर सैयद, शिबली, हाली, अकबर इलाहाबादी, दाग़ देहलवी, अमीर मीनाई, अबुलक़लाम आज़ाद, सर इक़बाल, नियाज़ फतहपुरी, मौलाना अब्दुलहक़ आदि जैसे २५–३० सिद्धहस्त साहित्यसेवियों के पत्रों के संकलनों ने बहुत ख्याति प्राप्त की। इनमें से कई महानुभावों के तीन-तीन चार-चार भाग भी प्रकाशित हुए हैं। फिर भी जनता ऐसे पत्रों के संकलनों के लिए उत्तरोत्तर लालायित होती जा रही है।

कराँची से प्रकाशित होने वाले 'नक़ूश' का १९५७ में मकतूब-नम्बर 'ज्ञानोदय' से दूने आकार के १०४० पृष्ठों का प्रकाशित हुआ है, जिसमें १५५ प्रसिद्ध व्यक्तियों के ३००० के क़रीब ऐसे अनुपलब्ध और क़ीमती पत्र मुद्रित हैं, जो अभी तक कहीं मुद्रित नहीं हुए थे।

उक्त साहित्यिक, राजनीतिक, दार्शनिक, सामाजिक पत्र-संकलनों के अतिरिक्त एक दर्जन से अधिक प्रेम-पत्रों के संकलन भी पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके

काग़ज़ पै रख दिया है कलेजा निकाल कर

हैं। जो कि पतियों, पत्नियों, प्रेमियों और प्रेयसियों द्वारा लिखे गये हैं।

अब तक प्रकाशित इन ४०–५० संकलनों में इतनी बेशक़ीमती सामग्री भरी पड़ी है कि जिनके आधार पर इतिहास, आत्म-कथा और गद्य-साहित्य के कई ग्रंथों का निर्माण हो सकता है। ये पत्र-संकलन उन पोथों से बहुत अधिक क़ीमती हैं जो तत्काल न लिखे जाकर सदियों बाद लोक-स्मृतियों और कल्पनाओं के आधार पर गढ़े जाते हैं। जैसे कि वर्षों बाद गड़े हुए मुर्दे को उखाड़कर पुलिस क़त्ल के अभियोग बनाती है। व्यक्तिगत पत्र कृत्रिमता से रहित तत्कालीन स्थिति के ऐसे दर्पण होते हैं, जिनमें वास्तविक स्थिति का हू-ब-हू प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि पत्र-लेखक अपने मनोभावों को बग़ैर किसी श्रम और संकोच के प्रकट करता है। इनमें ऐसी गोपनीय और निजी बातें भी मनुष्य अपने इष्ट-मित्रों को लिख देता है, जो वह प्राण जाने पर भी दूसरे पर प्रकट नहीं कर सकता।

शिबली नमानी बहुत बड़े साहित्यिक होने के साथ मुसलमानों के नेता भी थे। अपने सदाचार और मौलविलत की वजह से वे बहुत सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। कोई स्वप्न में भी उनके इश्क़ लड़ाने की आशा नहीं कर सकता था, किन्तु उनके इश्क़िया पत्र जब प्रकाशित हुए तो जनता के सामने अपने वास्तविक रूप में वे उसी तरह प्रगट हो गये जैसे डॉक्टर के सामने ऐक्स-रे-प्लेट में रोगी का अंतरंग झलकने लगता है।

यहाँ कुछ प्रेम-पत्रों के नमूने देने का प्रयास कर रहा हूँ :



सफ़िया के पत्र जाँ निसार 'अख्तर' के नाम

सफ़िया अख़्तर के पत्र विरहाग्नि में झुलसती हुई वियोगिनी नारी की मनोव्यथा से लबरेज़ हैं।

सफ़िया मशहूर शाइर मजाज़ की बहन थीं और अलीगढ़ गर्ल्स कालेज में प्रोफ़ेसर थीं। उनकी शादी ख्यातिप्राप्त प्रगतिशील शाइर जाँ निसार 'अख़्तर' से हुई थी; किन्तु भाग्य ने कुछ ऐसा इनके प्रति निर्मम व्यवहार किया कि दोनों को एक साथ बहुत कम रहने दिया और चकवा-चकवी की तरह तड़पते रहने पर मजबूर कर दिया।

भोपाल
१७–२–५०ई०

आज तुम्हें सिधारे हुए पूरा हफ़्ता गुज़र गया। और मैंने तुमको एक ख़त भी न लिखा। आज बड़ा तवील[1] ख़त लिखने को जी चाह रहा है। दो दिन तक तो ज़हन[2] ऐसी शिकस्ता हालत में था कि बस **'तुम वश गये कि हम पै क़यामत गुज़र गई'** का मज़ा जी भरकर आ गया।.... अख़्तर! 'कितने आँसू पलक तक आये थे' की लज़्ज़त से सुबह-शाम हमकिनार होना पड़ता है। मैं तुमसे दूर यहाँ इस तरह न रह सकूँगी। तुम मुझे जिस तरह बन पड़े जल्द अपने पास बुलाने की कोशिश करना। मुझे यहाँ का आराम भी कड़वा मालूम होता है। तुम मुझे छुट्टियों में अपने पास बुला लेना; फिर मैं भोपाल वापिस न आऊँगी।

तुम कैसे हो? तुम्हारे पास पैसे बिल्कुल न होंगे। इतने बड़े शहर में पैसे की तंगी कैसी अजीरन बन जाती है। मगर अख़्तर! तुम अपना दिल मत कुढ़ाना। यह क़ुर्बानियाँ बेमक़सद[3] न जायँगी।

तुम अपने हालात जल्द और मुफ़स्सल लिखो। तुम्हारा पिछला ख़त देख कर कैसा जी कुढ़ा, एक भी प्यार की बात न लिखी तुमने मेरे लिए। जी चाहा कि तुम्हारे सीने पर सर रखकर इतने आँसू बहाऊँ कि तुम्हारे दिल की धड़कन तेज़ हो जाए।

अच्छे अख़्तर! तुम मुझे इतने अज़ीज़ क्यों हो? जानती हूँ कि मेरी इस मुहब्बत में दीवानगी, का बड़ा हिस्सा है। जी चाहता है कि दुनिया की हर मस्लहत[4] को ठुकराकर तुम्हें चाहूँ। लेकिन फिर तुम्हें चाहने ही से तो मुझे दुनिया की हर मुसीबत भी हासिल हो जाती है। मुझे भोपाल का लम्हा - लम्हा भारी हो रहा है। दिन पहाड़-से लम्बे मालूम होते हैं। तुम कब मिलोगे?

तुम मेरे इस ख़त को पाने के बाद ही ख़त लिखना वर्ना मैं रो मरूँगी।

●

भोपाल
२९ मार्च, ५० ई०

....यहाँ दिन गिन-गिनकर कट रहे हैं। कालेज के मशाग़ल भी कमज़ोर पड़ गये हैं। उदास और तवील दोपहरें। लतीफ़ शामें और ख़ुनक रातें, तुम बिन काटे नहीं कटतीं।

....मैं तुम्हारे ख़तों के सहारे जीऊँगी। वह दिन भी जल्द आ जाएँगे, जब मैं तुम्हारी नज़रों के साये में फिर सकून पा सकूँगी। आओ, बहुत से प्यार करलूँ।

●

लखनऊ
१० मई, १९५० ई०

....मेरे दोस्त! तुम्हारे दिल में बेपनाह वुसअतें हैं। तुम मेरी ख़ातिर चले आओ, फिर तो एक बार तुम्हारे गले में बाँहें डालकर तुम्हारे सीने पर गर्म-गर्म आँसू बहाऊँगी, तो तुम मेरी तरफ़ से सारा ग़ुस्सा खत्म कर दोगे। इसका मुझे यक़ीन है।

---

१ लम्बा २ मस्तिष्क ३ निरुद्देश्य ४ समस्या को

आओ मैं तुम्हारी लरज़ती हुई पलकों पर अपने होंट रख दूँ। आओ मेरी आग़ोश तुम्हारी लिए खुली हुई है। तुम्हें यहाँ राहत मिलेगी और मुझे ज़िन्दगी!! अपनी आमद की इत्तला तार से दो, मैं स्टेशन पर आऊँगी। यह सच जानो कि अगर तुम न आये तो मैं दीवानावार तुम तक पहुँच जाऊँगी। फिर, ख़्वाह तुम मुझे नाराज़ होकर वापिस ही भेजने का इरादा क्यों न ज़ाहिर करो।

अच्छा, अब कब आ रहे हो मेरे शाइर! आज ही रवाना हो जाओ।

●

लखनऊ

२५ मई, १९५० ई०

...तुम्हारे जाने से जो क़यामत दिलो-दिमाग़ पर गुज़र गई, उसका अन्दाज़ा तुम ही कर सको तो कर सको और कोई दूसरा नहीं कर सकता। आज तक जब सुबह आँख खुलती है तो दिल पर एक घूँसा-सा लग जाता है। तन्हाई, वीरानी, बेकसी, ये हैं ज़िन्दगी के साथ। बाज़ वक़्त जी चाहता है कि सबकुछ छोड़कर एका-एकी तुम्हारे पास पहुँच जाऊँ।

●

नैनीताल

१४ जून, १९५० ई०

....तुम्हारी तन्हाई के ख़याल से जी किस बुरी तरह कुढ़ता है। हर लम्हा ख़याल दौड़ाती हूँ कि न जाने इस वक़्त क्या कर रहे होगे। तुम्हारी राहत और आसाइश के लिए इतनी दूर से क्या करूँ? खाने के तुम शौक़ीन नहीं, पहनने की तरफ़ से तुम बेख़बर हो। फिर और क्या रह गया? बहरहाल तुम्हारे लिए कश्मीरी सिल्क ज़रूर लूँगी और लखनऊ से कुर्ते सिलवाऊँगी।

रात बड़ी शदीद बारिश हुई। कम्बल में सर्दी लगती रही और तुम्हारी आग़ोश की गर्मी का तसव्वुर आराम देता रहा।

और क्या लिखूँ? कितनी बेशुमार और बेहिसाब बातें करने को जी चाहता है तुमसे। याद करो, हफ़्तों हमारी गुफ़्तगू ख़त्म नहीं हुआ करती थी।

—तुम्हारी अपनी सफ़्फ़ो

●

सलमा और अख़्तर शीरानी के पत्र



उक्त पति-पत्नी के पत्रों के अतिरिक्त अब हम एक प्रेमी और प्रेयसी के पत्रों की बानगी दे रहे हैं। अख़्तर शीरानी अपनी रोमाण्टिक शाइरी के कारण बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। उनसे पूर्व उर्दू के शाइर माशूक़ का वे, ये, आप, तुम, ज़ालिम, बेवफ़ा आदि सर्वनाम द्वारा उल्लेख करते थे। अख़्तर शीरानी ने सर्वप्रथम प्रेयसी का नाम देने का प्रयत्न किया। किन्तु बदनामी के भय से प्रेयसी का वास्तविक नाम न देकर उसे छद्म नाम से उल्लिखित किया। उनके रोमण्टिक कलाम से सलमा इतनी लोकप्रिय हुई कि बीसों कालेज की लड़कियाँ अख़्तर के इर्द-गिर्द चक्कर काटने लगीं। और उनकी शाइरी के हज़ारों पाठक सलमा को देखने या वास्तविक नाम

जानने के लिए इतने लालायित हो उठे कि कहीं उन्हें पता चल जाता तो सलमा के कूचे का और स्वयं उसका क्या हश्र हुआ होता, यह ईश्वर ही बेहतर जानता है।

१७४ पृष्ठों में प्रकाशित इन दोनों के ख़तूत का थोड़ा-सा अंश यहाँ दिया जा रहा है :

सलमा का ख़त

मरते हैं आर्ज़ू में मरने की
मौत आती है पर नहीं आती

कोकब ![1] मेरे कोकब ! मेरी ज़िन्दगी हज़ीं[2] के सहारे, मेरे दिलफ़िरोज़ ख्वाब[3], मेरे दिल के, मेरी रूह के मालिक, तन्हा मालिक, हौसला करो, घबराओ मत, तसल्ली रखो, कि सलमा, तुम्हारी अपनी सलमा तुमसे मिलेगी, ज़रूर मिलेगी, और बहुत जल्द मिलेगी :

किये जायेंगे हम तदबीर उस · · · से मिलने की
करेगी दुश्मनी कब तक यूँही तक़दीर देखें तो

मगर अब मैं पूछती हूँ कि अब मुलाक़ात से क्या हासिल ? हाय इस आरज़ी मुलाक़ात से क्या फ़ायदा ? आह, कुछ भी नहीं सिवाय इसके कि—

और भी बढ़ जायगा दर्दे-फ़िराक़ !

बहरकैफ़, मैं कोशिश करूँगी, मेरी तमन्नाओं के रौशनतरीं सितारे, मेरी आर्ज़ूओं के दरख़्शाँ आफ़ताब[4], मैं तुमसे मिलने की—पहली और आख़िरी मर्तबा मिलने की—कोशिश करूँगी। ख्वाह कुछ भी क्यों न हो ज़रूर एक कामयाब कोशिश करूँगी। इसलिए हाँ, सिर्फ़ इस ख़याल से कि हम बादिले बियाँ-ओ-चश्मे-गिर्यां[5] हमेशा के लिए, आह क़यामत तक के लिए एक-दूसरे से रुख़सत हो लें, जुदा हो लें—

फ़ना[6] है कैसी बक़ा[7] कहाँ की ?
मुझे तो रहता है हिज्र[8] का ग़म
जो वस्ल[9] मुमकिन है जान देकर
तो जान तुम पर फ़िदा करूँगी।

परसों—२७ जनवरी जुम्मे के दिन ठीक एक बजे शब[10] को मैं आपकी क़दमबोसी के इश्तयाक़[11] में मुज़तरिब-ओ-बेताब[12] हूँगी। सर्दी में तकलीफ़ तो होगी, ख़सूसन इसलिए भी कि आपको एक तवील सब्ज़ाज़ार[13] तै करना पड़ेगा; मगर मेहरबानी करके मुक़र्रर वक़्त से ज़रा देर पहले ही तशरीफ़ ले आइएगा। अहाता में शुमाल[14] दरवाज़ा की तरफ़ से दाख़िल हूजियेगा, ताकि हमारा चौकीदार आपका ख़ैरमक़दम[15] न करे—जहाँ आपको वह दरवाज़ा नज़र आएगा जिसके सुर्ख़ शीशे के किवाड़ों से आपने अक्सर रात को शहाबी रंग की रोशनी छनती हुई देखी होगी। हाँ, ज़रा कुत्तों से एहतियात[16] रखिएगा।. . . जब मैं दर्वाज़ा खोलूँ तो आप आहिस्ता आवाज़ में यह अल्फ़ाज़ ज़रूर दुहराएँ—कि मैं मौजूद हूँ। मगर देखिए, कहीं ऐसा न हो कि मैं तो यहाँ इन्तज़ार की कर्बआफ़रीनों में मुब्तला[17] सुबह तक चश्मे-बरराह[18] खड़ी रहूँ और हुज़ूर वहाँ ख्वाबे-नोशी पर तबा आज़माई[19] फ़र्माते रहें ?

---

१. सलमा ने अख़्तर को इसी प्यारे नाम से सम्बोधित किया है २ पीड़ित जीवन के ३ हृदय को प्रकाश देने वाले स्वप्न ४ चमकीले सूर्य ५ दुखी और कलपते हृदय से ६ मृत्यु ७ ज़िंदगी ८ विरह का ९ मिलन १० रात को ११ चरण चुम्बन की लालसा में १२ बेचैन १३ लम्बा हरा-भरा मैदान १४ उत्तरीय १५ स्वागत (मारपीट डाँट-डपट से अभिप्राय है) १६ सावधानी १७ व्याकुलता पूर्ण घड़ियों में घिरी हुई १८ आँखें बिछाये १९ शयन-कक्ष में स्वप्न देखते रहें।

मेरी उम्र के इन १६ साल में यक़ीन मानिए कि यह सबसे पहली मर्तबा, सबसे पहला इत्तफ़ाक़ है, कि मैं आपसे और सिर्फ़ आपसे मिलने का वायदा कर रही हूँ। इस हाल में कि नाजाइज़ मुलाक़ात के लिए मेरा ज़मीर[1] मुझ पर लानत कर रहा है। और मैं नदामत-ओ-इन्फ़िआल[2] के एक बहरे-बेपायाँ ग़ोत्ताज़न[3]; मगर बा ईं हमः[4] आपको यक़ीन करना चाहिए कि मैं इस कशमकश-अंगेज़[5] हालत में भी अपनी और आपकी एक तवील अर्से की बेताब आर्ज़ूओं, बेसब्र अरमानों और बेक़रार हसरतों की ख़ातिर एफ़ाए अहद[6] में साबितक़दम रहूँगी। इंशा-अल्लाह........।

कोकब साहब ! हाय मैं किस दिल से कहूँ कि एक आप ही की ज़िंदगी तल्ख़ नहीं हो रही, बल्कि उससे कहीं बढ़कर मेरी जान--हाय, मेरी नातवाँ जान[7] अज़ाबे-अलीम[8] में गिरफ्तार है। मसाइब-ओ-आलाम[9] के बलाख़ेज़ तूफ़ान में घिरी हुई है। जहन्नुम अरज़ी[10] में पड़ी सुलग रही है। जल रही है। आह, हमेशा के लिए, हाय तमाम उम्र के लिए मुझे यह कहने की इजाजत दीजिए कि उन तमामतर नाग-वारियों के बानी, उन तमामतर तल्ख़-कामियों के मूजिब[11] आप ख़ुद हैं। हाँ, आप ! क्यों ? इसलिए कि आप अगर, चाहते, आह अगर आपकी ख़्वाहिश होती, आप अगर इक ज़रा-सी कोशिश करते तो मैं आपको मिल जाती। या दूसरे अल्फ़ाज़ में आप मुझे पा लेते। आह, निहायत आसानी के साथ पा सकते थे। मगर आपने तो ....लेकिन मैं बेवकूफ़ हूँ, अब भला उन बातों--आह, उन गई-गुज़री हुई बातों की याद में दिल को नश्तर कदहे-ग़म[12] और सीने को ग़म-कदए यास[13] बनाने से क्या फ़ायदा ? क्या हासिल ? दिल की दुनिया बरबाद होनी थी, सो हो गई। आर्ज़ूओं का, जवान मर्ग आर्ज़ूओं[14] का जनाज़ा निकलना था सो निकल गया। शर्बते वस्ल[15] के बजाय ज़हरे हलाहल का जाम पीना था सो पी लिया और सबसे आख़ीर में यह कि रोज़े-अज़ल की काफ़िर साअतों[16] में जो कुछ क़िस्मत में लिखा गया था, वह पूरा हुआ। वह मिल गया आह, मिल चुका। अब शिकवे-शिकायतें अबस[17] हैं। बेसूद हैं। लाहासिल हैं, आह—

"जब तवक्कअ ही उठ गई 'ग़ालिब'
क्यों किसी का गिला करे कोई"

वाअस्लाम
राक़िमा (लिखनेवाली)
एक बेज़ार ज़ीस्त (बेचैन ज़िन्दगी)

•

अख़्तर शीरानी का ख़त

मेरी ग़ुंचए-लब,[18]

२७ जनवरी की रात का ख़्वाबे-शीरीं[19] अभी तक मेरी निगाहों पर मुहीत[20] है। आह,

---

१ आत्मा २ पछतावे और लाज के ३ असीम दरिया में गोता लगा बैठी हूँ ४ मगर इस बात के बावजूद ५ द्विविधापूर्ण स्थिति में ६ प्रतिज्ञापालन में ७ निर्बल प्राण ८ असीम कष्टों में ९ मुसीबतों एवं कष्टों के १० भयानक नरक भूमि में ११ जिम्मेदार १२ ग़म रूपी घाव में चीरा १३ निराशा और पीड़ाओं का घर १४ जवानी में मृत्यु को प्राप्त अभिलाषाओं का १५ मिलन रूपी शर्बत १६ सृष्टि रचना के प्रारम्भ में १७ व्यर्थ १८ कली जैसे ओठों वाली १९ मधुर स्वप्न २० छाया हुआ।

मेरी जान, तुमने मुझे क्या कर दिया है? कि अब तुम्हारे सिवा किसी शै का होश नहीं। तुमने मुझे कौन-सी शराब पिला दी, जिसका नशा दिलो-दिमाग़ पर छाये जाता है। हाय, मुझे तुमने किस मंज़िल में पहुँचा दिया? किस वादीए-हैरत से दो-चार[1] कर दिया? जहाँ न दुनिया की ख़बर है, न मफ़ीहा[2] का निशान। तुम्हारी हम-आग़ोशी[3] की ख़ालिस बहिश्ती[4] लज़्ज़तों में चूर होने के बाद अब मैं महसूस करता हूँ कि तुम सच कहती थीं—

और भी बढ़ जायगा दर्दे-फ़िराक़ !

हाय, यह हालत कि—

बढ़ गईं तुमसे तो मिलकर और भी बेताबियाँ
हम तो समझे कि अब दिल को शिकेबा[5] कर दिया

मैं उन बेताबियों का ज़िक्र किस ज़बान से करूँ? क्या बताऊँ, किस दर्जे बेकसी के साथ सोचता हूँ? कि उस रात जो मौजे-रंग-ओ-बू मेरे सर से गुज़रा, कहीं वह कोई पुरफ़रेब ख़्वाब न हो, मगर मेरे गुस्ताख़ होंटों की हलावत[6], वह हलावत जो उन्होंने तुम्हारे गुलाब की-सी पंखुड़ियों जैसे होठों से छीनी थी, मुझे कहती है कि यह ख़्वाब न था। इस ग़ैरमुतवक़्क़ूअ मसर्रत[7] के नशों में सरशार[8] हो जाने वाली निगाहें मुझे डराती हैं, कि कहीं उन्होंने उस रात धोका न खाया हो। मगर तुम्हारे शक़ आगीं दामन और अम्बरे-अफ़शाँ गेसुओं की मस्ताना महक, आह! वह महक, जो मेरा दमाग़ तुम्हारे कमरे से चुरा लाया था मुझे यक़ीन दिलाती है कि यह धोका न था। उफ़ अगर यह सब कुछ ख़्वाब होता! मेरे अल्लाह, यह सब कुछ ख़्वाब होता! तो मैं क्या करता? मैं दीवाना हो जाता, मैं मर जाता। अब इतना तो है कि वह इक ख़्वाबे-परेशाँ का, एक फ़रेबे-रंगो-बू का गुमान[9] ही सही। मगर मेरे बेताब दिल, मेरी बेक़रार रूह के लिए एक सहारा, एक तस्कीन, एक उम्मीद तो मौजूद है। क्या कहूँ मैं कितनी मर्तबा आँखें बन्द कर लेता हूँ और अपने तसव्वुर से कहता हूँ कि मुझे इक ज़रा फिर वही नक़्शा, वही फ़िरदौसी[10] नक़्शा दिखा दो, आह, यह ख़्वाब अगर ख़्वाब है, तो भी ख़ुदा करे मैं हर वक़्त ऐसे ख़्वाबों में खोया रहूँ। हर लम्हा ऐसे ही ख़्वाब देखता रहूँ।

जब तक कि मेरी प्यारी जान, मेरी शीरीं-रूह, तुम्हारा ख़त नहीं आ जाता, मैं इज़्तराबे-शौक़[11] से ख़यालात की ला-इन्तहा, ला-महदूद[12] फ़िज़ाओं में तुम्हारे तसव्वुर की हज़ारों धुँधली-धुँधली बहिश्तें तैयार कर लेता हूँ। गोया तुम मुझे ख़त लिख रही हो। मैं तुम्हें चुपचाप इक तरफ़ खड़ा होकर देखता हूँ और देखता रहता हूँ। हाय, मैं क्योंकर कहूँ कि मैं तुम्हें किस-किस रंग में किस-किस आलम में किस-किस तरह देखता हूँ? किस दर्जा हसरत के साथ, किस दर्जा बेताबाना उम्मीदों से, कितनी दिलगुदाज़[13], मगर फिर भी ख़ुशगवार तमन्नाओं के आलम में देखता हूँ। इस हाल में कि हल्की-सी मुस्कराहट मेरे होंटों पर होती है। मैं देखता हूँ कि कभी तुम्हारी निगाहें, तुम्हारी नशेबाज़ निगाहें शर्मा जाती हैं, झुक जाती हैं; और कभी तुम्हारे परीवश होंटों पर

१ आश्चर्यजनक पर्वतवादियों से परिचित २ विश्व के अन्तरंग का ३ बराबर में बैठने-उठने की ४ स्वर्ग सदृश ५ सहिष्णु ६ मिठास ७ आशा के विपरीत उल्लास के ८ मस्त ९ भरम १० स्वर्गीय ११ शौक़ की बेचैनी में १२ अनन्त असीम १३ दग्धहृदय।

एक मासूम कली का-सा तबस्सुम लहराने लगता है। अलगर्ज़ उस वक़्त के वह जज़्बात[1] जो तुम अपने ख़त में मुन्तिक़ल[2] कर देना चाहती हो, तुम्हारे क़लम से इल्फ़ात के रंग[3] में बे-हिजाब होने से पहले तुम्हारे मलकूती बुशरः[4] से छलक पड़ते हैं। और मैं, माबूदो-अफ़कार[5], मेरी फ़िदाए-अशआर[6], मैं तुम्हें उस हृश्रतराज़ आलम में मज़े ले-लेकर देखता हूँ। हाय क्या कभी तुमने भी इस हालत में मुझे अपने पास महसूस किया है? अगर नहीं, तो मैं इल्तजा[7] करूँगा, कि ऐसा न करना। वर्ना फिर तुम्हारी हया सामानी[8] तुम्हारे जज़्बाते-शोख़[9] को बेतकल्लुफ़ी से अदा न कर सकेगी।

इन्तज़ार की क़यामत आफ़रीन मुद्दत से घबराकर तुम्हें इतना ख़त लिख चुका था कि तुम्हारा ख़त पहुँचा। इन हाथों के निसार जिन्होंने यह तकलीफ़ गवारा की। उस क़लम पर क़ुर्बान, जिसने तुम्हारी शीरीं और मासूम रूह का पैग़ाम मेरी गुनहगार रूह तक पहुँचाया। उस नामाबर के सदक़े जिसने यह ख़त मुझको लाकर दिया। ज़रा मुझे इजाज़त दो—कि क़लम हाथ से रख दूँ और पहले तुम्हारा ख़त पढ़ लूँ।

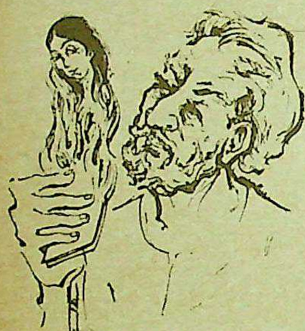
....आह तुम मुझे मायूस कर रही हो कि २७ जनवरी की रात और उसकी बहिश्त सामानी अब फिर कभी मुझे नसीब न होगी। हाय वह रात, वह निकहते-बेक़रार, वह तबस्सुमे-बेइख़्तियार अब कभी मेरे हाथ न आयेगी। वह नश्शा-ओ-नूर[10], वह तूफ़ान सुकरो-सुरूर[11] अब कभी मुझे नहीं मिलेगी। उस मौजे-ऐशो-निशात, उस बर्क़े-रंगो-बू को अब कभी न पा सकूँगा। उफ़, तुमने तो मुझे उम्मीद दिलाई थी कि मैं आइन्दा भी तुम्हारे माहे-पैकर हस्ती की रंगीनियों को गुदगुदा सकूँगा। मैं फिर भी तुम्हारी बहारे तिमसाल शख़्सियत की रअनाइयों[12] को प्यार कर सकूँगा। फिर यह क्या बेदर्दी है, कि अब तुम मुझे इस तरह नाउम्मीद कर रही हो। मगर उसका यह मतलब किस क़ाफ़िर को मालूम था कि वह मुलाक़ात आख़िरी मुलाक़ात होगी। और अगर तुम इस पर आमादा हो तो मुझे कहना चाहिए कि अभी इस अफ़साने का आख़िरी बाब[13] बाक़ी है। और उसका उनवान[14] 'जवाँमर्ग' होगा, जिसे मेरे बाद तुम्हारा क़लम मुकम्मिल करेगा। मेरी बद-नसीबी कि बेख़ुदीए वस्ल की तिश्ना तराज़ियों ने मुझे उस रात गूँगा कर दिया था। यक़ीन मानना कि जिस क़दर बातें सोचकर गया था, उसका हज़ारवाँ हिस्सा भी तुम्हारे हुज़ूर में बयान न कर सका। और इस लिहाज़ से मुलाक़ात हुई-न हुई बराबर है।

शायद तुम मुझे नाशुक्रगुज़ार कहो। हालाँकि मैं एहसान फ़रामोशी का आदी नहीं हूँ। मुझसे कुफ़ाने मुहब्बत का गुनाह कभी सरज़द न होगा। मगर तुम्हारे एहसानात की बेपायानी[15] का शुक्रगुज़ार होते हुए भी मैं यह कहने पर मजबूर हूँ कि मैं तुमसे एक भी बात न कर सका। हाय 'दाग़' मरहूम—

१ भाव २ लिख देना, उतार देना ३ आनन्दोल्लास में ४ देवांगना जैसी मुखाकृति से ५ मेरी आदरणीया एवं मेरी शाइरी ६ मेरे अशआरों पर आसक्त ७ निवेदन ८ शर्मीली आदत ९ चंचल भावों को १० नशे और प्रकाश की बाढ़ ११ मस्ती का तूफ़ान १२ बहार जैसे व्यक्ति के रूप को १३ उपन्यास का अन्तिम परिच्छेद १४ शीर्षक १५ असीमता का।

याद सब कुछ हैं मुझे हिज्र के सदमे ज़ालिम
भूल जाता हूँ मगर देख के सूरत तेरी।

मेरा ख़याल है कि आप मुझसे कुछ बदगुमान या ख़फ़ा हो गई हैं। ख़फ़गी की तो मैं कोई वजह नहीं देखता सिवाय इसके, उस रात मेरे 'होंटों' ने दो-एक गुस्ताख़ियाँ करने की जिसारत[1] ज़रूर की थी! अगर यह बात है, तो मैं आपसे हज़ार बार माफ़ी चाहता हूँ! आइन्दा मुलाक़ात में आप देख लेंगी कि मैं इस मुआमिले में किस क़दर ज़ब्त कर सकती हूँ! मुझे तस्लीम है कि मुझे उन गुस्ताख़ियों का, आह! उन हल्की-सी गुस्ताख़ियों का भी, जो दुनियाए-मुहब्बत में आम हैं, कोई हक़ न था! लेकिन अगर मैं यह कहूँ, कि मैंने 'फ़िज़ा'[2] की 'जज़्बातअंगेज़'[3] हालत के बावजूद इससे आगे बढ़ने की जुरअत न की तो क्या आप मेरी मुहब्बत की, मेरी मुहब्बत की मासूमियत[4] की, उसकी मलकूती और मुक़द्दस[5] हैसियत की दाद नहीं देंगी?



नियाज़ फ़तहपुरी का पत्र

८० वर्ष के वयोवृद्ध हज़रत नियाज़ फ़तहपुरी के एक पत्र देने का लोभ संवरण नहीं हो पा रहा है। आप उर्दू, फ़ारसी, अरबी के प्रामाणिक विद्वान हैं। ग़ालिब, जोश, जिगर जैसे उस्ताद शाइरों के कलाम पर वो-वो आलोचनाएँ और संशोधन किये हैं कि बखिए उधेड़कर रख दिए हैं। 'निगार' उर्दू मासिक पत्र का ४० वर्ष से संपादन कर रहे हैं, जिसके १०-१२ विशेषांक दो-दो सौ, ढाई-ढाई सौ पृष्ठों के केवल अपने लेखों से प्रस्तुत किए हैं। साहित्यिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक और जनरल-नालेज के अतिरिक्त आपको मुस्लिम धर्म की इतनी अधिक और विस्तृत जानकारी है कि भारत और पाकिस्तान के प्रायः सभी मौलवी आपकी युक्तियों और लेखों का जवाब देने का साहस नहीं रखते। पत्र ऐसे माशूक़ को लिखा गया है जिसे उन्होंने देखा भी नहीं है। दिल थामकर पढ़िए और मेरी तरह बैठकर सर धुनिए—

"इतना क़ातिल ख़त और इस क़दर तवील[6]! तुम तो सिर्फ़, यही कहना चाहती थीं ना, कि आइन्दा मैं तुम्हें ख़त न लिखूं। फिर यह पूरे छः सुफ़े क्यों? शायद इसलिए कि साफ़-साफ़ कहते हुए तुम्हें हिजाब[7] आता था।

[शेष पृष्ठ ८७ पर]

१ हिम्मत २ वातावरण ३ भावनाओं को भड़काने वाली ४ भोलेपन की ५ देवों जैसे पवित्र आचरण की ६ लम्बा, बड़ा ७ लाज संकोच

फ़िक्र तौंसवी

*

किसी समाचारपत्र या पत्रिका का सम्पादक बन जाना सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। एक बार जब मैं एक पत्रिका के सम्पादन से फ़ारिग़ हुआ तो मुझे मालूम हुआ कि संसार की पचानवे प्रतिशत आबादी मेरी दुश्मन बन चुकी है——चुनांचे एक बुद्धिमान के परामर्श से हनुमानजी की मूर्ति पर सवा रुपए का प्रसाद चढ़ाया, जब जाकर दुश्मनों का अंत हुआ।

समस्या यह है कि साहित्य में हर साहित्यकार अपने को छोड़कर हर साहित्यकार को नालायक़ समझता है, इसलिए साहित्यकारों से निभाना संसार का सबसे बड़ा नाज़ुक काम है। निम्नलिखित पत्र से, जो सम्पादक ने विभिन्न लेखकों को लिखे, सम्पादन के नाज़ुक काम का अनुमान लगाया जा सकता है :

*



एक नए लेखक के नाम :

ऐ मिस्टर !

यह तुम्हें किस ज़ालिम ने मशवरा दिया कि अपनी हर कहानी हमारी पत्रिका 'मृग नैन' को ही भेजो। आख़िर भारतवर्ष में दूसरी कई पत्रिकाएँ भी तो मौजूद हैं। उनको अपना शिकार क्यों नहीं बनाते ? हम तुम्हारे कोई शत्रु तो नहीं हैं ?

आज तुम्हारी पन्द्रहवीं कहानी लौटा रहा हूँ। इन कहानियों में केवल

सम्पादक की मेज से लिखे कुछ दिलचस्प पत्र

एक ही विशेष गुण है कि ये बड़ी सुन्दरता से टाईप की जाती है। तुम लेखक की बजाय टाईपिस्ट क्यों नहीं बन जाते ?

भविष्य में अगर तुमने हमें कोई कहानी भेजी तो मैं न केवल सम्पादन ही छोड़ दूँगा, बल्कि हिन्दुस्तान भी।

एक और नए लेखक के नाम :

श्री हिरनकुमार जी !

आज की डाक से आपकी भेजी हुई निम्नलिखित चीज़ें प्राप्त हुईं :

(१) आपके अपने लेटर-फार्म पर लिखा हुआ पत्र, जिसके एक कोने में आपकी फ़ोटो भी छपी हुई थी, (फ़ोटो की प्रिंटिंग काफ़ी रद्दी थी।)

(२) आपकी कविता 'मेंढक की फ़रियाद', (यही कविता आपने एक बार 'तोते की फ़रियाद' के नाम से भेजी थी।)

(३) प्रसिद्ध नाटककार श्री गिरजानाथ बादल का एक सिफ़ारिशी पत्र, (जिसे मैं श्री बादल को प्रोटेस्ट के तौर पर वापिस भेज रहा हूँ।)

(४) मेरे बच्चों के लिए बिस्कुटों का एक पैकेट, (बिस्कुट बड़े स्वादिष्ट थे, जो मैंने सारे दफ्तर में बाँट दिए। दफ्तर का सारा स्टाफ आपकी बिस्कुट-फैक्टरी की प्रशंसा कर रहा था।)

(५) कविता वापिस करने के लिए डाक के टिकट।

चूँकि हमारे दफ्तर की यह बेहतरीन परम्परा रही है कि किसी के भेजे हुए डाक-टिकट हज़म नहीं किये जाते, इसलिए इसी परम्परा के अनुसार आपकी कविता वापिस भेज रहा हूँ। भविष्य में अगर आप कविता की बजाय अपनी बिस्कुट-फैक्टरी का विज्ञापन भेजा करें तो हम उसे ख़ुशी और सुविधा से छापेंगे। विज्ञापनों का रेट-कार्ड संलग्न है।

एक नवोदित लेखक के नाम :

जनाब घायल साहिब !

मुझे अति खेद है कि मेरे सह-सम्पादक की ग़लती से आपकी कहानी 'ख़रबूज़े की फाँक' हमारे गतांक में प्रकाशित हो गई। इस कहानी के प्रकाशित होने पर हमें पाठकों की ओर से लान-तान के इतने पत्र प्राप्त हुए कि हमने मजबूर होकर सह-सम्पादक को नौकरी से अलग कर दिया और अब सुना है, वह आपकी हत्या करने की योजना बना रहे हैं !

सूचनार्थ निवेदन है कि कहानी चोरी की थी और योरूप के एक प्रसिद्ध कहानीकार की कहानी 'मैंगो ट्री' के थीम और प्लाट को तोड़-मोड़कर लिखी

गई थी। कृपया भविष्य में स्वयं कहानियाँ लिखने का प्रयत्न किया कीजिए, क्योंकि भारतवर्ष के संविधान में स्वयं कहानियाँ लिखने की आज़ादी दी गई है।

आपकी गतांक वाली कहानी का पारिश्रमिक हमने यहाँ के एक अनाथालय को भेज दिया है।



एक प्रसिद्ध लेखक के नाम :

भारतीय कहानी-कला के नाविक !

हमारी मासिक पत्रिका 'देशद्रोही' की ओर से आप अपने पचासवें जन्म-दिवस पर हार्दिक बधाई स्वीकार करें। हम समझते हैं कि अगर आप जन्म न लेते तो भारतीय कहानी-कला की दशा एक 'विधवा-आश्रम' से ज़्यादा कुछ न होती !

इससे पहले एक सर्कुलर के द्वारा आपको ज्ञात हो चुका होगा कि हम इस वर्ष भी एक विशेष और सर्वश्रेष्ठ कहानी-अंक प्रकाशित करने जा रहे हैं; क्योंकि हम अगर कहानी-अंक प्रकाशित न करें तो पाठकगण बेहद नाराज़ हो जाते हैं, इसलिए पाठकों की पत्रिका, पाठकों की ओर से, पाठकों के लेखक से प्रार्थना करती है कि आप अपनी नई रचना तुरन्त भेज दें। मेरे मालिक और मैंने मिलकर फ़ैसला किया है कि अगर आपकी कहानी न आई तो हम मरण-व्रत रख लेंगे और कहानी-अंक प्रकाशित नहीं करेंगे; और सम्भव है, पत्रिका ही बन्द कर दें ! (भारतीय साहित्य के लिए यह कितनी बड़ी दर्दनाक घटना होगी !)

और सुनाइए, भाभीजान की तबियत अब कैसी है ? आपकी एक कहानी से मालूम हुआ था कि उन्हें सप्ताह में एक बार ज़ुकाम रहता है। चंद दिन हुए भाभीजी की भी एक कहानी हमें प्राप्त हुई थी। आपका क्या विचार है, वो छाप दी जाए या लौटा दी जाय ? क्योंकि वो कहानी नहीं है, उपन्यास है; टेकनिक कहानी की, लम्बाई उपन्यास की।

सुना है, आपकी बिल्ली आपके घर से भाग गई है ! उसके मतभेद का कारण क्या था ? बड़ी बेवफ़ा निकली ! तोतों की बेवफ़ाई तो सुनी थी, मगर यह रोग बिल्लियों तक भी ज़ा पहुँचा ! क्यों न इस विषय पर एक कहानी लिख डालिए 'बिल्ली का फ़रार' और कहानी-अंक के लिए भेज दीजिए।



एक लेखिका के नाम :

आदरणीया ! जय-हिन्द !

आपकी कहानी भी मिली और फ़ोटो भी। हम आपकी फ़ोटो छाप रहे हैं, कहानी नहीं; क्योंकि हम अपनी पत्रिका में स्टैण्डर्ड की चीजें ही छापते हैं। फ़ोटो हमारे स्टैण्डर्ड पर पूरी उतरी, कहानी नहीं।

हम अपने अगले विशेषांक में फ़ोटो-कम्पीटीशन कर रहे हैं। प्रथम, द्वितीय, तृतीय फ़ोटुओं को एक लाख रुपया पुरस्कार दिया जाएगा। कम्पीटीशन की फ़ीस-दाख़िला पाँच रुपए है। कृपया मनीआर्डर से भिजवा दीजिए।

यह जानकर अति प्रसन्नता हुई कि आपके पतिदेव एक बहुत बड़े सरकारी अफ़सर हैं। उनसे कहिए, हमारी पत्रिका का वार्षिक चन्दा, जो केवल दस रुपये है, भिजवा दें! साल में दो विशेषांक मुफ़्त दिए जाते हैं।

जब भी आपसे अचानक कोई अच्छी कहानी लिखी जाए, भेज दीजिए। न लिखी जाए, तो भी कोई हर्ज नहीं। आपका जीवन वैसे भी बड़े मज़े से कट रहा है।



समीक्षा करवाने वाले लेखक के नाम :

प्रिय पलटा जी !

आपकी निम्नलिखित पुस्तकें समीक्षार्थ प्राप्त हो गईं :

(१) साबुन बनाने के पचास नुस्ख़े
(२) साहित्य में मक्खियों का रोल
(३) ज़हरीले जानवरों के लाभ
(४) रावण—एक व्यापारी की स्थिति में

हम आपको यह सूचना देना चाहते हैं कि इन किताबों का स्तर समीक्षा से ऊँचा है, क्योंकि ये पुस्तकें मार्केट में यूँ धड़ाधड़ बिक जाएँगी, जैसे हमारे शहर

के मांगेराम हलवाई के पकौड़े---हमारी पत्रिका केवल उन पुस्तकों पर समीक्षा प्रकाशित करती है, जिनकी बिक्री खतरे में हो। आपने ये पुस्तकें लिखकर साहित्य पर इतना एहसान नहीं किया जितना कपड़े धोने वाली लांड्रियों, म्युनिसिपैलिटी के मलेरिया-यूनिट, बाजारी हकीमों और रावण की लंका में सोना स्मगल करने वालों पर।

हम चारों पुस्तकें आपको लौटा देते, मगर अफ़सोस, कि हमारे दफ्तर के एक क्लर्क को ये पुस्तकें इतनी पसन्द आईं कि वह चुराकर ले गया। आपकी पुस्तकों और पकौड़ों के लोकप्रिय होने का यह जीता-जागता प्रमाण है।

एक और समीक्षा करवाने वाले लेखक के नाम :

मान्यवर तुलसीदास जी !

आपकी पुस्तक 'राम भरोसे' जो छः मास पहले समीक्षार्थ प्राप्त हुई थी, हमारे पास सुरक्षित है और हमारा विचार है कि अब सुरक्षित ही रहेगी।

समस्या यह कि आप हर मास अपनी एक नई पुस्तक प्रकाशित कर देते हैं और हमारे लिए यह बहुत कठिन है कि हर मास आपही की पुस्तक पर समीक्षा छापते रहें, जबकि आपकी हर पुस्तक की विषय-वस्तु भी एक जैसी होती है; इसलिए स्पष्ट है कि समीक्षा भी एक जैसी ही होगी। गत वर्ष हमने आपकी पुस्तक 'श्याम भरोसे' पर समीक्षा प्रकाशित की थी, आप उसे ही अपनी नई पुस्तक 'राम भरोसे' की समीक्षा समझकर स्वीकार कीजिए, और उसे अपनी हर पुस्तक पर 'लागू' कर लीजिए। इससे एक लाभ यह होगा कि आप बार-बार नई पुस्तक लिखने से बच जाएँगे और हम समीक्षा प्रकाशित करने से।

अगर आप हमारे इस स्पष्टवादिता का बुरा मानना चाहें तो अवश्य मानिए। कौन जाने, इस बुराई में से कोई भलाई निकल आए !



एक कवयित्री के नाम

कविता देवी जी !

आपकी कविता 'चिड़िया रोती जाए', जो हमारे अगस्त-अंक में प्रकाशित हुई थी, के संबंध में हमें प्रतिदिन दर्जनों स्तुति-पत्र प्राप्त हो रहे हैं, लेकिन एक बात हमारी समझ से बाहर है कि हर पत्र में एक वाक्य बहुत 'कॉमन' है कि 'कविता

देवी जी हमारे युग की कालिदास हैं !'

भविष्य में स्तुति-पत्र भिजवाते समय कॉमन वाक्यों से बचने का प्रयत्न किया कीजिए, क्योंकि इससे सम्पादक के मन पर ग़लत प्रभाव पड़ता है।

आपकी दूसरी कविता 'चिड़िया खाती जाए' भी हमें प्राप्त हो चुकी है। हमारा विचार है कि 'चिड़िया-लेखमाला' पर आप जितनी कविताएँ लिख सकती हैं, वो सब लिखकर हमें भेज दीजिए। हम अपनी पत्रिका का 'चिड़िया-विशेषांक' छापकर देश में तहलक़ा मचा देना चाहते हैं।

यह जानकर हमें वड़ा खेद हुआ कि महिला होने के कारण आप अपनी फ़ोटो छपवाना नहीं चाहतीं ! कहीं ऐसा तो नहीं कि चिड़िया के पर्दे में कोई चिड़ा बोल रहा है !



एक नाटककार के नाम :

श्री बेअंत जी !

आपका नाटक 'अंतिम समय' प्राप्त हुआ। मेरा व्यक्तिगत विचार है कि मैं यह नाटक कहीं पहले भी पढ़ चुका हूँ। यह नाटक एक बँगाली-लेखक ने हिन्दी में लिखा। इसके बाद उसका बँगला में अनुवाद हुआ। बँगला से यह अँग्रेज़ी में छपा और अब अँग्रेज़ी से आपने इसे फिर हिन्दी पहनावा देकर हिन्दी साहित्य पर एक बार फिर एहसान लाद दिया; और नाटक कोल्हू के बैल की तरह, जहाँ से चला था फिर वहीं आ गया। हम 'अंतिम समय' को केवल एक शर्त पर छापने के लिए तैयार हैं कि अगर इसके मूल लेखक ने आप और हम पर मुक़दमा दायर कर दिया तो मुक़दमे और जुर्माने के तमाम खर्च आप ही अदा करेंगे ! और संभव है, जेल भी जाना पड़े, अकेले हमें नहीं, आपको भी।

सूचनार्थ यह लिखिए कि आपका बैंक-बैलेंस कितना है ? यह हम केवल इसलिए पूछ रहे हैं, ताकि मुक़दमे की सूरत में आपकी आर्थिक पोज़ीशन से हमारी पूरी तसल्ली हो जाए।

वैसे नाटक बहुत महान और सुन्दर है। यह हमें पहले भी पसंद था और आज भी है।



भँवरमल सिंघी

अवांछित सन्तान के अभिशाप से पीड़ित एक मध्यमवर्गीय मित्र के नाम लिखा एक अधिकारी-विद्वान का यह पत्र केवल उस मित्र के ही लिए नहीं, वरन् उस जैसे लाखों - करोड़ों दम्पतियों के लिए भी उतना ही उपयोगी है ।

सतरहवाँ स्वाधीनता-दिवस
१५ अगस्त, १९६३

भाई मेरे,

तुम्हारा खुशखबरी का पत्र मिले पन्द्रह दिन तो जरूर हो गये होंगे और तुम सोचने लगे होगे कि जिस खबर पर मुझे तुरन्त तुम्हें अभिनन्दन और बधाई का तार भेजना चाहिए था, उसके लिए मैंने अभी तक पत्र भी नहीं दिया ! न मालूम मेरी इस चुप्पी और देर को लेकर तुमने कितनी-कितनी कल्पनाएँ की होंगी । मुझे इसमें तनिक भी ताज्जुब नहीं क्योंकि पच्चीस वर्षों से मेरा-तुम्हारा जो संबंध रहा है, उससे तुम्हारा यह आशा करना अनुचित नहीं है कि तुम्हारी खुशी और दुःख में मैं पूरा-पूरा तुम्हारे साथ हूँ और रहूँ । तुमने शायद सोचा हो

अल्पविराम नहीं, अर्द्धविराम नहीं, पूर्णविराम !

कि कहीं मैं बीमार तो नहीं हूँ या कि कहीं प्रवास के लिए निकला हुआ हूँ, अथवा घर में कोई बीमार है। तुमने क्या-क्या सोचा होगा या सोच रहे होगे, इसकी कल्पना मुझे भी होती रही है; और इस प्रकार की आशंका से तुम घबड़ा न उठो—यदि इसकी चिन्ता न होती तो शायद आज भी यह पत्र नहीं लिखा जाता।

तुम्हें धक्का लगा न ? मैं और तुम्हें पत्र न लिखूँ ? और वह भी तुम्हारे दसवें बच्चे के जन्म की खुशखबरी पाकर ? पर, आज मैं साफ़-साफ़ ही तुम्हें कहूँ कि मुझे खुशी नहीं, रंज हुआ कि तुम अपनी स्थिति को सोचे-समझे बिना संतति-प्रजनन के संबंध में बिल्कुल लापरवाह हो। कितनी बार मैंने तुम्हें समझाया कि संतानोत्पादन के संबंध में भी हमें वैज्ञानिक विचार और परिकल्पना के आधार पर चलना है। तुम पहले-पहल तो यही कहते रहे कि इसमें तुम्हारे हाथ में क्या है; यह तो भगवान (या, मुझे समझाने के लिए, नियति) की योजना है जिसमें मनुष्य के करने-न करने का प्रश्न ही नहीं आता। तुम बड़े विश्वास के साथ मानते और कहते रहे कि मनुष्य के हर कर्म और भाग्य का नियन्ता भगवान है और जब भगवान की मर्जी होती है, तो घर में बालक का जन्म होता है। और इस बात को समझाने के लिए तुमने मुझे कितने आख्यान और आर्ष वचन बताये ! पर जैसा मैंने कई बार तुमसे कहा है, मनुष्य अपने नये ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों के बाद प्रकृति की क्रूरताओं और विवशताओं का दास और नियति का खिलौना नहीं रहा है; वह प्रकृति का प्रभु है, स्वयं अपनी नियति का निर्माता है। यदि आज वह अपने सुख-दुःख, भले-बुरे और प्रिय-अप्रिय का भेद करनेवाले विवेक को नहीं पहचानता और उसके अनुसार काम करने को तत्पर नहीं है तो वह मनुष्य की जगह पशु की श्रेणी में ही गिना जायेगा क्योंकि बुद्धि और विवेक ही पशु और मनुष्य के बीच भेद-रेखा है। उस दिन मैंने अपने-आपको धन्य हुआ समझा था, जब पर्याप्त तर्क-वितर्क के बाद अंधी प्रजनन-उच्छृंखलता की जगह तुमने संयम के मानवीय विवेक और संकल्प की बात कही थी और मुझे विश्वास दिलाया था कि इस मामले में तुम अब विवेक और बुद्धिमत्ता से काम लोगे। तुम्हारी बात में मुझे अविश्वास नहीं हुआ, किन्तु यह संदेह अवश्य था कि व्यवहार में तुम शायद ही सफल हो सको, और मेरा संदेह ठीक निकला। दो वर्ष भी पूरे नहीं हुए कि तुमने दसवें बालक के आगमन की सूचना दी। क्या हुआ तुम्हारे संयम का, तुम्हारी सौगंधों का, और ब्रह्मचर्य के उस विधि-विधान का ? मैंने कहा था न कि वैज्ञानिक ढंग से इस बारे में सोचो और वैज्ञानिक साधनों का व्यवहार करो। पाप और पुण्य की परिभाषाएँ बदल गई हैं; तुम भी उनको बदलो। परम्पराओं में बँधे रहकर विवेक के प्रकाश को रोकने की भूल मत करो। अंधे संस्कारों को लेकर चलोगे तो अपने से शुरू करके सारे समाज और देश को अंधा बना दोगे और सारी संस्कृति भी अंधी बन जायेगी। और,

अंधेरे में विनाश तुम्हें और तुम्हारे सब कुछ को ले बैठेगा।

यह तुम्हारा दसवाँ बच्चा तुम्हारे लिए अधिक दुख और निराशा का कारण बन जायेगा। रहा होगा एक ज़माना जबकि दस ही क्यों, सौ बेटों का बाप होना बहुत बड़ा भाग्य माना जाता था। यह मानव-समाज की उस व्यवस्था में ही माना गया था जब मनुष्य केवल अपने हाथ-पैरों की शक्ति का उपयोग ही जानता था। उस स्थिति में यह मानना स्वाभाविक था कि जितने अधिक आदमी हों, जितनी अधिक संतान हो, उतना ही उत्पादन अधिक होगा, समृद्धि अधिक होगी, परन्तु आज तो मानव—पशुओं के बाद भाफ और बिजली ही नहीं, आणविक शक्ति से भी काम लेने की ओर क़दम बढ़ा रहा है। इस शक्ति के विनियोग से, कहना न होगा, एक व्यक्ति हज़ारों व्यक्तियों जितना काम कर सकता है। तब आदमियों की संख्या बढ़ाते रहकर वह अपने लिए समस्या ही तो उत्पन्न करता है और उसकी समस्या अन्ततोगत्वा सारे विश्व की समस्या बन जाती है। मैं तुम्हें कई बार दुनिया की आबादी के आँकड़े बता चुका हूँ। आज लगभग तीन अरब आदमी दुनिया में हैं जिनमें से क़रीब दो-तिहाई लोगों को पूरा भोजन नहीं मिलता। इस हालत के बावजूद वर्त्तमान में दुनिया की आबादी क़रीब ४॥ करोड़ प्रतिवर्ष के हिसाब से बढ़ रही है। यदि इस वृद्धि को रोका और कम न किया गया तो वर्त्तमान शताब्दी के अन्त तक दुनिया की आबादी ५ अरब हो जायेगी। तब इतने लोगों का भरण-पोषण और रहन-सहन कैसे सम्भव होगा? आज ही हम जो अवस्था देख रहे हैं, वह काफ़ी भयावह एवं विस्फोटक है। चालीस वर्ष बाद की बात सोचकर तो प्राण काँपने लगते हैं। यह ठीक है कि जहाँ तक वस्तुओं के उत्पादन का प्रश्न है, विज्ञान ने काफ़ी प्रगति की है और दुनिया के देशों के बीच की दूरी भी ख़त्म हुई है। तब भी, जैसा कि मैंने तुम्हें बताया, ज्यादा लोगों को पूरा भोजन नहीं मिलता। इस बात के लिए माल्थ्यूज (यह नाम भूले नहीं हो न? अर्थशास्त्र के क्लास में कई बार इसकी चर्चा होती थी,) ने १६५ वर्ष पहले चेतावनी दी थी। उसने कहा था कि अगर जनसंख्या की वृद्धि को नहीं रोका गया, तो एक दिन आयेगा जब दुनिया में खाद्यपदार्थों के पर्याप्त उत्पादन के अभाव में प्रकृति बलवा करेगी—महामारी के रूप में, युद्ध के रूप में; और इस प्रकार जो काम हम अपने विवेक और बुद्धिमत्ता से नहीं करेंगे, वह प्रकृति अपने क्रूर हाथों से करेगी। मनुष्य ने उस चेतावनी पर ध्यान न दिया और भगवान एवं प्रकृति के नाम की ओट में संतानोत्पत्ति के विषय में स्वच्छन्दता बरतता गया और एक प्रकार से उसमें विवशता ही नहीं, भगवदेच्छा मानकर चलता रहा। परिणाम क्या हुआ, यह आज किसी से छिपा नहीं रह गया। प्रसिद्ध विज्ञान-वेत्ता जूलियन हक्सले ने कहा है कि मनुष्य संतानोत्पादन के विषय में अपने घोर अविवेक के कारण स्वयं जगत

का कैन्सर होता जा रहा है। मनुष्यों की संख्या-वृद्धि ही आज मानवता का सबसे बड़ा संकट है। अणुबम और उद्जनबम की चिन्ता है, पर उनसे भी भयानक और विनाशकारी बम अगर है तो वह यह जनसंख्या की वृद्धि है। तुम कहोगे कि मैं विज्ञान और फ़िलासफ़ी झाड़ने लगा हूँ, जैसे कि मेरी आदत है, और यह भी कहोगे कि तुमने दुनिया की रक्षा का ठेका नहीं लिया है। इतने बड़े - बड़े सवालों से तुम्हें क्या मतलब ? पर ज़रा सोचकर देखो कि जो दुनिया का सवाल है, वह मूलतः तुम्हारा सवाल है और तुम्हारे बच्चों का सवाल है। तुमने इस बेटे के जन्म की ख़ुशख़बरी का जब पत्र दिया और मैं उसे पढ़ने लगा तो मेरी आँखों के सामने तुम्हारे वे कई पत्र चमकने लगे जो तुमने पिछले साल ही लिखे थे। कितनी वेदना थी तुम्हारे उन पत्रों में ! एक तरफ़ दो-दो बेटियों के विवाह का तक़ाज़ा और उनके लिए ख़र्च की चिन्ता, तो दूसरी ओर बड़े लड़के के लिए काम-धन्धा या नौकरी जुटाने का सिरदर्द और साथ ही पत्नी की बीमारी, जो लगी ही रहती है। मुझे तुम्हारी इन सब चिन्ताओं और परेशानियों की बात पढ़कर बड़ी सहानुभूति हुई थी। तुमको याद है न कि कितनी कोशिश करके और मुश्किलें उठाकर तुम्हारे तीसरे लड़के को कॉलेज में भर्ती कराया था और उसके लिए स्कॉलरशिप का बन्दोबस्त किया था। एक समस्या मिटी नहीं, और दूसरी पैदा हुई, पर तुम समस्या को समझ ही कहाँ रहे हो ? रोते हो पर मूर्खता करते जा रहे हो।

श्री सीताराम सेकसरिया को लिखा श्री माखनलाल चतुर्वेदी का एक महत्त्वपूर्ण पत्र :

दिनांक : १० मई, ५७

श्री मन भाई सीतारामजी,

सादर सप्रेम नमन।

आपका कृपा - पत्र मिल गया। मैं पहले ही बीमार-सा रहता हूँ, फिर आ गये चुनाव जिसमें मैं सर्वथा चिन्ता-मुक्त नहीं रह पाया, इसी बीच एक सज्जन काशी से मेरी जीवन-घटनाओं को लिखने के लिये आ पहुँचे हैं, अतः प्रातःकाल का कुछ समय वे ले लेते हैं, और मैं थक जाता हूँ। इसीलिए मुझे उत्तर देने में विलम्ब हुआ। आशा है, आप मुझे क्षमा कर देंगे।

आपके कृपा-पत्र का अधिकांश, जो लेखक-समाज से सम्बन्धित है, ऐसा ही है, जो मेरे विचारों के साथ है। मेरे विचार से इस बोझ को इस समय समाज, मारवाड़ी समाज भी उठा ले तो बहुत काम हो सकता है। लेखक को उसकी मजदूरी भर मिल जाय, जब तक उसमें लिखने की शक्ति रहे। जब लिखने की शक्ति उसमें नहीं, तब एक तो उसकी सहायता का नियमित प्रबन्ध हो, दूसरे उसके लिखे ग्रन्थों पर उसे समुचित रॉयल्टी मिल जावे। कुछ लेखक गम्भीर विषयों पर लिखते हैं। जन-साधारण उनकी पुस्तकों को नहीं खरीदेगा--नहीं खरीद सकेगा। ऐसे लेखकों को पुस्तकों के पृष्ठों से नहीं, उनके वर्ष, गहरे अध्ययन और उनके द्वारा ख़र्च और जिल्लतों को देखकर उनका मूल्य चुकाना चाहिये। सरकार को लेखकों के--सब भाषा के लेखकों के--क्रम को चुनकर उन्हें एक तो भारत

तुमने कभी अपनी आमदनी और खर्च के बारे में [illegible] सोचा है ? तुम्हारी शादी हुए बाईस-तेईस वर्ष हुए होंगे। उस वक्त तुम्हें डेढ़ सौ रुपये महीना मिलता था और आज छः सौ मिलता है, पर सच बताना--क्या तुम आज ज्यादा ग़रीब, ज्यादा ग़मगीन नहीं हो ? आमदनी बढ़ी कम, पर बँटी ज्यादा, और बँटते-बँटते तुम, तुम्हारी पत्नी और तुम्हारी हर संतान ज़्यादा ग़रीब होती गई, ज्यादा अभावग्रस्त होती गई ! मेरी भाभी ताईद करेगी कि तुम्हारे पहले बच्चे को जितना दूध मिला, उतना तुम्हारे बाद वाले बच्चे को नहीं मिला, और इस तुम्हारे दसवें बच्चे को तो चाय का पानी मिल जाये तो भी बहुत है। किसने की यह हालत ? कौन लाया यह ग़रीबी तुम्हारे घर में ? किसने तोड़ दिया तुम्हारे और तुम्हारी पत्नी के स्वास्थ्य को ? किसने झकझोर दिया तुम्हारे दाम्पत्य को ? तुमने, तुमने, तुमने ! तुम स्वयं अपने दुश्मन हो, अपने कुटुम्व के दुश्मन हो ! कहाँ हैं आज तुम्हारी वे कल्पनाएँ, कामनाएँ, भावनाएँ ? सब उड़ गईं, सन्तानों को जन्म देने में और उनके बोझ को (हाँ बोझ ही तो,) ढोने में !

तुमको यह उपालम्भ और आदेश अच्छा भी नहीं लगेगा, पर चूंकि तुम मुझे अभी भी अपना मित्र मानते हो इसलिए मैं लिखे बिना नहीं रह सकता। दिल खोलकर तुम्हें कुछ लिख रहा हूँ--लिखूँगा। वैसे नया कुछ नहीं है ! जो कुछ कहना है, वह कितनी ही वार तुम्हें कह चुका हूँ, पर तुम तो ढीठ हो और अंधे भी। पिछली बार

और विदेशों में जाने की विशेष सुविधा देनी चाहिये, दूसरे उनके साहित्यिक परिश्रम को, उचित हो तो खरीद लेना चाहिये, तीसरे यह देखना चाहिये कि वे बेचारे रोटी-कपड़ा और मकान की चिन्ता से मुक्त हैं। बीमार लेखकों को मरने के लिये नहीं छोड़ देना चाहिये--उनका उत्तरदायित्व समाज को लेना चाहिये। हाँ, इस बात के लिये सावधान रहना चाहिये कि शासन या समाज के आसपास जमवट जमाकर काम निकालने वालों के पास सरकार या समाज के कान और ईमान रहन न हो जायँ। समाज की दृष्टि देश और विश्व के सुदूर कानों तक जावे और वह यथार्थ श्रेणी के लेखकों को खोज ले।

यह विषय बहुत बड़ा है। केवल पत्रोत्तर के रूप में मैं कहाँ तक लिखूँगा। आपने लेखक के गौरव की ओर सदैव ध्यान दिया है। आपके इस कृपा-पत्र को पाकर मैं सुखी हूँ। यदि आज बिना प्रसिद्धि का हल्ला मचाये, ऐसा कोई संगठन स्थापित हो सकता हो तो आप कृपापूर्वक प्रयत्न कर देखें। यह जरूरी नहीं है कि हम यह सूंघते बैठे रहें कि लोग हमारे विचारों का समर्थन करते हैं। हम तो उसी प्रकार उसके सहायक हों, जिस तरह प्रकृति प्रकाश, जल और भूमि को देते समय पक्षपात नहीं करती।

मैं बूढ़ा हो गया हूँ, साहित्य और समाज की मेरी मजूरी में कोई कमी रही हो तो आप और सब मित्र मुझे क्षमा कर दें। यही निवेदन।

विनम्र
माखनलाल

लड़की हुई, तब मैंने कितना समझाया था कि अपना आपरेशन करा लो पर तुमने एक न मानी। यह आश्वासन देकर खत्म किया कि तुम आगे से होशियार रहोगे, संयम रखोगे और जब मैंने तुम्हारे आश्वासन का भरोसा न कर और कड़े शब्दों में अपनी बात कही तो तुमने फिर भगवान की दुहाई दी, गाँधीजी की दुहाई दी और कहा कि जिसने चोंच दी है, वही चुग्गा भी देगा। तुमने वह कविता-सी भी एक कही थी—"**अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम, दास मलूका कह गये सबके दाता राम**"। तुम अंधे होकर संतान बढ़ाते गये और राम को मज़ाक का पात्र बनाते गये। देखा तुमने, कितनी चोंचें चुग्गे के बिना पतली पड़ रही हैं? समझा तुमने कि कितने मुँह खाने के बिना सूख रहे हैं, क्योंकि मुँह के साथ आये हुए हाथ काम करने लायक होते हुए भी बेकार हैं। दूर क्यों, अपने घर में ही देख लो। देखकर कुछ समझ में आवे, तो फिर मुझे बताओ कि मैं तुम्हें बधाई दूँ या कोसूँ। तुम सन्तानोत्पत्ति के अबाध क्रम के अजगर को अपने घर में लपेटा मारते हुए देख रहे हो। यही अजगर तुम्हारे घर से लेकर हर घर में दूर-दूर तक अपना घेरा फैला रहा है। इसे रोको भाई, अपने हित के लिए, सुख के लिए! आज मैं तुम्हें बधाई दूँगा तो यही दूँगा और उपालंभ दूँगा तो यही दूँगा कि अब अल्पविराम और अर्द्धविराम, नहीं, पूर्णविराम। हाँ, पूर्णविराम! मैंने तुम्हें अपनी एक बात कही थी जिस पर तुम और भाभी दोनों ख़ूब हँसे थे और मुझे एक प्रकार से निर्लज्ज भी बताया था—दूसरा विवाह करने के बाद जब मैं पत्नी सहित अपनी एक चाची से मिलने गया तो उन्होंने मेरी पत्नी को बड़े प्यार और आत्मीयता के साथ कहा, "शीली हो, सपूती हो, सात बेटों की माँ हो।" आशीर्वाद का वाक्य पूरा नहीं हुआ था कि मैंने अपनी चाची के मुँह पर हाथ रखकर बोलना रोक दिया था। मैंने कहा, "आप तो आशीर्वाद देकर अलग हो जायेंगी, पर हम सात बेटों को जन्म देकर अपना सारा स्वास्थ्य, सुख और संतोष खोकर दारुण दुःख में पड़ जायँगे।" अब तो मैं समझता हूँ, तुमने भी इस दारुण दुःख को समझा होगा। अगर अब भी न समझा हो, तो फिर समझने का शायद ही मौक़ा मिले? हाँ, तुम्हारी दारुण अवस्था से दूसरे ज़रूर लाभ उठायेंगे। भाई मेरे, आज दो या अधिक-से-अधिक तीन संतान ऊपर-से-ऊपर की सीमा है। यह राष्ट्र का निदान है; स्वस्थ जीवन का विधान है।

तुम्हें मालूम है न कि दुनिया के दूसरे देशों के आदमी आज किस प्रकार से विवेक और समझदारी से काम ले रहे हैं? जापान और पोलैण्ड के उदाहरण विशेष तौर से दूँगा। वहाँ योजनापूर्वक, परिवार-नियोजन के व्यवहार द्वारा जन्म-दर् पर पूरा नियंत्रण रखने में सफलता पायी गई है। जो देश इस तरह नहीं सोचते, वे बढ़ी हुई जनसंख्या को युद्धों में होम कर चन्द तानाशाहों की सत्ता के लिए बढ़ती हुई भूख को पूरा कर रहे हैं। केवल भूखों मरने का ही तो सवाल

नहीं है, अत्यधिक [illegible] मनुष्य के जीवन-स्तर को नीचा कर रहा है। जीवनोपलब्धि के क्षेत्र का सीमा-संकोच हो रहा है। उस दिन विश्व-इतिहासवेत्ता आर्नल्ड टायनबी की पुस्तक में पढ़ा कि "इस बात की चिन्ता नहीं कि दुनिया में ३ अरब की जगह ४ अरब लोग हो जायेंगे किन्तु चिन्ता का विषय यह है कि इतनी जनसंख्या बढ़ जाने पर सारे लोगों के मानवीय मूल्यों का विकास हो सकेगा या नहीं ?"

तुमने कभी तो निश्चय ही सोचा होगा कि मानव किसलिए है, मानव-जीवन का उद्देश्य क्या है ? यह तो साफ़ है कि न सिर्फ़ अपनी संख्या बढ़ाते जाना ही उद्देश्य है, और न सिर्फ़ मशीनों का उत्पादन बढ़ाते जाना ही——या कि सुख-विलास की वृद्धि और व्यक्तिगत अथवा सामूहिक सत्ता और प्रभुत्व की प्राप्ति ही। हमारा उद्देश्य वास्तव में जीवन के स्तर को बढ़ाना है, लगातार उसको बढ़िया बनाते जाना है। विज्ञान की भाषा में कहें तो मनुष्य-जीवन का उद्देश्य अपने विश्व के विकास की क्रिया में योग देना है अर्थात् अधिकाधिक मनुष्यों को अधिकाधिक जीवनोपलब्धि के अवसर प्रदान करना है जिससे कि वे व्यक्तिगत और सामाजिक रूप से अधिक पूर्णता की ओर अग्रसर हो सकें और वह भी इस प्रकार की आने वाली पीढ़ियों के लिए अधिक उपलब्धि का मार्ग अवरुद्ध न हो। तुम किसी भी विचारशील व्यक्ति से पूछो, वह बतायेगा कि अबाध-गति से बढ़नेवाली संतानोत्पत्ति जीवन-स्तर पर हमला कर रही है जिसके कारण जीवन की सारी या अनेक वांछनीय संभावनाओं का संकोच हो रहा है। क्या तुम चाहोगे या बर्दाश्त करोगे कि तुम्हारा अपना प्रजनन ही तुम्हारे पूर्व-प्रजनन का शत्रु बने और परिणामस्वरूप तुम्हारे सामने ही तुम्हारे बच्चे तुम्हारे प्यार के नहीं, तुम्हारी झुंझलाहट के शिकार बनें; तुम्हारी समृद्धि के नहीं, ग़रीबी के हिस्सेदार बनें और उनके जीवन-स्तर के निर्माण एवं विकास के सारे रास्ते और द्वार बन्द हो जायें ? तुमको मालूम है कि परिवार-नियोजन-आन्दोलन का जन्म संतान की सुख-वृद्धि के लिए हुआ था। परिवार-नियोजन की जननी मारगरेट सेंगर ने अवांछित संतान के अन्धकारमय भविष्य की कल्पना से दुखी होकर इस आन्दोलन का सूत्रपात किया था। मैं भी तुम्हें आज जो बातें लिख रहा हूँ, वे इसलिए हैं कि तुम्हारे बच्चे अधिक स्वस्थ बनें, सुखी हों, तथा तुम्हारा और तुम्हारे परिवार का सुख बढ़े, तनाव मिटे और जीवनोपलब्धि का स्तर उठे। तुमने ज़रूर उस दिन अख़बारों में पढ़ा होगा कि खाद्य और कृषि के विश्व-संघ के डिप्टी-डाइरेक्टर-जेनरल ने कहा था : "जब कि जन्म-दर अधिकांश देशों में निरन्तर बढ़ती जा रही है और मृत्यु-दर तेज़ी के साथ घटकर लगभग आधी हो रही है, हम सब कुछ भगवान या प्रकृति के नाम छोड़कर बैठे नहीं रह सकते। यदि ऐसा किया, तो हम भयंकर स्थिति में पहुँच जायेंगे। हमारे

देश में भी स्वास्थ्य-सुधार की नाना योजनाओं के फलस्वरूप मृत्यु-दर तेज़ी के साथ घट रही है पर जन्म-दर में ज़रा भी कमी नहीं हो रही, बल्कि बढ़ने के ही लक्षण हैं। नतीजा यह है कि प्रतिवर्ष हमारी समस्त विशद् योजनाओं पर, प्राप्त और प्राप्य साधनों पर अधिकाधिक बोझ बढ़ रहा है।"

जाने दो विश्व-समस्या की बात नहीं करेंगे, देश का प्रश्न भी रहने दो पर तुम अपने कलेजे पर हाथ रखकर देखो कि अविवेक और अन्धविश्वास ने तुम्हारी क्या हालत कर दी है और मुझे तो तुमसे भी ज्यादा तुम्हारे बच्चों पर तरस आता है जिनको तुमने तो पैदा कर दिया पर जिनके शारीरिक और मानसिक पोषण के साधन और व्यवस्था का कोई ठिकाना नहीं! उनको माँ का प्यार और पिता का स्नेह एवं सहानुभूति नहीं मिली। कुल मिलाकर वे एक संघर्ष और तनाव में पैदा हुए, उसी में आज रह रहे हैं और शायद जन्म भर अपने लिए तथा दूसरों के लिए संघर्ष और तनाव ही रहेंगे। यह हालत कितनी दयनीय है, कितनी चिन्तनीय है? तुम इसके जनक, बच्चे इसके शिकार और मैं तुम्हारा मित्र इसका दर्शक! कितना बड़ा दुर्भाग्य है हम सबका! यह हमारा दुर्भाग्य देश का दुर्भाग्य बन रहा है। सारी मानव-जाति का भी! यह संकट तभी टलेगा, जब तुम-हम सारे लोग व्यक्तिगत तौर पर इस दिशा में कार्य करें।

बहुत लम्बा पत्र लिख गया हूँ और बधाई की एक बात नहीं, ख़ुशी का ज़रा-सा इज़हार नहीं, पर शायद जो कुछ मैंने लिखा है, उसको समझने और मान लेने में ही ख़ुशी का सागर भरा है, ख़ुशी का ख़ज़ाना छिपा हुआ है! यदि यह पत्र पाकर तुम्हारा विवेक जाग्रत हो सका और तुम अपने कर्त्तव्य एवं दायित्व के प्रति सचेष्ट हो सके, तो मैं तुम्हें सौ-सौ बधाइयाँ दूँगा, न सही दसवें बच्चे के जन्म के लिए, पर दस के भविष्य के लिए! यह पत्र रोष भरा है, परन्तु रोष के पीछे प्यार है क्योंकि जहाँ प्यार नहीं है वहाँ रोष करने-कराने का सवाल ही कहाँ आता है। तुम यह पत्र ख़ुद तो पढ़ोगे ही, पर एक दफ़ा सबको साथ लेकर भी बैठना और इसको पढ़ना।

हाँ, व्यक्तिगत होते हुए भी यह पत्र एक सामाजिक-सार्वजनिक समस्या के विश्लेषण का पत्र हो गया है। इसलिए यदि मैं इसे पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करवा दूँ तो भी मेरा विश्वास है, तुमको आपत्ति नहीं होगी!

तो, बस मेरा यही पत्र तुम्हारे दसवें बालक के जन्म पर मेरी ओर से तोहफ़ा है, बधाई है, अभिनन्दन है, संदेश है, जो तुम्हारे लिए होकर सबके लिए भी है। पूर्ण विराम! हाँ, पूर्ण विराम की मनोकामना के साथ।

१६२/२६/१, प्रिंस अनवरशाह रोड,
कलकत्ता-३१

तुम्हारा अभिन्न

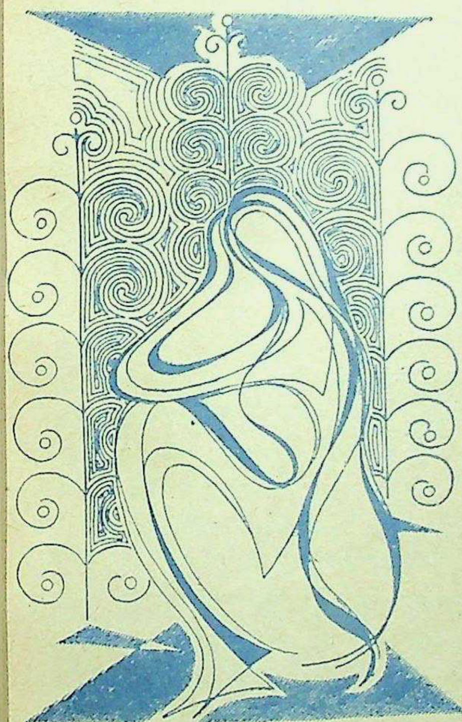
. . . .

•

मेरे महबूब ! मेरे तसव्वर !!

अमृता प्रीतम

दिल की धड़कनों से स्पन्दित एक शुद्ध प्रेम-पत्र ।



मेरे महबूब ! मेरे तसव्वर !

मुझे अपनी सारी ज़िन्दगी ऐसे दिखाई देती है जैसे मैंने तुम्हें एक ख़त लिखा हो ! मेरे दिल की हर धड़कन एक अक्षर है, मेरी हर साँस जैसे कोई मात्रा, हर दिवस जैसे कोई फ़िकरा और सारी ज़िन्दगी एक ख़त !

अगर कहीं यह ख़त तुम तक पहुँच जाता, मुझे किसी भी भाषा के शब्दों की मुहताजी न होती ।

पाल पाट्स ने यही मुहताजी करते हुए लिखा था :

"I have tried to make the English language fall in love with the thinking in my heart."

पर किसी भी भाषा को अब तक ख़यालों से इस तरह की मुहब्बत नहीं हुई कि यह सारा ख़त लिखा जा सके ।

यही मुहताजी करते हुए मने जितने भी ख़त लिखे, जितनी भी कहानियाँ, जितने भी उपन्यास––वे सब मुझे इस ख़त के कुछ फ़िकरे लगते हैं, पर सारा ख़त नहीं ।

आज मेरे दिल में [illegible] साथ इस ख़त की बातें करूँ और शब्दों की इस मुहताजी की बातें।

कई सालों की बात है। एक बार मुझे तुम्हारी कल्पना की इस धरती पर झलक मिली। एक बेगाना गाँव था जहाँ मैंने उसे देखा और मैंने अपने-आपसे पूछा : "गाँव बेगाना है, पर वह क्यों बेगाना नहीं ?"

हम सबको उस गाँव से लौटकर आना था। पिछले कई दिनों की वर्षा से रास्ते टूटे हुए थे। हमें खेतों के साथ-साथ कई मील चलना था और फिर हमें शहर की पक्की सड़क मिल जाती थी। पन्द्रह-बीस आदमियों का एक छोटा-सा काफ़िला था।

कीचड़ के छींटे उड़कर हमारे कपड़ों पर पड़े और कल्पना उन छींटों में केशर का रंग भरने लगी।

उसके पतले-लम्बे बुत की परछाईं मुझ पर पड़ी। और मुझे उसी पल से लगने लगा कि मैं हर घड़ी उसकी परछाईं तले रहने लगी थी।

एक दिन मैंने किसी से कहा, "अगर तुम एक दिन उसे मेरे घर बुला दो !..."

कहने वाले का मुख जाने कितना अच्छा था। मेरे घर की दहलीज़ों ने उसके क़दमों को छुआ। यह वह घड़ी थी जब कल्पना के काले बादलों को असलियत ने सुनहरी कन्नी जोड़ दी।

उस रात सपने में मैंने उसकी पीठ देखी। पतले शरीर पर खुली सफ़ेद कमीज़ पहन रखी थी। मेरे पास मेरे पिताजी खड़े हुए थे, उन्होंने उसकी पीठ की ओर संकेत किया और मुझसे पूछा, "पहचान सकती हो ?"

"हाँ।"

"[illegible] है।"

यह तो मुझे अपनी जाग्रत अवस्था में ही मालूम हो गया था कि वह मेरी क़िस्मत है। सपना शायद इसलिए आया कि यह शब्द अपने बाप के मुँह से सुनकर मैंने अपनी मानसिक स्थिति के लिए दुनियावी क़ीमतों से भी एक स्वीकृति ले ली हो।

श्री किशोरीदास वाजपेयी के नाम श्री बनारसीदास चतुर्वेदी का एक व्यक्तिगत पत्र :

९९, नार्थ एवेन्यू, नई दिल्ली
२३-१२-६१

प्रिय वाजपेयी जी,

प्रणाम !

आपका कृपापूर्ण पत्र मिला। बहुत बहुत धन्यवाद।

लहसुन तो कभी-कभी खा लेता हूँ और अब ८-१० दिन से ईसबगोल की भूसी लेने लगा हूँ, जो लाभदायक सिद्ध हो रही है। पर छाजन एक हठी बीमारी है। अन्य चीज़ों के बारे में फिर प्रयोग करूँगा।

आगरे के डाक्टर ने शक्कर खाने की मनाई कर दी है—किसी चौबे के लिये यह मृत्युदंड के समान भयंकर दण्ड है। फिर भी बदपरहेज़ी कर लेता हूँ, हाँ याददाश्त जवाब देने लगी है।

सामाजिक-क़ीमतें झूठी थीं या सच्ची, मैं उसके बारे में कुछ नहीं कहती, केवल यही कहती हूँ कि इन क़ीमतों की मैंने भी लाज रखी है और उसने भी। इन क़ीमतों से मैंने सपनों की इजाज़त ले ली थी, अगर इतनी भी छूट न होती तो मेरी साँस इतने वर्ष न चल पाती।

एक रात फिर मैंने उसे सपने में देखा

मुझे बुखार था, मेरे तपते हुए माथे पर उसने हौले से अपना हाथ रखा। वही चुपचाप मुँह।

"तू !....मैंने सोचा, था तू कभी नहीं आएगा।"

"मैं तो जानता था कि मैं आऊँगा।"

आगे कोई शब्द नहीं, शायद इस मिलन

*

नाम भूलने लगा हूँ, इसके मानी यही हैं कि रिटायर होने का वक्त आ गया है। अंग्रेजी लेखक एच० जी० वेल्स जब ७० के हुए तो उनका अभिनन्दन किया गया। उन्होंने कहा, "बाल्यावस्था में हमारी आया कहती थी, 'हेनरी, अब सोने का वक्त आ गया है' 'Henry, it is time to sleep now' सो मैं भी अब विश्राम करना चाहता हूँ— पेश्तर इसके कि दिमाग पिलपिला हो जाय।

कृपाकांक्षी

बनारसीदास

(हाशिये पर)

रूस में मैंने गिनती की ७ बूँद वोडका (ठर्रा) की ली थीं। उनका नशा अब तक चढ़ा है।

यह गाजर के हलवे से निशान बन गये हैं, जबकि शक्कर मेरे लिए हानिप्रद है!

*

को शब्दों की कोई मुहताजी नहीं थी। जब मैं जागी—एक गीत मेरे होंठों पर छलक रहा था :

"यह रात सारी तेरे खयालों में गुज़ारकर अभी जगी हूँ सातों बहिश्तें उसार कर।"

....और मैंने फिर सुना कि उसकी जिन्दगी में अब ऐसी मुहब्बत आ गई थी जो दुनिया की हक़ीक़त बनकर उसका साथ दे सकती थी।

उस रात सपने में मैंने उसे देखा। और उसे भी, जिसका नाम अब उसके नाम के साथ जोड़ा जाता था। उस लड़की के कुंडलाए बालों में मैंने अपने हाथों गुलाब का फूल टाँका, वही फूल जो उसने कभी मेरे बालों में लगाया था। और फिर मैंने अपनी कलाई की घड़ी उतारकर उस लड़की की कलाई पर बाँध दी, वही घड़ी जो उसने कभी मेरी कलाई पर बाँधी थी।

कुछ देर हुई कहीं पढ़ा था : "If I had to describe my life in one word, I should use the word 'loneliness' twice."

उस दिन मुझे मालूम हुआ कि एक पूरे वृक्ष का विस्तार सिमटकर कैसे एक बीज में बन्द हो सकता है! उस दिन मुझे मालूम हुआ कि मेरी सारी ज़िन्दगी एक खत नहीं, एक 'पैरा' नहीं, एक फ़िकरा नहीं, सिर्फ़ एक लफ़्ज़ है। एक ही लफ़्ज़ 'एकाकीपन'।

कुछ दिनों बाद यह भी पता चला कि उसकी ज़िन्दगी के इस मोड़ ने उसे भी किसी मंज़िल पर नहीं पहुँचाया, पर इस बात से भी मेरे 'एकाकीपन' को कोई हुँकारा नहीं मिल सकता था।

उसके जन्म-दिन पर मैंने उसे एक खत लिखा था, पर डाक में नहीं डाला था। वह खत तुम्हें दिखाती हूँ :

कुदरत ने मेरे इस जिन्दगी के घर में
तुम्हारी याद की एक खिड़की बना दी।
इस खिड़की को उसने द्वार क्यों न बनाया
जिस द्वार से गुजरकर मैं तुम्हारे घर जा सकती।
जिस द्वार से गुजरकर तुम मेरे घर आ सकते।

यह कुदरत की इच्छा
मैं इस खिड़की में खड़ी रहती थी
कभी तुम्हारी झलक पड़ जाती थी
कभी तुम्हारी आवाज़ सुनाई दे जाती
मैं तुम्हारी झलक का गीत बना लेती थी
मैं तुम्हारी आवाज की कहानी बना लेती थी।
और फिर तुम्हारी झलक बेगानी हो गई
और फिर तुम्हारी आवाज पराई हो गई।
मेरे गीतों की ज़ुबान पर जैसे छाले पड़ गए।
मेरी कहानियों के पाँवों में जैसे काँटे चुभ गए।
मैंने यह खिड़की भिड़का दी।
ज़ोर से भिड़का दी।

वर्ष बीत गए।
जाने कितने वर्ष!
और फिर मुझे लगा
तुमने इस खिड़की को खटखटाया था।
मैंने इस खिड़की को खोलना चाहा, यह
खुलने में न आए
वर्षों से भिड़काई हुई खिड़की
वर्षों से जंग लगी खिड़की!

—और फिर यह खिड़की खुल गई
साँकल भुरभुराकर दूर जा पड़ी
कब्जे कागज़ों की तरह बिखर गए।

वहाँ न कोई तुम्हारी झलक थी
वहाँ न कोई तुम्हारी आवाज़ थी।

वर्ष बीत चले
मालूम नहीं कितने वर्ष!
और अब इस खिड़की को भिड़काने का
अधिकार भी
मेरे पास नहीं।

बाहर जब मेंह बरसते हैं
इस खिड़की से तीखी बौछार अन्दर आती है।
बाहर जब आँधियाँ चलती हैं
इस खिड़की में से अपार रेत उड़ती है।
बाहर जब तूफ़ान झूलते हैं
इस खिड़की में जाने कितनी बिजलियाँ
टूटती हैं!
और मैं जिन्दगी के इस घर में काँपती
रहती हूँ।

दुखान्त यह नहीं होता कि रात की कटोरी को कोई ज़िन्दगी के शहद में भर न सके और असलियत के होंठ कभी उस शहद को चख न सकें...

दुखान्त वह होता है जब रात की कटोरी से चाँदी की कलई उतर जाए और उस कटोरी में रखी हुई कल्पना कसर जाए।

दुखान्त यह नहीं होता कि आपकी क़िस्मत से आपके साजन का पता न पढ़ा जाए और आपकी उमर की चिट्ठी हमेशा भटकती रहे।...

दुखान्त वह होता है कि आप अपने प्यारे की और अपनी उमर की सारी चिट्ठी लिख लें और फिर आपसे आपके प्यारे का पता खो जाए।

दुखान्त यह नहीं होता कि ज़िन्दगी की लम्बी राह पर समाज के बंधन अपने काँटे खिलाते रहें और आपके पाँवों से सारी उमर ख़ून बहता रहे....

दुखान्त वह होता है कि आप ख़ून से लथपथ पाँवों को लिये उस स्थान पर ठहर जाएँ जिसके आगे कोई रास्ता आपको आवाज़ न दे।

दुखान्त यह नहीं होता कि आप अपने

इश्क़ के ठिठुरते बदन के लिए सारी उमर गीतों के कुर्त्ते सीते रहें...

दुखान्त वह होता है कि कुर्त्तों को सीने के लिए आपके पास खयालों का धागा खत्म हो जाए, और आपकी क़लम-सुई की नोक टूट जाए !

मैंने कभी एक कविता लिखी थी :

क़लम ने तोड़ा है अब गीतों का काफ़िया,
इश्क़ मेरा आ गया है किस मुक़ाम में ।
देख नज़रों वाले मैं बैठी हूँ सामने,
तली में से हिज्र का काँटा निकाल दे ।
उठ ! अपने घड़े से पानी ज़रा-सा दे
धो लूँगी आज बैठकर राहों के हादसे ।

तसव्वर के घड़े में से किसी को पानी मिलता है जिससे राहों के हादसे धुल जाएँ तसव्वर ! लाख नज़रों वाला हो पर वह ज़िन्दगी की तली में से हिज्र की फाँक को नहीं निकाल सकता । क़लम लाख बार गीतों के काफ़िए तोड़ ले, पर उसके काफ़िए फिर जुड़ जाते हैं । सिर्फ़ दिल का गीत वह गीत है जिसका काफ़िया कहीं नहीं मिलता और दिल का गीत हमेशा एक ही पंक्ति बनकर रह जाता है ।

इश्क़ का ऊँचे-से-ऊँचा मुक़ाम 'एकाकीपन' है । एक एकाकीपन का दूसरे एकाकीपन को देखना और पहचानना ही वह दूसरा काफ़िया है जिसे कोई अपने दिल के काफ़िए से मिला सकता है । इस तरह दुनिया के सब एकाकी दिल, वे एकाकी पंक्तियाँ हैं जो मिलकर ज़िन्दगी का एक महान गीत बनाती हैं पर जिसमें हर कोई एक पंक्ति का कवि है, एक अकेली पंक्ति का ! ●

ऐबेलार्ड के नाम हैलॉय के पत्र का एक अंश

कौन-सी प्रेरणा है जो पत्र नहीं दे सकते ? उनमें प्राण होता है, आत्मा होती है; वे मुखर होते हैं; हृदय की समस्त भावानुभूतियों को वहन करने की उनमें अपूर्व क्षमता होती है । यह क्षमता उन्हें पत्रों से ऊपर उठाकर व्यक्ति बना देती है । उनमें समस्त मधुरता, भाषा की कोमलता और इन सबसे अधिक भावनाओं का स्पष्टीकरण होता है । मुझ जैसे दयनीय एकाकी व्यक्तियों के हेतु ही पत्र का आविष्कार हुआ था ।....तुम्हें पाने का अधिकार और तुम्हारे दर्शन का सुख खो चुका हूँ ; तुम्हारे पत्रों को पढ़कर मुझे जो सांत्वना मिलेगी वही इस क्षति की आंशिक पूर्त्ति होगी । उन्हीं में मैं तुम्हारी पवित्र भावनाओं को जान सकूंगा ।

कुँवर नारायण

•

मैं तुम्हारी कामयाबी का क़ायल हूँ, मेरे दोस्त,
मैं तुम्हारी महानता को मानता हूँ,
क्योंकि मैंने तुम्हारा नाम सुन रखा है,
गो कि तुम्हारे काम को ठीक से नहीं जानता हूँ।

क्योंकि मुझे कलाकार की सचाई में विश्वास है
इसलिए जो कुछ भी मेरे सामने है कला के नाम पर
मुझे उसकी गहराई (या ऊँचाई ?) में विश्वास है....

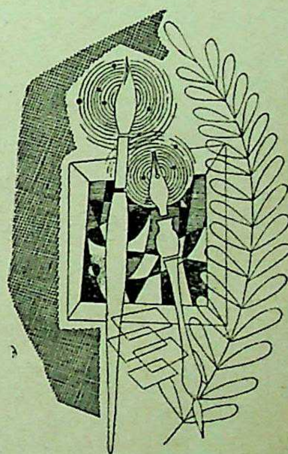
लेकिन मेरे सामने एक मामूली-सी मुश्किल है
जो यह जानना चाहता हूँ कि इस कला में
कितना दिमाग़ और कितना दिल है।
लेकिन तुम यह भेद खोलते नहीं :
न जाने क्यों अपनी कला की ओर से कुछ बोलते नहीं :
चाहते हो कला तुम्हारी ओर से कुछ बोले।
तुम उसकी चुप्पी को तरह-तरह उकसाते हो कि वह
तुम्हारे अन्तर्मन की जटिल गुत्थियों को खोले।

एक कलाकार मित्र को

लेकिन जब तुम विवश अनुभव करते हो--
अपनी सामर्थ्य से अधिक कुछ कहलवा सकने में,
तुम इस सारे माध्यम को ही अस्वीकार कर लटका देते हो,
रंगों को पाँवों से ढकेलकर कैनवस पर लुढ़का देते हो,
कूचियों को फेंक स्वयं लोट जाते हो उन रंगों पर,
गोपनीय को उगल लेते हो अनावृत अंगों पर.... ।

और इस विगलित माध्यम में जब कभी भी दीख जाती हैं
दो विक्षिप्त आँखें--कला की या कलाकार की--
तब क्यों संभव हो पाती है केवल सहानुभति ?
(क्यों नहीं मानवीय एकात्मता ?)

क्यों ओठों पर यह अनाड़ी प्रश्न छलक आता है--
ऐ मेरे कलाकार दोस्त,
मेरे और तुम्हारे बीच जो ये रँगी रेखाएँ टँगी हैं
कला के किस व्याकरण से अर्थवती होंगी ?
इन खूँख्वार रेखाओं में जो ये अंग-भंग
छीछालेदर नग्नताएँ फँसी पड़ी हैं
किन पुंसक इच्छाओं से गर्भवती होंगी ?
सृजन की किन परिस्थितियों को समझ लेने के बाद
ये वीभत्स आकृतियाँ रूपवती होंगी ?



मैं मानता हूँ कि यह मेरी ही मजबूरी
जो मेरे और तुम्हारे बीच ऐसी दूरी है
कि मैं इस कला के बावजूद भी उस तक नहीं पहुँच पाता हूँ
जिसकी महानता को मानता हूँ,
जिसके नाम को जानता हूँ,
और जिसकी सचाई में मुझे विश्वास है ।

●

वन्य जीवन की हृदय दहला देने वाली रोमांचकता और साहसिकता को मूर्त कर देने वाले कुछ पत्र।

ढिकाला कैम्प, ५ मई

प्रिय आनन्द,

दिल्ली से तीस अप्रैल को चलकर हमलोग एक मई की साँझ तक ढिकाला पहुँच गये। हमलोग से मतलब 'बिरला पब्लिक स्कूल, पिलानी' के उन छात्र और अध्यापकों से है जो अपने सुयोग्य हेडमास्टर श्री रमणजी के साथ 'आरण्यक संघ' के हमारे इस वर्ष के ग्रीष्म-कैम्प में सम्मिलित हुए हैं। लेकिन एक बात सच है, दिल्ली से ट्रेन में बैठकर मुरादाबाद और काशीपुर होते हुए रामनगर तक पहुँच जाना उतना कठिन नहीं है, जितना रामनगर से ढिकाला पहुँचना। कहने को जंगल का यह टुकड़ा इकत्तीस मील से अधिक नहीं है, किन्तु इसके घने वनों में बाघ-बघेरों और भालुओं के अचानक आ निकलने की जो आशंका प्रतिक्षण भरी रहती है और मौत का वारंट लेकर घूमते हुए बिगड़ैल हाथियों का भय हृदय में हरदम धड़कन पैदा किये रहता है वही इस छोटे-से मार्ग को दुर्गम बनाये हुए है। विचित्र हैं ये हाथी। उन्हें देखकर मध्ययुग के उन बर्बरों की याद हो आती है—विनाश और संहार ही जिनके जीवन का लक्ष्य था। सभी जानते हैं, विभाग ने इस वन में जो एक खूब चौड़ी सड़क बनवा रक्खी है और उसके प्रत्येक वनमील में लाल रंग के जो माइल-स्टोन और दूसरे प्रकार के साइनबोर्ड लगवा रक्खे हैं वे पर्यटकों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, परन्तु इन हाथियों के खयाल में उनका कुछ भी मूल्य नहीं है। जहाँ भी पाते हैं पैर की ठोकर से तोड़ डालते हैं। उस दिन



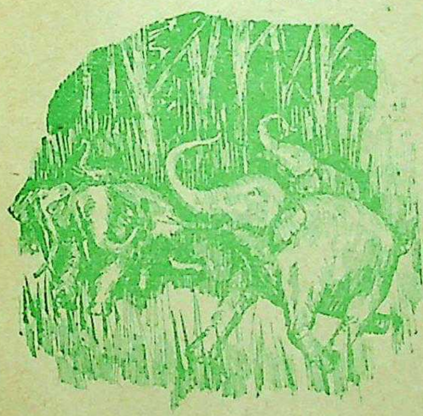
श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार

शेरों की माँद से

इस मार्ग से आते हुए मैंने ऐसे कितने ही माइल-स्टोन और साइनबोर्ड सड़क के किनारे की धूल में लोटते देखे थे। ऐसा ही है उस मार्ग में हाथियों का उत्पात।



मगर लो, मैं यह सब तुम्हें क्या लिखने बैठ गया हूँ। तुम्हारे लिए ये सब बातें नई थोड़े ही हैं। तुम्हारा तो यह जंगल खूब देखा हुआ है। आज से चार वर्ष पहिले मैं जब श्याम और विपिन के साथ इधर आया था तब तुम भी हमारे साथ थे। याद है न, उस साल हम बड़े सवेरे ही रामनगर से ढिकाला की तरफ़ चल पड़े थे और लगभग पन्द्रह मील चलने के बाद एक ऐसी जलधारा पर जा पहुँचे थे जिसके किनारे की वृक्ष-छायाओं में चित्तल-हरिणों का एक भारी झुण्ड विश्राम कर रहा था। उन्हें देखकर यद्यपि आँखें खूब तृप्त ही हुई थीं किन्तु हमारे मन में हिंस्र पशुओं से भेंट करने की जो अदम्य अभिलाषा उस समय छिपी थी वह तृप्त नहीं हो सकी थी। होती भी कैसे। इन भोले मृगों में वैसा भय पैदा करने की क्षमता ही कहाँ थी? वह तो तब तृप्त हुई, जब और भी दस मील आगे निकल जाने के बाद विपिन ने अचानक ही मेरा कन्धा छूकर धीरे से कहा—"अरे निधि, वह शेर!" सचमुच शेर ही था वह! बड़ी ही मस्त चाल से चला जा रहा था। याद है न, तब एक चट्टान के पीछे छिपकर हम कितनी देर तक उसे देखते रहे थे। उस दिन उसके उस भयानक रूप ने ही हमें तृप्त किया था। उसके बाद तो जैसे हिंस्र पशुओं का ताँता ही लग गया था। पहिले मिले दो काले रीछ, फिर हाथियों का एक झुण्ड और अन्त में पाँच-छह क्रोधी सूअर, जिन्हें देखकर हमें मानना पड़ा था कि हमारी यह इकत्तीस मील की यात्रा ज़रा भी असार्थक नहीं हुई है।



मगर इस बार वैसी बात नहीं है। उस दिन थे हम पैदल, आज थे बस के यात्री। तिस पर चालीस सवारियों को अपने अंक में बिठाकर बस जिस प्रबल वेग से भागी जा रही थी उससे यह समझ लेना ज़रा भी कठिन न रह गया था कि आज शायद किसी भी वन्य-पशु से भेंट न हो सकेगी। और,

वही हुआ भी । उस बस-दानवी ने ढाई ही घंटे में हमें ढिकाला ला पहुँचाया और थोड़े से लंगूरों और एकाध काकड़ के अतिरिक्त हम किसी भी वन्य पशु को न देख सके ।

यात्रा की इस असफलता ने मुझ पर क्या प्रभाव डाला यह तो छोड़ो, मगर मेरे साथियों के लिए--विशेषकर किशोर वयस् के उन छात्रों के लिए जो कितने ही महीनों की तैयारी के बाद बड़ी आशा से हमारे कैम्प में शामिल हुए थे, यह जंगल बहुत ही निराशाजनक सिद्ध हुआ । एक छात्र तो कह ही बैठा, "सर, इस इकतीस मील के जंगल में क्या एक भी शेर-तेंदुआ नहीं रहता ?" हँसी आ गई । उसे आश्वासन देते हुए केवल उतना ही कहा--"अभी तो कैम्प प्रारंभ ही हुआ है । अभी से क्यों घबरा गये ?"

और आश्वासन सच निकला । अगले ही दिन छात्रों की इच्छा पूर्ण हुई । मैं तब मध्याह्न का भोजन पाकर डार्मिटरी के अपने कक्ष में आराम से लेटा हुआ था कि अकस्मात् हेडमास्टर रमणजी की पुकार सुनाई पड़ी-- 'निधिजी, जल्दी आइये । रामगंगा के पार इक्कड़ हाथी खड़ा है !' रामगंगा हमारी डार्मिटरी से दूर नहीं है । नीचे ही बहती है । सुनते ही बाहर निकल आया और काँटेदार तारों के घेरे के पास पहुँच जैसे ही नदी के पार देखने लगा, सचमुच ही एक अकेला हाथी नदी में खड़ा था । लंबे दाँत । भारी डील-डौल । बहुत ही भयंकर लग रहा था वह । किन्तु नदी में से निकल वह जब किनारे के वृक्षों की डालियाँ तोड़ने लगा और बीच-बीच में उनके तनों से टक्करें भी मारने लगा तब तो उसकी भयंकरता और भी बढ़ गई । छात्रों की प्रसन्नता का तो ठिकाना नहीं था । कितने ही तो नाचने लगे । उस इकत्तीस मील के जंगल में किसी वन्य-पशु के न दीखने के कारण उनके मन में निराशा के जो मेघ छा गए थे इस अकेले हाथी ने उन्हें एक ही साथ तितर-बितर कर दिया ।

परन्तु लगता है, आशा की वह चमक क्षणिक ही थी । क्योंकि उस इक्कड़ हाथी के बाद फिर कोई जानवर दिखाई नहीं पड़ा । तीन दिन सूखे ही बीत गये । यह नहीं कि हम जंगलों में घूमे नहीं । तीन मई को गये थे रामगंगा के जंगल में, चार मई को पटेरपानी के वन में और पाँच मई को भटके थे बक्सार के जंगल में । कुल मिलाकर लगभग चालीस मील के जंगल हमने छान मारे थे । मगर हरिण-सूअरों के अतिरिक्त काम का जानवर एक भी नहीं मिला । लिहाजा पहलेवाली निराशा फिर लौट आई है । अब तो छात्रों का यही मत है कि ढिकाला के इस विश्वप्रसिद्ध नेशनल-पार्क का यों ही ढोल पीटा जा रहा है । यह जो दावा किया जाता है कि यह शेर-बघेरों, रीछ-हाथियों और जंगली कुत्तों तथा अजगरों का घर है, वास्तव में यह बात सत्य नहीं है । हाँ, हाथी अवश्य हैं । मगर थोड़े ही । ऐसा ही वातावरण इन दिनों कैम्प में बना हुआ है । किन्तु जानते हो, मुझे क्या लग रहा है ? मुझे लगता है, यह निराशा अत्यन्त क्षणिक है । एक दिन अवश्य ही वन-देवता इसे नष्ट कर देंगे । अच्छा, शेष फिर ।

--श्रीनिधि

●

दिल्ली, ७ मई

प्रिय निधि,

तुम्हारा पाँच मई का पत्र मिला। पढ़कर बहुत दिनों से सोया जंगल का नशा एक बार फिर जाग उठा। इच्छा होने लगी कि उड़कर सीधा तुम्हारे पास पहुँच जाऊँ। मगर तुमने जो यह लिखा है कि तीन दिन तक निरंतर जंगल-जंगल भटकने के बाद भी वन्य-पशु नहीं दीखे, इसमें भला आश्चर्य की कौन बात है ? तुम्हीं तो कहा करते हो, करुणामयी प्रकृति ने अपनी इस मूक सन्तान की रक्षा के लिए जान-बूझ कर ही ऐसी व्यवस्था की है। वह अपनी इन सन्तानों को मानव-नेत्रों का सस्ता भोजन नहीं बनाना चाहती ! तभी तो सृष्टि के प्रारम्भ से ही वन्य-पशु मनुष्य के लिए रहस्य बने हुए हैं। मगर इसका यह अर्थ नहीं कि तुम वन्य-पशुओं को देख ही न सकोगे। विश्वास रक्खो, वे तुम्हें अवश्य दर्शन देंगे। उस रामगंगावाले इक्कड़ हाथी की तरह वन-देवता अवश्य ही अपनी दूसरी भयंकर सन्तानों को भी तुम्हारे देखने के लिए भेजेंगे। जब भेजें, सूचित करना। क्योंकि तुम्हारे कैम्प में सम्मिलित होने का अवसर न पा सकने के कारण अब मैं केवल तुम्हारे पत्रों द्वारा ही उसमें सम्मिलित होने का भरोसा किये हुए हूँ। हाँ, अच्छा याद आया। तुमने अब तक बक्सार के मगरमच्छ और मचान नम्बर पाँच के पास खड़ा वह चार सौ वर्ष प्राचीन साल का वृक्ष तो, जिसकी ऊँचाई एक सौ छियालीस फुट और तने का घेरा इक्कीस फुट पाँच इंच है, अपने छात्रों को दिखा ही दिया होगा। मचान नम्बर एक तो तुम्हारी डार्मिटरी के पास ही है। यदि उस पर तुम्हारे छात्रों ने दो-एक रातें भी बताई होंगी तो अवश्य ही उन्हें जंगल के रोमांच का अनुभव हुआ होगा। उस भयंकर नाइटजार पक्षी की धुक-धुक आवाज़ों ने भी अवश्य दिल में धड़कन पैदा की होगी। अच्छा, नमस्कार !

—तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा में

आनन्द

●

ढिकाला, ९ मई

प्रिय आनन्द,

तुम्हारे सात मई के पत्र की मंगल कामनाएँ सफल हुईं। आज वन-देवता ने एक की जगह इक्कीस जंगली हाथी दिखाए, जिनमें यद्यपि हथिनियों और बच्चों की ही अधिकता थी, मगर एक ख़ूब ऊँचा नर-हाथी भी था, जो अवश्य ही यूथपति रहा होगा। उसका पहाड़-सा काला शरीर और लम्बे दाँत दूर से ही घोषणा कर रहे थे—इधर न आना, यहाँ मृत्यु है ! मगर विराज और स्वामी सुन्दरानन्द उसके पास जा ही पहुँचे। कुछ देर तक तो वह उनके इस अति साहस को सहन करता रहा और अपने तथा अपने यूथ के फोटो-चित्र लेने का अवसर देकर उनकी इच्छा को भी पूर्ण करता रहा, मगर जब देखा, ये तो पिण्ड ही नहीं छोड़ रहे, झल्ला कर वह एक ही साथ इनकी तरफ़ घूम पड़ा और कुछ दूर तक उनकी ओर बढ़ भी आया। वह यदि कहीं इक्कड़ हाथी रहा होता तो अवश्य ही घटना का रूप भयंकर हो गया होता। मगर वह था यूथ का हाथी। थोड़ी दूर बढ़कर ही लौट गया। घटना अच्छी मनोरंजक और रोमांचपूर्ण थी। छात्र तो इतने

सन्तुष्ट हुए कि चहल और मित्तल तो उस मैदान में ही नाचने लगे। मगर मेरी प्यास अब तक भी नहीं बुझी है। मैं तो आज भी किसी ऐसी घटना की प्रतीक्षा में हूँ जिसे यथार्थ में ही घटना कह सकूँ। लेकिन कठिनाई यह आ पड़ी है कि दिन पंछी की उड़ान भर रहे हैं। कैम्प की अवधि प्रतिक्षण छोटी होती जा रही है। सोचता हूँ, ऐसा अवसर पा भी सकूँगा कि नहीं। तो भी प्रतीक्षा में तो हूँ ही।—लो, रामनगर जाने वाला डाकिया आ पहुँचा। जल्दी मचा रहा है। पत्र यहीं समाप्त करना पड़ रहा है......

—श्रीनिधि

ढिकाला, १३ मई

प्रिय आनन्द,

तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा रही। नहीं आया। कुशल से तो हो न? इधर कैम्प के अन्तिम दिनों में एक अच्छी घटना घट गई। जैसी चाहता था वैसी ही। हमारी डार्मिटरी से लगभग मील भर दूर, रामगंगा से लगा हुआ एक वन है,जो शेर-बुज्जी कहलाता है। वन सघन झाड़ियों और ऊँचे वृक्षों से भरा है। इधर के लोगों का कहना है कि इस वन में दो-तीन शेर सदा ही बने रहते हैं। शायद इसीलिए वन-विभाग की तरफ़ से इसमें दो-तीन पक्की मचानें बाँध दी गई हैं, जिन पर बैठकर आराम से शेर को देखा जा सकता है। दस मई की रात को दो कटड़े इस वन में बाँधे गए थे जिन्हें शेर ने उसी रात मार दिया था और थोड़ा-सा माँस खाकर वह अगले दिन के लिए उनकी लाशें वैसे ही छोड़ गया था। ग्यारह मई को बड़े सवेरे ही कैम्प में वनाधिकारी का सन्देश आया कि आज हाँका होगा, यदि हमारे छात्र शेर देखना चाहें तो प्रातः साढ़े सात बजे तक शेर-बुज्जी की मचानों पर पहुँच जायँ। यहाँ दो मचानें बँधी हैं। पहली नम्बर एक मचान कहलाती है, दूसरी नम्बर दो। लाशें नम्बर एक मचान के पास पड़ी थीं। अतएव शेर के देखने के लिए वही अधिक अच्छी थी। किन्तु छात्र जब पहुँचे, उन्होंने देखा, उत्तर प्रदेश के चीफ-कंजर्वेटर साहब अपने परिवार सहित उस पर पहले से ही बैठे हुए हैं। अगत्या, उन्हें मचान नम्बर दो पर ही बैठना पड़ा। यह मचान नम्बर एक मचान से लगभग तीस गज़ पीछे है और इतनी अलग जा पड़ी है कि कटड़ों की लाशें तक वहाँ से नहीं दीखती थीं।

पाँच मिनट बाद ही हाँका प्रारम्भ हो गया। तीन हाथियों पर बैठे तीन महावत

सारा बर्नहार्ट का पत्र : सारदू के नाम

सारा बर्नहार्ट अपने समय की सर्वश्रेष्ठ रंगमंच-अभिनेत्री थी। पेरिस के उत्तेजक वातावरण में रह कर सारा का जीवन के प्रति दृष्टिकोण भी उतना ही लापरवाह था। पेरिस के किसी कैफ़े में उसने कवि, नाटककार सारदू की एक झलक देखी और ऐसी मोहित हुई कि सब कुछ भूल उसका प्रेम जीतने का निश्चय कर बैठी। प्यार में मानापमान, नारी की लज्जा, गरिमा आदि किसी की ओर उसका कभी ध्यान नहीं गया। अपने पत्रों में वह स्पष्ट रूप से अपना हृदय उँडेल कर रख देती थी, खुले शब्दों में अपनी पराजय और नगण्यता स्वीकारती थी। सन् १९२३ में सारा एवं सारदू की मृत्यु के पश्चात उनके प्रेम-पत्र प्रकाशित किये गये। अनेक पत्रों में से एक उदाहरण प्रस्तुत है :

आपने लिखा है कि मुझे साधारण जनता से मेल-जोल रखना चाहिए। ग़रीब लोगों से मिल-जुलकर उनसे पूछना चाहिए कि भारत की धार्मिक अवस्था कैसी है? मैं आपको बताना चाहता हूँ कि पिछले तीन महीने से मैं यही कर रहा हूँ। मैं अपनी स्टेनो, कोकिला को लेकर भारत के अन्य शहरों में घूम-फिरकर, गली-मुहल्लों में जाकर स्थिति का अध्ययन करता हूँ और बीच-बीच में कोकिला को शापिंग भी कराता रहा हूँ! (मिस कोकिला बड़ी अच्छी लड़की है—उसके लिप-स्टिक का प्रिय कलर हल्का गुलाबी है,) तीन महीने पूछ-ताछ करके मैंने रिपोर्ट भी तैयार कर ली है, जिसे मिस कोकिला आजकल अँग्रेज़ी में टाइप कर रही हैं—क्योंकि भारत की राष्ट्रभाषा है तो हिन्दी, परन्तु सब काम अँग्रेज़ी में होता है। यह रिपोर्ट दो सप्ताह के अन्दर तैयार हो जायेगी। तैयार होते ही उसकी एक प्रति मैं आपको शीघ्र भेज दूँगा और अगले पत्र में उसका विवरण भी प्रस्तुत करूँगा। इंतज़ार कीजिए। इस समय बहुत जल्दी में हूँ। मिस कोकिला को ग्लेमर क्वीइन के यहाँ से एक नई साड़ी ख़रीदनी है, फिर मुझे बैंक जाना है, फिर हवाई जहाज़ पकड़ना है कलकत्ते के लिए, जहाँ कल 'ऑल वर्ल्ड रिलीजियस कांफ्रेंस' हो रहा है और जिसका चेयरमैन मुझे चुना गया है।

सेवक

देवरत्न

●

बम्बई,

दिनांक ७-११-६३

माई डीयर इंदर,

कल नारदजी से भेंट हो गई। कुछ परेशान नज़र आते थे, कुछ ख़ुश भी। परेशान इसलिए थे कि भारत में आकर यहाँ के नेताओं को नीति का पाठ पढ़ाने आये थे और यहाँ आकर और भारत के सारे बड़े-बड़े नेताओं से मिलकर उन्हें मालूम हुआ था कि राजनीति के बारे में नारदजी का ज्ञान बिल्कुल 'आउट ऑफ़ डेट' हो चुका है। नीति के विषय में यहाँ का साधारण-से-साधारण नेता भी नारदजी के कान काट सकता है। ख़ुश इस कारण से थे कि तीन महीने मद्रास रहकर, श्री राजगोपालाचार्य के चरणों में बैठकर उनसे बहुत-कुछ सीखने का अवसर प्राप्त हुआ। अब उनका इरादा स्वर्ग में जाकर इस नयी विद्या को आज़माने का है, और आपका सिंहासन डोलाने का है।—सचेत रहियेगा!

मैं अपनी पूर्ण रिपोर्ट नारदजी के डिप्लोमेटिक-बेग में डालकर भेज रहा हूँ। विवरण इस पत्र में प्रस्तुत करता हूँ:

(१) भारत की धार्मिक अवस्था बिगड़ गई है। ग़रीब लोग भगवान

को भूल गये हैं और हर समय दाल रोटी के चक्कर में फँसे रहते हैं। मंदिरों में आरती उतारने के बजाए हर समय मँहगाई का रोना रोते रहते हैं। ऐसे स्वार्थी लोग मैंने संसार में कहीं नहीं देखे। मेरे ख़याल में तो उन्हें उनके स्वार्थ की सज़ा मिलनी चाहिये और उन्हें दरिद्र बना देना चाहिए। भारत सरकार मेरे इस सुझाव पर बड़ी सहानुभूति से विचार कर रही है।

(२) बड़े-बड़े मन्दिरों में सिनेमा के समान दर्जे बना दिये गये हैं। भगवान की मूर्त्ति को सौ गज़ के अन्तर से देखने की फ़ीस केवल चार आने हैं। पचास गज़ से देखने की फीस आठ आने हैं। बीस गज़ से देखने की फ़ीस एक रुपया है। दस गज़ के अन्तर पर स्तुति करने की फ़ीस पाँच रुपये हैं। जो भगत भगवान के चरणों को छूकर प्रार्थना करना चाहते हैं वे दस रुपए देकर प्रार्थना कर सकते हैं। परन्तु ग़रीब लोग अपने धर्म से इतने विरक्त हो चुके हैं कि डेढ़ रुपया ख़र्च करके सिनेमा चले जायेंगे परन्तु मंदिर नहीं जायेंगे।

(३) अच्छे-अच्छे मन्दिरों की कोई भी कमी नहीं है। बहुत-से मन्दिरों में टेलीफ़ोन लगे हुए हैं जहाँ संभवतः डाइरेक्ट ट्रंक-कॉल पर भगवान से बात हो सकती है। लेकिन वह तुलसीदास के समय की बात नहीं रही कि हर समय मंदिर में जाकर भगवान को परेशान किया जाये। आजकल हर मन्दिर के द्वार एक बजे से लेकर तीन बजे तक बंद कर दिये जाते हैं ताकि भगवान को विश्राम करने का अवसर मिल सके। रात को मन्दिर के किवाड़ों पर ताला लगा दिया जाता है ताकि भगवान आराम से सो सकें। पहले ज़माने के भारत में भगवान को एक पल के लिए सोना मुश्किल था।

(४) आजकल दया-धर्म का भाव केवल पैसेवालों में रह गया है। जो आदमी कुछ लाख रुपये कमा लेता है, शीघ्र एक मन्दिर बनाने का ऑर्डर दे देता है और चूँकि इस देश में परमिट और कोटे का आम रिवाज है इसलिए मंदिर के लिए सीमेंट भी बहुत जल्द मिल जाता है, बल्कि मंदिर बनाते-बनाते इतना सीमेंट बच जाता है कि मंदिर बनानेवाला उससे अपनी बिल्डिंग भी बना लेता है। इस कारण से धड़ाधड़ मंदिर बन रहे हैं। परन्तु ये सब ऊँचे दर्जे के लोगों की शुभेच्छाओं के कारण हो रहा है नहीं तो साधारण लोगों के दिलों से धर्म और ईमान का भाव क़रीब-क़रीब ख़त्म हो चुका है। अभी कुछ दिनों की बात है, मेरी मुलाक़ात एक सिंधी स्त्री से हुई जो अपनी फ़ेमिली के साथ नैरोबी से आयी है। जब मैं उसके दो कमरों के छोटे-से फ्लैट में घुसा तो यह देखकर बहुत खुश हुआ कि एक कोने के ताख़ में भगवान की मूर्त्ति भी रखी है। पूछने पर

वह बहुत [illegible] से बोली, "आँ, रख दिया है उसको मैंने ताख पर-- नैरोबी में मेरे पास एक बहुत बड़ा बंगला था, तो मैंने उसमें भगवान को भी एक कमरा दे रखा था--यहाँ बम्बई में केवल दो कमरों का फ्लैट है, इसलिए मैंने भगवान को एक ताख में रख दिया है ! अब मैं क्या करूँ ? जैसी जगह वह मुझे देगा, वैसा स्थान स्वयं उसको मिलेगा--मैंने भगवान को यह बात साफ़ बोल दी है।"

(५) आजकल सब चीज़ों की तरह भारत में धर्म भी बिकता है। परन्तु उसका भाव कुछ ज्यादा नहीं है। बाज़ार में एक टमाटर बेचने जाओ तो छः आने मिल जायेंगे--सत्यनारायण की कथा बेचने जाओ तो कोई तीन आने नहीं देगा। उस दिन एक छोटे-से मंदिर में मैंने सत्यनारायण की कथा रखी। चढ़ावे में केवल ढाई आने प्राप्त हुए। बेचारा पुजारी रोने लगा; बोला, "मैं तो अब मन्दिर बन्द करके शराब की स्मग्लिंग करूँगा, नहीं तो जीवित कैसे रहूँगा ?"

(६) धर्म के दाम अच्छे नहीं मिलते परन्तु धर्म के नाम पर धोखा-धड़ी के दाम अच्छे मिल जाते हैं। तीन महीने पहले की बात है, दिल्ली के पास गाज़ियाबाद स्थान पर कुछ दिखावटी श्रद्धालु भगतों ने एक बुढ़िया के सतरह वर्षीय अर्ध-पागल लड़के को योगी मशहूर कर दिया और उसे चालीस दिन के लिए एक समाधि में गाड़ दिया, ऊपर से मिट्टी डालकर समाधि का मुँह अच्छी तरह से बन्द कर दिया ताकि अंदर किसी प्रकार से हवा न पहुँचने पाये और मशहूर कर दिया कि चालीस दिनों के बाद यह लड़का जीवित और हृष्ट-पुष्ट समाधि से निकलेगा। बस फिर क्या था, प्रतिदिन उस समाधि के दर्शनों के लिए लोग आने लगे और अनगिनत चढ़ावे चढ़ाने लगे। पहले दिन अस्सी रुपये का चढ़ावा चढ़ा, दूसरे दिन सौ रुपये का, पाँचवें दिन डेढ़ सौ रुपये का, फिर ढाई सौ-तीन सौ रुपये

'नयी कविता' के सम्पादक डॉ० जगदीश गुप्त का कविता की विधा में लिखा डॉ० प्रभाकर माचवे के नाम एक पत्र :

मोतीमहल, (दारागंज)
निराला नगर, प्रयाग
१४-९-६२

प्रिय माचवे जी,

शीघ्र जा रहा प्रेस में नव कविता का अंक।
लेख छपेगा आपका, आप रहें निःशंक॥
आप रहें निःशंक, छपेंगी कविताएँ भी।
लेख आपका पेख लिया है साही ने भी॥
करने मेंकुछ देर बहुत आनन्द आ रहा।
नव कविता का अंक प्रेस में शीघ्र जा रहा॥

--जगदीश गुप्त

का चढ़ावा हुए [illegible] था।

चालीसवें दिन समाधि को खोला गया तो उसमें से बेचारे लड़के का शव गला-सड़ा मिला। लोगों ने जब पुजारियों को ढूँढ़ा तो वे चढ़ावे के धन को लेकर भाग भी चुके थे। उस लड़के की बुढ़िया माँ बिलख-बिलखकर रोती थी। पूछने पर पता चला कि वह उसका अपना लड़का न था। उसने किसी से माँगकर उसे अपना बेटा बना लिया था और अब वह इस कारण से नहीं रोती थी कि उसका लड़का मर गया था बल्कि इसलिए कि भागनेवाले भगतों ने बुढ़िया को चढ़ावे के धन से उसका भाग उसे नहीं दिया था। यह घटना बिल्कुल सच्ची है और ऐसे समाचार अखबारों में आ चुके हैं।

पूर्ण रिपोर्ट नारदजी के साथ भेज रहा हूँ। पढ़कर अपने विचारों से सूचित कीजियेगा। मैं कल कमीशन के काम से कश्मीर जा रहा हूँ क्योंकि यहाँ गरमी बहुत बढ़ गई है। और काम ठीक ढंग से नहीं हो सकता––और कोकिला ने भी आज तक कश्मीर नहीं देखा है, इसी बहाने बेचारी कश्मीर देख लेगी! (कोकिला बहुत प्यारी लड़की है––ऐसा अच्छा ट्विस्ट नाचती है कि आप देख लें तो मेनका का नृत्य भूल जायँ!)

आपका
देवरत्न

●

स्वर्ग से महाराज इंदरदेव का टेलीग्राम देवरत्न के नाम :

"शीघ्र स्वर्ग वापस चले आओ।" –इन्द्रराज

●

देवरत्न का टेलीग्राम द्वारा इंद्रदेव को उत्तर :

"नहीं आ सकता क्योंकि कोकिला स्वर्ग में जाने के लिए राज़ी नहीं है––अतः विवश हूँ।" –देवरत्न

●

अरजेंट टेलीग्राम :

"शीघ्र वापसी की सूचना दो नहीं तो स्वर्ग से बाहर निकाल दिये जाओगे।" —इन्द्र

●

देवदूत देवरत्न का अंतिम टेलीग्राम महाराज इंद्रदेव के नाम :

"यह संसार अपनी सारी कमज़ोरियों के बावजूद बहुत सुन्दर है इसलिए नहीं आ सकता....।" –देवरत्न

●

"कारे जहाँ दराज़ है अब मेरा इन्तज़ार कर!" ●

तीन तरफ़ से हाँका करने लगे। हो...हो.. की आवाज़ें आने लगीं। अभी शायद पन्द्रह मिनट भी न हुएथे कि देखा,नम्बर दो मचान के नीचे शेर खड़ा है। समझा तो यह गया

[दिनांक नहीं है]

भले लड़के,

आज की रात तुम कहाँ हो? एक घंटे पूर्व तुम्हारा पत्र मिला--ऐसा निर्मम घंटा--कितना अच्छा होता यदि तुम मेरे साथ होते!

तुम्हारे बिना पेरिस की रंगीनियाँ अत्यन्त दुखदायी हैं। जब तक मैं तुमसे परिचित न थी तब तक पेरिस पेरिस था--मेरे लिए स्वर्ग था। किन्तु अब यह निर्जन मरुभूमि के अनन्त विस्तार-सा है--सूना, उदास और रीता-रीता। घड़ी के मुख से जैसे किसी ने दोनों सुइयाँ हटा दी हों, ऐसी अपूर्ण लगती है मुझे यह कोलाहलमयी नगरी।

मेरे मन की आँखों में तुमसे मिलने के पूर्व जितने चित्र खचित थे वे सब जैसे स्वतः धुल गये और उन सबका स्थान ले लिया है उन मादक क्षणों की तस्वीरों ने जो हमने एक-दूसरे के सम्पर्क में बिताये हैं। अब मैं तुमसे दूर नहीं रह सकती--तुम्हारे शब्द--चाहे कटु ही क्यों न हों--मुझे समस्त भौतिक चिन्ताओं से मुक्त कर देते हैं; मुझे सुख से पूर देते हैं; मेरी सारी कला तुम्हारे शब्द पी चुके हैं; उनके दुलार के झूले में मेरी कला एक नन्हें शिशु-सी सो गई है; मेरे लिए तुम्हारे शब्द सूरज की किरण हैं, प्रकाश हैं, पवन की गति हैं।

मैं भूखी हूँ तुम्हारे शब्दों के लिए। मैं प्यासी हूँ और मेरी तृषा का आकाश के इस छोर से उस छोर तक कहीं अन्त नहीं। तुम्हारे शब्द ही मेरा आहार हैं और तुम्हारी साँस ही मेरे लिए मदिरा-सी उत्तेजक है। तुम मेरे लिए सब कुछ हो। --सा०

था कि वह सीधा नम्बर एक मचान के पास ही, जहाँ कटड़ों की लाशें पड़ी हैं, आयेगा। मगर वैसा न कर वह जो सीधा हमारे छात्रों की इस उपेक्षित मचान के नीचे ही आ खड़ा हुआ तो मानना पड़ा, अन्य सबकी अपेक्षा उसका शायद छात्रों की तरफ़ अधिक झुकाव है। और फिर वह अकेला थोड़े ही आया था। मिनट भर बाद ही शेरनी भी बच्चे सहित वहीं आ खड़ी हुई। उस समय कुछ ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे वे तीनों शेर, शेर नहीं, जंगल के तीन देवता हैं, जो अपने भक्तों को दर्शन देने के लिए अचानक ही प्रगट हो गए हैं। लगभग पाँच मिनट तक वे खड़े रहे, फिर धीरे-धीरे जंगल में अदृश्य हो गये।

मैं इस प्रदर्शन में सम्मिलित नहीं हुआ था। परन्तु जब मुझे बताया गया कि लाशें अभी वैसे ही पड़ी हैं, शेरों ने उन्हें छुआ तक भी नहीं है, मुझे लगा, एक बार वहाँ हो तो आना ही चाहिए। वैसे कटड़ा बाँधकर उसकी लाश पर बैठना मुझे पसन्द नहीं है। मगर स्वामी सुन्दरानन्द का बड़ा चाव लगा था। सो, साथ देने के लिए मैं भी चल पड़ा। हम जब चले, एक बज चुका था। मगर कठिनाई यह हो गई कि मचानों के ठीक स्थान का पता न रहने से हम जंगल में भटक गए। दोपहरी के नशे में समूचा स्थान ऊँघ रहा था। वृक्ष भयभीत-से खड़े थे। झाड़ियाँ सो रही थीं। गीली मिट्टी और रेत पर जगह-जगह हाथियों के ताज़े पदचिह्न पड़े थे। कहीं-कहीं शेर के ताज़े पदचिह्न भी मिल जाते थे। मगर मचानों का कहीं पता न चल रहा था। हृदय बैठने लगा। कोई हाथी या शेर आ निकला, तब? तभी हठात् सड़े हुए माँस की तीव्र दुर्गन्ध नाक में आकर लगी, जिससे

दिमाग़ एक ही साथ चकरा गया। मगर उस समय यह दुर्गन्ध ही हमारा बड़ा भारी सहारा बन गई। इसी ने तो आशा बँधाई, हम शायद ठीक स्थान पर आ पहुँचे हैं। पाँच क़दम बढ़ते ही कटड़ों की लाशें दिखाई पड़ गईं और खोजने पर दोनों मचानें भी दीख गईं। नम्बर एक मचान वास्तव में ही बढ़िया थी। उस पर एक बेंच भी बिछी थी। उसी पर चढ़ गये और शेर की आशा में उस पर चुपचाप बैठ गए। लेकिन कोई नहीं आया। हाँ, फर्लांग भर दूर एक काकड़ अवश्य दिखायी पड़ा जो बड़ी ही निश्चिन्त गति से चला जा रहा था। समझ लिया, आस-पास कहीं भी शेर नहीं है।

पाँच बजे के लगभग किसी के पैरों की आहट सुनाई पड़ी। गरदन घुमाकर देखा, दो आदमी एक जीवित कटड़े को खींचते ला रहे हैं। दोनों ही आगे बढ़ने में हिचक रहे थे। आदमी स्थान की भयंकरता के कारण, कटड़ा आनेवाली मौत के कारण। मगर हमें मचान पर बैठा देख आदमी तो निर्भय हो गए मगर कटड़े का भय वैसा ही बना रहा। मगर इससे क्या होता-जाता था। वे तो उसे बध्यभूमि में घसीट ही लाये और कटड़ों की बासी लाशें हटाकर उनकी जगह इसे रस्सी से बाँध निश्चिन्त हो गये। लेकिन वे अधिक देर नहीं ठहरे और हमसे दो-चार बातें कर तुरन्त ही जंगल से निकल गये।

धीरे-धीरे अँधेरा उतरने लगा। इच्छा यह थी कि रात भर इस मचान पर ही बैठे रहें। कभी-न-कभी शेर कटड़े पर आयेगा ही। मगर उचित न लगा। कैम्प में साथियों को बताकर नहीं आये थे। अतएव मचान से उतरकर कैम्प में ही लौट आये।

अगले दिन लगभग दस बजे स्वामी सुन्दरानन्द ढिकाला से विदा हो गये। इधर अचानक बीमार हो जाने के कारण रमणजी भी चार-पाँच दिन पहिले मुरादाबाद चले गए थे। इन दो मित्रों के अभाव में कैम्प कुछ उदास-सा, सूना-सा प्रतीत होने लगा था। सो, दोपहर का भोजन पा मैं आज भी साथियों को बिना बताये चुपचाप ही शेर-बुर्जी की तरफ़ चल पड़ा। वही दोपहर का सन्नाटा। वही चिलचिलाती धूप। वही अकेलापन। मगर स्थान से परिचित होने के कारण आज भटका नहीं। सीधा मचानों पर जा पहुँचा। मगर एक बात कहना यहाँ भूल गया। ढिकाला से विदा होने से पूर्व स्वामी सुन्दरानन्द आज प्रातःकाल भी मेरे साथ यहाँ आये थे। समझा तो हमने यह था कि वह कलवाला जीवित कटड़ा आज हमें यहाँ मरा हुआ मिलेगा, मगर वैसा नहीं हुआ था। कटड़ा था ही नहीं। लगता है, इस स्थान को उपद्रवपूर्ण समझ वे तीनों शेर रात में ही उसे उठाकर किसी दूसरी जगह ले गए थे। लाश की खोज में हमने सारा जंगल और नदी का किनारा दूर तक छान मारा था मगर कटड़े का कहीं पता न चला था। हाँ, नदी किनारे की रेत में शेरों के ताज़े पदचिह्न अवश्य दिखाई पड़े थे। लेकिन अब जो आकर देखता हूँ, नम्बर एक मचान के ठीक सामने ही कटड़े की अधखाई लाश पड़ी है। माथा ठनक गया। बहुत धीरे-धीरे ढलवान से उतर आगे बढ़ने लगा। तभी लाश के पास की झाड़ियों में एक हलचल-सी दिखाई पड़ी। ऐसा लगा जैसे कोई झाड़ियों में बहुत ही धीरे-धीरे चल रहा हो।

ठहर गया। आगे बढ़ना चाहिए कि नहीं, सोचने लगा। तभी कहीं पास से ही हल्की-सी गुर्राहट हुई और हृदय धड़कने लगा। संदेह नहीं रहा कि मेरे आने से दो ही चार क्षण पूर्व तक शेर लाश के पास था और मेरी आहट पा चुपचाप झाड़ियों में घुस गया था। इस असमय में पहुँचकर मैंने जो उसके भोजन में विघ्न डाला है, गुर्राहट उसके उसी क्रोध की सूचक है। तुरन्त कुल्हाड़ी कसकर पकड़ ली। आत्मरक्षा के लिए इसके अतिरिक्त और मेरे पास था भी क्या? हाँ, एक मशाल भी थी। मगर सूखी झाड़ियों से भरे इस घने जंगल में उसका जलाना तो भारी विपत्ति से भरा था। कुल्हाड़ी सँभाल तो ली थी, मगर इतना तो अच्छी तरह समझ गया था कि मैं इस समय पूरी तरह से शेर के फन्दे में पड़ गया हूँ। वह यदि चाहे, एक ही छलांग में मुझ पर झपट सकता है। तो भी, ऐसी अनिश्चित स्थिति में वहाँ इस तरह खड़े रहना उचित नहीं लगा। अतएव दबे पाँव चलता हुआ नम्बर एक मचान के नीचे, जो पास ही थी, जा पहुँचा और लाश की तरफ मुँह किये उल्टे पाँव, मचान की सीढ़ियों पर चढ़ने लगा। आठ-दस सीढ़ियों तक तो हृदय घबराता रहा। प्रतिक्षण शेर की छलांग की आशंका होती रही। मगर जब अन्तिम सीढ़ियों पर पहुँच मचान की बेंच पर जा बैठा तो भय एकबारगी प्रसन्नता में बदल गया। तो भी इतना तो मानना ही पड़ा, शेर भला है। कारण, मैं जब सीढ़ियों पर चढ़ रहा था, वह चाहता तो आराम से मुझ पर झपट सकता था। मगर उसने ऐसा नहीं किया। इस न झपटने का एक दूसरा कारण भी था। शेर तभी झपटता है जब भूखा हो। मगर इस समय तो उसके पास इतना काफ़ी भोजन था कि उसे झपटने की आवश्यकता ही नहीं थी।

अरे वाह, कटड़े की लाश के पास यह कौन धीरे-धीरे सरक रहा है? ओह कछुआ! एक नहीं, तीन-तीन। अपनी लम्बी गरदन निकाले वे बहुत ही बेचैनी से कटड़े का माँस नोच रहे हैं। गीदड़-गिद्धों को तो शेर का शिकार खाते देखा है, मगर कछुए भी इतना साहस कर सकते हैं, पहली ही बार देखा।

तभी झाड़ियों में सरसराहट हुई और तीनों कछुए गिरते-पड़ते झाड़ियों में जा छिपे। और उसके बाद ही शेर लाश पर आता दिखाई पड़ा। हूँ, तो यह है वह शेर जिसे देखने के लिए लगातार दस दिन से आँखें व्याकुल थीं? जो भी हो, है यह देखने योग्य ही। भरा हुआ शरीर। कसी हुई खाल। चमकीली धारियाँ। चपटा भयंकर मुख। तेजस्वी नेत्र। मृत्यु का साकार रूप प्रतीत हो रहा है! लाश के पास बैठकर उसने अभी माँस के दो-चार कौर ही खाये थे कि पीछे की झाड़ियों में फिर सरसराहट हुई और देखा, उनमें से निकल शेरनी चुपचाप चली आ रही है। साथ में बच्चा भी है। उसे आते देखकर शेर लाश के पास से हटकर मचान के नीचे आ बैठा और शेरनी चुपचाप माँस खाने लगी।

विचित्र दृश्य था। तीन-तीन शेर सामने बैठे हैं, जिन्हें ख़ूब पता है कि एक आदमी मचान पर बैठा है। मगर न कोई घबराहट, न कोई उत्तेजना। जैसे अपने घर में बैठे हों, निश्चिन्तता से कटड़े का भोजन कर रहे हैं। बात असल में यह है कि ढिकाला

या कार्बेट नेशनल पार्क का यह १२५ वर्गमील का जंगल चिर वर्षों से अभयारण्य बना हुआ है, जिसमें शिकार का एकदम निषेध है। बन्दूक लाना तक वर्जित है। यही कारण है कि यहाँ के सभी वन्य पशु निर्भय हैं और अकारण मनुष्य पर नहीं झपटते।

मगर तभी मुझसे एक भूल हो गई। जिस बेंच पर बैठा था उसी पर मेरा हैट पड़ा था। मुझे ध्यान नहीं रहा और अचानक ही हाथ का धक्का खाकर हैट नीचे गिर पड़ा। धरती पर गिरता तो कोई बात नहीं थी। मगर दुर्भाग्य से वह वहीं जा गिरा जहाँ शेर मचान के पास बैठा था। ठीक उसके सिर पर। हैट का गिरना था कि सारा दृश्य ही बदल गया। पहले तो चौंककर शेर एकदम खड़ा हो गया और कुछ क्षणों तक हैट को देखते रहने के बाद एक ही साथ सिर उठाकर मेरी तरफ़ देखने लगा। उसके फड़कते होंठ स्पष्ट बता रहे थे कि उसे क्रोध आ गया है। मगर उसके बाद वह जब धीरे-धीरे गुर्राने लगा तब तो शेरनी भी लाश खाना छोड़ उसके पास आ खड़ी हुई और मेरी तरफ़ देखकर गुर्राने लगी। और-तो-और, वह बच्चा भी, जो अपनी माँ के पास बैठा ऊँघ रहा था, झपटकर अपनी माँ के पास आ खड़ा हुआ और उसकी देखा-देखी गुर्राने लगा। शेरनी तो इतने क्रोध में आ गई कि मेरी मचान के चारों तरफ़ मँडराने लगी।

मुझे सन्देह होने लगा कि यह कहीं आक्रमण की पूर्व रेखा तो नहीं है? मुझे कहीं दो तरफ़ से घेरा तो नहीं जा रहा है। सीढ़ी की तरफ़ से शेर उछले और पीछे से शेरनी। इस दोतरफ़ा आक्रमण को मैं अकेला आदमी भला कैसे झेल सकूँगा। मानता हूँ, मचान अठारह-बीस फुट ऊँची है, जिस पर पहुँचना शेर के लिए सुगम नहीं है। मगर सीढ़ी तो है ही। वह यदि उस पर चढ़कर ऊपर आ पहुँचे, तब?

और तो कुछ सूझा नहीं, तुरन्त मशाल जला डाली और उसे हाथ में सँभाल खूब ऊँचे स्वर में 'हो...हो' करने लगा। कल शेरों को खदेड़ने के लिए महावतों ने यही शोर तो किये थे। मुझे लगा, ये शेर शायद इस शब्द से डरते हैं। युक्ति सफल हो गई। यह कहना तो कठिन है कि शेरों को मशाल की लपटों ने डराया या 'हो...हो...' के शोर ने, मगर हुआ यह कि दो ही मिनट में तीनों शेर वहाँ से भाग गए। उनका भागना था कि जलती मशाल सँभाले मैं तुरन्त ही मचान से उतर पड़ा और हैट उठा शेरों की उस भयंकर माँद से निकल ऊपर के मैदान में आ पहुँचा। यहाँ यद्यपि मैं सुरक्षित था तो भी उन क्रोधी शेरों का थोड़ा-बहुत भय तो अभी बना ही हुआ था। जानता हूँ, खीजा हुआ शेर बहुत ही भयंकर हो उठता है। अतएव मशाल बुझाई नहीं और उसे वैसे ही सँभाले चलने लगा। जब देखा, कैम्प पास आ गया है, मशाल बुझाकर चुपचाप अपने कक्ष में आ बैठा।

अच्छा लो, अब विदा दो। अब तो परसों ही यहाँ से चल देना है। अतएव हाथियों वाली घटना दिल्ली आकर विस्तार से ही सुनाऊँगा।

—श्रीनिधि

[पृष्ठ ५६ का शेष : काग़ज़ पै रख दिया है कलेजा निकाल कर]

नहीं यह बात नहीं ! मैं समझता हूँ तुमने मुझे आहिस्ता-आहिस्ता ज़िबह[1] करना चाहा। इस तरह कि हलक़ पर छुरी चल रही है और तुम मुस्कुरा-मुस्कुराकर मुझको तसल्लियाँ भी देती जाती हो, और मैं बे-खबर हूँ। यहाँ तक कि दफ़अतन[2] तुम्हारा हाथ शहे-रग[3] तक पहुँच जाता है। यानी तुम्हारा ख़त खत्म हो जाता है—इस हुक्म के साथ कि आइन्दा तुम्हें कोई खत न भेजूँ, और—मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई निहायत बेशक़ीमत चीनी की क़ाब[4] दफ़अतन[5] हाथ से छूट जाये और फ़र्श पर गिरकर चूर-चूर हो जाये। लेकिन खैर इससे एक फ़ायदा ज़रूर हुआ और वह यह कि तुमने खत लिखने से बाज़ रखकर मुझे इसका मौक़ा तो दे दिया कि जो कुछ कहना है, आज़ादी से कह दूँ और दिल की वह बात जो तुम पर ज़ाहिर न कर सकता था कह डालूँ। क्योंकि अब मुझे क्या डर है। तुम सुन न सकोगी और दुनिया सुनती है तो सुने। अच्छा तो शुरू करता हूँ—

एक था बादशाह हमारा तुम्हारा ख़ुदा बादशाह!

तुम्हारी सबसे पहली तहरीर[6] मुझ तक पहुँची, तो मैं देर तक सोचता रहा कि अगर यही बातें मैं तुम्हारी ज़बान से सुनता तो क्या होता। तुम्हें ख़बर नहीं, लेकिन हुआ यही !

मैंने तुम्हारी तहरीर के एक-एक लफ़्ज़ को देखकर, हर्फ़ों की हर-हर कशिश को समझकर, काग़ज़ के रंग और उसकी इत्रियत[7] से मदद लेकर मैंने तुम्हारी एक तस्वीर खींची। काग़ज़ पर नहीं क़ल्ब[8] पर, दिमाग़ के उस पर्दे पर जो सिर्फ़ नग्मा-ओ निकहत के नक्श[9] के लिए मख़सूस है और मैं उसमें महव[10] हो गया। तो क्या मैं बता ही दूँ कि मैंने तुम्हारी तहरीर के अन्दर छुपा हुआ तुमको कैसा पाया ? मुआफ़ करना, मुमकिन है, कोई बात ख़िलाफ़े-हक़ीक़त[11] हो या तुम्हारे ज़ौक़[12] के ख़िलाफ़। लेकिन जब मेरा यह खत तुम तक पहुँच ही नहीं सकता तो फिर यह अन्देशा क्यों ?

अच्छा तो सुनो अब तुम अपना सरापा।[13] कोई पसन्द करे या न करे, लेकिन मुझे तो वह इस क़दर अज़ीज़ है कि अगर तुम वाक़ई वैसी न निकलीं तो मुझे अफ़सोस होगा।

खुलता हुआ साँवला रंग, यानी वह रंग जो कैफ़ियत से शुरू होता है और कैफ़ियत ही पर खत्म, वह जिसे छूने को जी चाहता है और होंटों में बेइख़्तियार कपकपी-सी महसूस होने लगे। मुआफ़ करना, मेरे हाथों ने भी तुम्हें छुआ और मेरे होंटों ने भी तुम्हारे लबों को मिस किया। जो रेशम की तरह नर्म और पंखुड़ी की तरह नाज़ुक थे। मैंने तुमको नहीफ़-ओ-नातवाँ[14] पाया। लेकिन अपनी रअनाई और कुशीदा क़ामती[15] के लिहाज़ से तुम्हें ऐसा होना ही चाहिए। तुम्हारे बाल बहुत स्याह तो नहीं, लेकिन उनमें एक खास क़िस्म की चमक ज़रूर है। और थोड़ा-सा घूँघर भी कनपटी के बालों में मुझे

१ क़त्ल २ अकस्मात ३ नसों तक ४ बड़ी प्लेट ५ एकाएक ६ चिट्ठी ७ सुगन्ध ८ हृदयपटल पर ९ संगीत और सुगन्ध के लिए १० तल्लीन ११ अवास्तविक १२ रुचि १३ नखशिख का वर्णन १४ नाज़ुक दुबली-पतली १५ रूप और लम्बे क़द के।

नज़र आता है। पेशानी[1] बहुत फ़राख[2] है और उसमें एक रग उभरी हुई मैंगूँ माँग[3] तक चली गई है। भवें काफ़ी चौड़ी हैं और एक निहायत हल्की अम्बरी[4] लकीर उन दोनों तलवारों को एक-दूसरे से मिला रही हैं। रंग के बाद सबसे ज्यादा क़ातिल चीज़ आँखें हैं। हर वक्त किसी ख़याल में मस्तग़र्क रहनेवाली आँखें। जिनको एक बार देख लेना गोया किसी समुन्दर में डूबते चले जाना है। चेहरा किताबी, गर्दन खिंची हुई, तनासुब[5] अज़ा काँटे पर तुलता हुआ। और चाल ऐसी जैसे कोई नागिन रास्ता काटती हुई सामने से गुज़र जाए। उम्र तुम ख़ुद ही बता चुकी हो कि २० से कम और १५ से ज़्यादा है। ग़ालिबन १८ साल! यह थी तुम्हारी वह तस्वीर जो मैंने तुम्हारे सबसे पहले ख़त को देखकर अपने दिल पर नक़्श की थी और अगर मैं यह सब कुछ पहले ही लिख देता, तो शायद उसी वक़्त मुझे लिख भेजतीं कि आइन्दा मेरे नाम कोई ख़त न भेजा जाए। मैं चाहता था कि तुम मुझसे ज्यादा बेतकल्लुफ़ हो जाओ और मैं तुमको ऐसे लफ़्ज़ से ख़िताब कर सकूँ जो तुम्हारी ख़ूबसूरत पेशानी पर हल्का-सा नम[6] पैदा कर सके। लेकिन अच्छा हुआ कि इस मंज़िल तक पहुँचने से पहले ही यह बिसात उलट दी गई और तुमने ज़िन्दगी की उस तल्ख़ हक़ीक़त[7] को जान लिया कि अगर औरत उसके समझने पर मजबूर न हो तो ख़ुदाई का दावा भी उसके लिए को[ई] बड़ी चीज़ नहीं।

हरचन्द मैं तुमको दुनिया में आज़ा[द] इंसानी दस्तरस[8] से दूर किसी आस्मा[नी] देवी की तरह बुलन्द देखना चाहता था लेकिन मेरी यह तमन्ना पूरी न हुई। औ[र] तुम्हारी ज़िन्दगी का वह दौर, जब तुम्हा[रा] जिस्म तुम्हारी रूह[9] के अन्दर महवे-ख्वाब[10] जल्द ख़त्म हो गया। फिर बताओ अब तुम क्या करोगी। मगर मैं यह क[्यों] पूछ रहा हूँ? मुझे क्या हक़ हासिल है और अगर तुम कुछ कहना भी चाहोगी तो कहोगी? और अगर तुम कहोगी भी कलेजे पर कौन हाथ रखेगा! तुम्हा[री] इस छः सुफ़े की दास्तान में सबसे ज़्या[दा] तड़पा देने वाली बात यह थी कि तुम्हारे जि[स्म] के साथ तुम्हारी रूह का सौदा नहीं हो सका बावर[11] करो, यह सुनकर मुझे बहुत क़ल[क़] हुआ। और देर तक सोचता रहा कि तु[म] किस क़दर घबरा रही होगी। लेकि[न] अब मैं तो तस्कीन के अल्फ़ाज़ भी तुम [तक] नहीं पहुँचा सकता। क्या करूँ, मज[बूर] हूँ। अच्छा तो लो, अब मैं अपनी तस्की[न] की चीज़ें अपने से जुदा किये देता हूँ। तुम्हारी तमाम तहरीरें[13] जिनको मैंने वक़्त तक हिरजे-जान[14] बनाकर रखा नज़रे-आतिश[15] किये देता हूँ।

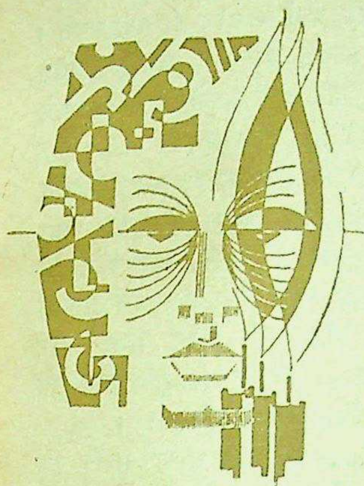
ऐ इज़्ज़तो शराफ़त की देवी! मेरी क़ुर्बानी क़ुबूल कर ले!

---

१ मस्तक २ उन्नत ३ रक्ताभ माँग ४ कस्तूरी गन्ध की ५ उचित अंग-प्रत्यंग ६ लाज [का] पसीना। ७ कटु वास्तविकता को ८ पहुँच से ९ आत्मा के १० स्वप्न में लीन ११ विश[्वास] १२ सुख-चैन की १३ चिठ्ठियाँ १४ प्राण-रक्षा का कवच १५ अग्नि की भेंट।

•

'द ट्रायल' के नायक 'क' का फ्रैंज़ काफ़्का को एक पत्र



कैलाश वाजपेयी

अस्तित्ववादी विचारधारा के एक अनूठे और शायद श्रेष्ठतम कथाकार फ्रैंज काफ्का की सर्वाधिक चर्चित कथाकृति 'द ट्रायल' के नायक 'क' का यह विचारोत्तेजक पत्र कथाकार की कई महत्व-पूर्ण विशेपताओं पर प्रकाश डालता है।

स्रष्टा मेरे,

तुमने कभी नहीं चाहा था, मेरा जन्म हो ! अनवरत अकेलेपन ने जिसे तोड़ दिया तुम्हारी वह क्षयग्रस्त देह अब मिट्टी बन चुकी है ! तुम्हारी मृत्यु के ठीक उनतालीस वर्ष बाद आज पहली बार तुम्हारा 'मनस्पुत्र' मैं, तुम्हारी समाधि के निकट बैठकर बोल रहा हूँ !

मैं तुम्हारी आत्महारा कल्पना और अन्तर्मुख करुणा का आत्मज हूँ---मैं 'क' हूँ ! आज पहली बार मैं तुममें स्वयं को प्रक्षेपित कर रहा हूँ !

हो सकता है, तुम्हें मेरा यह प्रक्षेपण त्वचापरक लगे ! क्योंकि तुमने मेरी रचना (अधूरी) क्रमिक किन्तु निरन्तर यंत्रणा में जीते हुए भी निःशब्द रहने के लिए की थी । चुप का समर्थन करने के लिए, अप-राधी न होते हुए भी दण्ड भोगने के लिए, मृत्यु से अना-क्रान्त रहकर भी जीवन में सार्थकता न खोज पा सकने की विवशता झेलने के लिए, अस्तित्व की स्वतन्त्रता से अवगत होकर भी आद्यन्त निन्दित रहने के लिए ही तुमने मुझे गढ़ा था·····!

ओ मेरे रचनाकार ! मैं तुम्हारा अग्निकीट— तुम्हारा ही प्रतिरूप जोजेफ़ 'क' आज पहली बार मुखर हो रहा हूँ ।

जिस शाम मेरा शीश पत्थर से कुचला गया, मैं ऋणात्मक विद्रोही हो गया ! जीवित कुचले जाने के लिए निरन्तर प्रस्तुत मेरा माथा एक विचित्र-सी उपरति से मंडित हो गया । मेरा जीवन कभी न समाप्त होने वाली क्रमिक दुर्घटनाओं का इतिहास बन गया ।

मैं सोच नहीं पाता, तुमने मेरी रचना अपूर्ण क्यों की ? कुछ ऐसा क्यों गढ़ा यह प्रारूप जो समाप्ति के

बाद भी अंतहीन लगता है ? क्या तुम मुझे एक प्रतीक की भाँति कभी उत्सन्न न होने देना चाहते थे, या फिर किसी ऐसे सार्वकालिक अन्तर्नाट्य का उद्घाटन करना चाहते थे जिसका एक अंश मुझमें झलक भर सका। मेरे आसपास यह द्विधा क्यों बिखेरी तुमने ? क्या इसीलिए कि तुम्हारी चेतना जीवन की जड़ दिनचर्या और व्याथावान एकान्त के बीच, (सार्थकता और निर्व्याख्या के बीच) केन्द्रित हो गई थी। अथवा फिर अपने एक किसी अंश का पोषण करने के लिए तुम अपने सम्पूर्ण शेष की हत्या करने के लिए विवश थे !

मेरी पीठ पर तुम्हारे वे अक्षर भी अंकित हैं जो तुमने अपने मित्र के लिए लिखे थे ! लोग जिस तरह मुझे देखकर आश्चर्य में डूब जाते हैं उसी प्रकार तुम्हारा यह अंतिम पत्र पढ़कर भी उन्हें कौतूहल होता है :

Dearest Max, my last request: Everything I leave behind me (in my book-box, linen-cupboard and my desk both at home and in the office, or anywhere else where anything may have got to and meets your eye), in the way of diaries, manuscripts, letters (my own and other's), sketches and so on, to be burnt unread; also all writings and sketches which you or other may possess; and ask those others for them in my name. Letters which they do not want to handover to you they should at least promise faithfully to burn themselves.

लोग यह पत्र पढ़कर आश्चर्य में डूब जाते हैं, इससे आगे वे सोच ही नहीं सकते। सोच नहीं सकते, इसीलिए चमत्कृत होते हैं। किन्तु जो सोच सकते हैं वे यह पत्र पढ़कर उदास हो जाते हैं।

क्योंकि मुझमें तुम्हारा ही रक्त प्रवहमान है इसलिए मैं सोच सकता हूँ, तुममें क्या घटित हुआ होगा। क्यों तुम्हारी आत्मा आजीवन रूठी रही, क्यों तुम इस दुनियां में एक निर्वासित की तरह जिए और अंत में अपने ही कृतित्व को झुठलाकर, उसे निरर्थक घोषित करके चले गए।

काश....लोग यह समझ सकते कि नाराज़ आदमी को मनाया जा सकता है, मोहभग्न (disillusioned) व्यक्ति को नहीं !

तुम्हारे इस पत्र से, न जाने क्यों मुझे भारतीय पुराख्यान की एक कहानी का स्मरण हो आता है :

ब्रह्मा ने सबसे पहले स्थाणु की रचना की, फिर सृजन की समस्त सम्भावनाएं स्थाणु में भरकर कहा, "जाओ, पृथ्वी पर एक संसार की रचना करो।"

स्थाणु पृथ्वी पर आया। जैसा कि हर बुद्धिजीवी के साथ होता है—यह सोचकर कि दुनिया रचने से होगा क्या, स्त्री-पुरुष अत्यधिक घृणित कृत्य करते हुए बच्चों को जन्म देंगे, बीमारी होगी--राज्य स्थापित होंगे--युद्ध होंगे--मृत्यु होगी, और यह चक्र फिर चलता रहेगा--चलता रहेगा स्थाणु समुद्र के तल में जाकर समाधिस्थ हो गया ! दूसरे शब्दों में, Trance

चला गया। कालान्तर में ब्रह्मा ने स्थाणु को समाधिस्थ जानकर स्वयं ही दुनिया रच डाली। युगों बाद समाधि टूटने पर जब स्थाणु ऊपर आया, तो यह देखकर उसके आश्चर्य की सीमा न रही कि उसकी सर्जना के बिना भी दुनिया ने जन्म ले लिया है! और उसके सारे कार्य विधिवत् चल रहे हैं। स्थाणु ने लोगों से उनके स्रष्टा के विषय में पूछा। लोग उदासीन रहे क्योंकि वे स्थाणु से अपरिचित थे। स्थाणु को लोगों के इस व्यवहार से भयंकर आघात पहुँचा। इस निष्कर्ष पर पहुँचकर कि दुनिया को किसी बुद्धिजीवी, चिन्तक अथवा सृजन की सम्भावनाओं से युक्त व्यक्ति की आवश्यकता नहीं है, स्थाणु ने अपनी जनेन्द्रिय काटकर फेंक दी!

स्थाणु सम्भवतः संसार का पहला सामर्थ्यवान किन्तु मोहमग्न (disillusioned) बुद्धिजीवी था जिसने निषेध और स्वाघात (Self mortification) का रास्ता अपनाया।

मेरे जनक! तुम भी स्थाणु की ही परम्परा में थे जिसने अपना सारा जीवन नासदीयसूक्त में प्रयुक्त परिभाषा की तरह आद्यन्त निषेध में खो दिया।

किन्तु तुमसे भी पूर्व मुझे ध्यान आता है उस अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त अज्ञातवासी का जो पिछली शताब्दी में डेनमार्क के एक नगर में जन्मा था! द्विमुखी जीन्स (Gens) की तरह जिसका चेहरा एक साथ अवसाद और उल्लास से ढँका रहता था। जिसका हर क्षण पीड़ा से भरा था! जो बत्तीस-चौंतीस वर्ष की छोटी-सी अवधि में अस्तित्व के मूलभूत प्रश्नों से जूझकर भय, प्रेम, पाप' आशाविहीनता (despair) और मृत्यु का रहस्य खोजता हुआ एक दिन अनजाने ही यमार्पित हो गया। नाम था उसका सॉरेन और जन्मा था वह किर्केगार्ड परिवार में; किर्केगार्ड—डेनिश भाषा में जिसका अर्थ होता है क़ब्रिस्तान में किसी सन्यस्त अथवा धार्मिक व्यक्ति के रहने का स्थान!

मैं जहाँ कहीं करुणा देखता हूँ, व्यथा देखता हूँ, मुझे याद आता है दो चेहरों वाला वह किर्केगार्ड —वह धार्मिक, जो पाप को आस्था की विरोधी स्थिति मानने के साथ ही आस्था को आत्मविरोधी वृत्ति घोषित करता रहा। वह प्रेमी, जिसने वैवाहिक जीवन को अनिवार्य मानते हुए भी विवाह न किया। वह अजनबी, जो जीवन भर उदासी के दुर्ग में क़ैद रहा।

मनोविज्ञान कहता है—वह सीज़ोफ्रेनिक था। क्योंकि वह कुंठित यौन-भावना वाले धर्मभीरु चिन्तक माइकेल पेडरसन किर्केगार्ड (पिता) और हीन-भावनात्रस्त अन्तर्मुखी दासी (माँ) के परस्पर-विरोधी संस्कार लेकर जन्मा था। वह अपने नाम के अर्थ की धुन्ध से आक्रान्त रहनेवाला भयंकर स्वपीड़क था।

वह कलाकारों में पाई जाने वाली स्त्रैण-ग्रन्थि का सबसे बड़ा शिकार था! यह केवल धार्मिक आस्था का परिणाम था कि पीड़ा से सुख लेने के बावजूद उसने तात्कालिक आत्मघात न करके क्रमिक आत्महत्या (Gradual Suicide) का रास्ता अपनाया।

यह पिता की अनैतिक क्रूरता और अकेलेपन का परिणाम था कि वह चरम अहंकारवादी हो गया।

पिता की मृत्यु के पश्चात् (मरे हुए

व्यक्ति के प्रति जाग्रत सहानुभूति के सिद्धान्तानुसार) उनकी धार्मिकता और प्रखर मेधाशक्ति ने उसे प्रभावित करना शुरू किया; इसीलिए वह महत्त्वाकांक्षी हो गया और एक महान बुद्धिजीवी बन सकने की आकांक्षा ने उसे विवाह न करने के लिए विवश किया। इसीलिए रेगिना ओल्सेन (किर्केगार्ड की प्रेयसि) को बुरी तरह प्यार करने के बावजूद उसने अन्त में उसका प्रणय सदा के लिए ठुकरा दिया।

मुझे लगता है, किर्केगार्ड की एक ही समस्या थी! और वह थी, जीवित रहते हुए सत्य की खोज। उसे ज्ञात था, यह सत्य और कुछ नहीं, सनातनत्व है--चिरन्तनता (Eternity) है। और चिरन्तनता को अस्तित्व रहते नहीं जाना जा सकता। क्योंकि अस्तित्व कालबद्ध है। किन्तु फिर भी, क्योंकि कालबद्ध अस्तित्व स्वयं में चिरन्तनता का ही एक खण्ड है अत: विश्वास के सहारे इस सनातनत्व की झलक अवश्य देखी जा सकती है। विश्वास क्योंकि इस तथ्य का द्योतक है कि पहले वहाँ शंका थी अत: विश्वास अनिश्चय बुद्धि की गुणात्मक उपलब्धि है। दूसरे शब्दों में विश्वास रहस्य है इसलिए कालबद्ध अस्तित्व के लिए सनातनत्व अथवा चिरन्तनता रहस्य है और यही वह रहस्य था जिसे उद्घाटित कर लेने की चाह में किर्केगार्ड ने स्वयं को समिधा कर दिया।

मैं कह चुका हूँ, मुझे जहाँ कहीं करुणा दीखती है, किर्केगार्ड याद आता है। मेरे इस कथन का आधार स्वयं किर्केगार्ड का द्वन्द्वात्मक चिन्तन है! मनुष्य के सांसारिक अस्तित्व और उसके भीतर छटपटाती चिरन्तनता की चाह के बीच एक बड़ी खाई है। यह अवरोध ही मनुष्य में करुणा को जन्म देता है। किन्तु किर्केगार्ड इस करुणा को ही पकड़कर नहीं बैठा--द्वन्द्वात्मक चिन्तन द्वारा वह अस्तित्व के सही अर्थ को समझता हुआ आगे बढ़ गया। पीड़ा में सुख लेकर भी वह पीड़ा के समक्ष धराशायी नहीं हुआ, (किर्केगार्ड की इस विजय के पीछे उसकी घोर आस्तिकता का बहुत-बड़ा योग था) जबकि किर्केगार्ड के ही समसामयिक दास्तायवस्की के कैरमाज़ोव (Karamazov) का अन्त वैसा नहीं हुआ।

मैं यंत्रणा में पला हूँ और अपने समस्त जीवन में मैंने यंत्रणा चुप रहकर सही है।

अपनी प्रेमिका मिलेना के नाम फ्रैंज़ काफ्का
एक विशेष ढंग का प्रेम-पत्र :

शुक्रवा

यदि अवसर आये और तुम्हें आपत्ति न हो तो कृपया मेरी ओर से वरफल को कुछ भ बातें कह देना--यद्यपि दुर्भाग्यवश कुछ प्र का तुम उत्तर नहीं देतीं, उदाहरणार्थ तुम्हारे लिखने का प्रश्न।

कुछ ही समय पहले मुझे तुम्हारे बारे फिर सपना आया, बड़ा लम्बा था स्वप परन्तु मुझे मुश्किल से कुछ ही अंश याद हैं मैं वियना में था, इसके बाद मुझे कुछ भी या नहीं कि मैं कैसे प्रॉग आ गया और तुम्हा पता भूल गया--सड़क का नाम ही नह नगर का नाम भी भूल गया--सब कुछ केवल किसी तरह श्राइबर का नाम दिमाग आया और यह समझ में नहीं आया कि

इसलिए मेरी कल्पना में केवल वही चेहरे तैरते हैं जो अनय और क्रूरता के कठघरे में क़ैद हैं। कैरमाज़ोव भी उन्हीं में था--मेरा सहोदर--न्याय की खोज में भटकता हुआ ईश्वरद्रोही।

उसकी एकमात्र आकांक्षा थी, ईश्वर से साक्षात्कार––ईश्वर के साथ मानवीय व्यवहार। प्राणदण्ड के अभियोग का स्पष्टीकरण। कैरमाज़ोव नास्तिक नहीं था; किन्तु क्योंकि वह न्याय चाहता था (और संसार में अन्याय, न्याय की संज्ञा प्राप्त करके ईश्वर की आड़ में घटित होता है) इसलिए वह ईश्वर को रहस्य के घटाटोप से बाहर निकालकर मानवीयता के स्तर पर गिरा लाना चाहता था। दूसरे शब्दों में कैरमाज़ोव क्रूरता को दर्प से खंडित कर देना चाहता था! बच्चों के आँसुओं के समक्ष विश्व का समस्त ज्ञान उसकी दृष्टि में नगण्य हो गया था इसीलिए वह सत्य पर संदेह करने लगा था। (क्योंकि सत्य का आधार अन्याय है) और इसीलिए कैरमाज़ोव पहला व्यक्ति था जिसने सनातनत्व तक अस्वीकार कर दिया।

कैरमाज़ोव इस तथ्य से अवगत था कि यदि वह आस्था अर्जित कर ले तो उसके लिए त्राण पा लेना सहज है। किन्तु समस्या केवल एक व्यक्ति के मुक्त साँस लेने की नहीं, समूची मानव-जाति के अकारण दुख झेलने की है। इसीलिए स्वीकार और नकार के बीच छटपटाता हुआ कैरमाज़ोव अंत में यह मानने के लिए विवश हुआ कि आस्था टूट जाने के बाद भी, जीवन का अर्थ कुचल दिए जाने के बाद भी, जीवन रहता है––क्योंकि हर स्थिति में मनुष्य जीना चाहता है! जीवन का अर्थ है कर्म, और कर्म किस अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिए किया जाए जब नैतिकता-अनैतिकता सत्-असत्, प्यार और पाप के बीच कोई विभाजन-रेखा ही नहीं है––और जब यह संसार ईश्वर-विहीन है तब कुछ भी निषिद्ध नहीं, बस करणीय है।

कैरमाज़ोव 'आल इज़ परमिटेड' कहकर चुप तो हो गया किन्तु संसार की निरर्थकता को दूना उजागर करता हुआ उसका यह व्यंग्य शताब्दियों की सुरंग में गूँजता चला गया।

इस व्यंग्य का अर्थ समझ सकना साधारण बात न थी। जो भी इस व्यंग्य से अभिभूत हुआ वह समाज में अजनबी होता गया। बड़ी लम्बी पंक्ति है ऐसे लोगों की––नीत्शे, रिम्बो, बेनगॉग, निज़िस्की, रामकृष्ण परमहंस, तुम और तुम्हारे पश्चात् अल्जीरिया

---

* कहूँ इसे लेकर। इस प्रकार मेरे लिए तुम पूर्ण रूप से खो गईं। अपनी निराशा म मैंने कई धूर्त प्रयास किये, परन्तु मालूम नहीं क्यों कोई भी सफल नहीं हुआ––उनमें से मुझे एक अब भी याद है। मैंने एक लिफ़ाफ़े पर लिखा––'मिलेना' और उसके नीचे––'मैं निवेदन करता हूँ कि यह पत्र पहुँचा दिया जाय, अन्यथा अर्थ-मंत्रालय को बहुत हानि उठानी पड़ेगी।' मैं आशा करता था कि इस धमकी से सरकार की सारी शक्ति तुम्हारी खोज में लग जायेगी। देखो, मेरी इस चालाकी से तुम मेरे विरुद्ध अपने मन में कोई ग़लत धारणा मत बना लेना––क्योंकि केवल सपनों में ही मैं इतना कुटिल हूँ।

मैं पत्र को एक बार फिर लिफ़ाफ़े में से निकाल रहा हूँ––उसमें थोड़ी जगह खाली है! उस खाली जगह में मैं लिखना चाहता हूँ कि कृपया केवल एक बार––हमेशा नहीं, मैं वह नहीं चाहता––बस केवल एक बार मुझे फिर से 'तू' कह दो।

––फ०

(मूल जर्मन से उषा जैन द्वारा अनूदित)

के मॉन्दोवी नामक ग्राम में एक मज़दूर के घर जन्मा कामू।

मेरे सूत्रधार ! अब तुम नहीं हो किन्तु मेरे माध्यम से तुमने संसार और ज़िन्दगी के पीछे कार्य करते जिस अहेतुक तर्क (Irrational) का उद्घाटन किया था—वह तुम्हारी मृत्यु के पश्चात् कामू में अवतरित हुआ ! तुम्हारी और पूर्वजों की समस्त बौद्धिक वरासत सूत्ररूप में ग्रहण कर उसने एक बार पुनः ईश्वर, धर्म, और जीवन की शल्य-चिकित्सा की और पूरी तरह मोह-मग्न हो जाने के पश्चात् घोषणा की कि :

यह समस्त ब्रह्मांण्ड एवं इस पृथ्वी पर मनुष्य का अस्तित्व तर्कातीत है ! बुद्धि सीमित है, संसार निर्व्याख्या। सब घटनाएँ कार्य और कारण से परे हैं। उनके पीछे किसी भी तर्कसूत्र का सर्वथा अभाव है। इस अर्थहीन सृष्टि के रेतीले विस्तार में मनुष्य पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है और अपनी स्वतन्त्रता के लिए निन्दित भी !

वह आद्यन्त अकेला है। कोई भी दर्शन उसके इस अकेलेपन का भागीदार नहीं हो सकता, और दुर्भाग्य से ईश्वर की मृत्यु हो चुकी है ! अतः अकेलापन ही व्यक्ति की नियति है। चूँकि अस्तित्व का उदयन स्वयं हुआ है अतः कुल मिलाकर एक ही समस्या मनुष्य के समक्ष प्रारम्भ से अंत तक टकराती है और वह यह कि इस निरुद्देश्य निरर्थक आयामहीन अस्तित्व की सत्ता का सार क्या हो ? मनुष्य स्वयं ही भोक्ता है, स्वयं ही निर्णायक; (क्योंकि ईश्वर नहीं है) ऐसी स्थिति में मनुष्य चुनने के लिए विवश किया जाता है। पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होने के कारण कोई भी नैतिक मूल्य, कोई भी सामाजिक व्यवस्था मनुष्य के लिए महत्त्व नहीं रखती, साथ ही यह भी कि समाज के सभी मूल्य सापेक्ष हैं। अतः मनुष्य स्वयं ही अपने प्रति उत्तरदायी है। वह जो कुछ उचित समझता है, करे ! किन्तु दुर्भाग्य से समस्त तर्क भी अविष्ठाननिष्ठता (Subjectivity) ग्रस्त हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य के लिए संसार में पूर्णरूप से निरर्थक अतर्कयुक्त जीवनयापन करने के अतिरिक्त अन्य कोई निष्कृति नहीं है। वह यदि इस तथ्य को स्वीकार नहीं करता तो भी वह इसी धूमचक्र का कर्त्ता, भोक्ता कहलाने के लिए विवश है।

अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए कामू ने अनेकानेक उदाहरण देते हुए दोहराया कि सामाजिक तंत्र कुछ ऐसा है कि स्वाभाविक रूप से जीवनयापन करना किसी भी व्यक्ति के लिए न तो सम्भव है और न ही अपेक्षित। मनुष्य स्वभाव के विरुद्ध जीता हुआ कई बार अकारण एक आन्तरिक धिक्कार का अनुभव करता है किन्तु वह यह निष्कर्ष कभी नहीं निकाल पाता कि यह विद्रोह किसके प्रति है ? इसी प्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियों के सचेत होने के बावजूद कई बार वह जागा हुआ विचाररिक्त हो जाता है। परिचितों को भी पहचानने में भूल कर जाता है। ऐसा क्यों होता है कि अकस्मात् 'क्या सोच रहे हो ?' पूछे जाने पर वह केवल 'कुछ नहीं !' भर उत्तर देता है। अपनी एवं अन्य लोगों की इस हास्यास्पद स्थिति का उत्तर न उसे कला-साहित्य में मिलता है, न दर्शन-विज्ञान में। हारकर उसकी बुद्धि कुंठित हो जाती है और वह अतर्कशील हो

जाता है। कार्य को अलग कारण को अलग एवं परिणाम पर न सोचने के लिए विवश हो जाता है। दूसरे शब्दों में उसे संसार के मौर्ख्य का, उसकी एबसर्डिटी (Absurdity) का आभास हो जाता है।

अब कामू भी नहीं है। किन्तु उसका पूर्ण उपराम 'मनस्पुत्र' किसी अरब पर चार गोलियाँ चलाकर, अपनी माँ की मृत्यु पर आँसू न बहाने के अपराध में दंडित होकर समाज में जी रहा है। लोग मेरी तरह म्यूसो (Meursault) को भी कौतूहल से देखते हैं। माँ के दफ़नाए जाने के क्षणों में दैहिक असुविधा के अतिरिक्त (और वह भी गर्मी के कारण, दुःख के कारण नहीं) जब उस पर अन्य कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, तो वे उसे जड़-संवेदना-शून्य, दुर्विनीत आदि न जाने कौन-कौन-सी संज्ञाएँ प्रदान करते हैं—उस पर झुँझलाते हैं और कई बार उसे 'पशु' तक कह डालते हैं।

उन्हें यह कौन समझाएगा कि ज़िन्दगी उलझी हुई है और मनुष्य का दुर्भाग्य यह है कि वह उसे सरलता से ग्रहण करना चाहता है।

मिलेना के नाम फ्रैंज़ काफ़्का का एक व्यक्तिगत पत्र

कब ऐसा होगा कि कोई आकर इस उल्टी दुनिया को सीधा कर देगा। दिन में मनुष्य अपना बुझा हुआ सिर लिये घूमता है—यहाँ पहाड़ों पर सब जगह सुन्दर खण्डहर हैं और ऐसा महसूस होता है कि मनुष्य को भी ऐसा ही सुन्दर होना चाहिए—परन्तु बिस्तर पर नींद आने की जगह दिमाग़ में केवल विचार आते हैं।

मैं तुमसे नहीं मिलूँगा—अब भी नहीं, बाद में भी नहीं। तुम उस देश में रह रही हो जिसे तुम प्यार करती हो। (इस बारे में हम एक-से हैं! फैले हुए गाँव, बहुत पहाड़ी भी नहीं, झीलों और वनों से भरे, मुझे सबसे ज्यादा पसन्द हैं।) तुम अपने पत्र के प्रभाव का मूल्यांकन कम करती हो। मिलेना! सोमवार के पत्र ('केवल तुम्हारी चिन्ता') मैंने अभी तक पूरे नहीं पढ़े हैं।

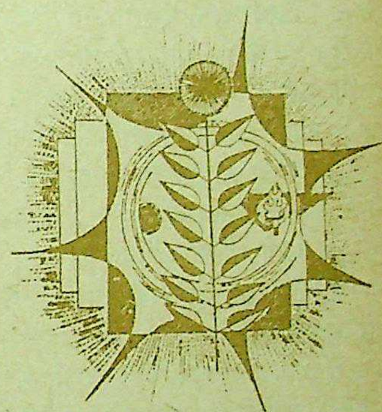
मंगलवार का पत्र, दूसरी ओर (और वह विचित्र कार्ड–कॉफ़ीहाउस में लिखा गया)—तुम्हारे वरफल के प्रति आरोपों का मैंने अभी तक उत्तर नहीं दिया, मुझे डर है कि मैं तुम्हारा कोई भी उत्तर नहीं दे रहा हूँ, तुम बेहतर जवाब देती हो, यह अच्छा लगता है। मुझे अब शान्त और आश्वस्त बनाता है—सोमवार के पत्र के कारण बिना नींद की रात के बावजूद भी! मंगलवार के पत्र में भी डंक तो है ही और यह शरीर को काटता जाता है, परन्तु इसे 'तू' कर रही है—यही इस पीड़ा को भी सुखमय बना देता है। वास्तव में यह सत्य का एक क्षण है, सुख और पीड़ा से काँपता हुआ एक क्षण—

(मूल जर्मन से उषा जैन द्वारा अनूदित)

चौदह फूलों का एक गुलदस्ता

एक भारतीय विद्वान-लेखक का अपने एक अमरीकन मित्र के नाम लिखा पत्र जिसमें यह साधार प्रतिपादित किया गया है कि ऊपर से देखने पर भारत भले ही अनेक भाषाओं, जातियों और प्रदेशों में बँटा हुआ लगता हो, लेकिन वस्तुतः भारत की आत्मा एक है—अनेक वर्ण और गन्ध और रंग वाले फूलों के एक खूबसूरत गुलदस्ते की तरह।

डॉ॰ प्रभाकर माचवे



डोनाल्ड एस-कूपर (जूनियर)
युनिवर्सिटी आफ़ पेनिसिल्वानिया
फिलाडेल्फ़िया (पा॰) यू. एस. ए.

प्रिय डैन,

तुमने टूटी-फूटी हिन्दी में सही चिट्ठी लिखकर पूछा है, क्या भारतीय साहित्य जैसी कोई एक चीज़ हैं ? और उनकी क्या प्रगति है ? मैं जानता हूँ, तुमने एक तरह से मुझे चिढ़ाने के लिए ही यह मीठी चुटकी ली है। अब लो, यह चिट्ठी मैं तुम्हें हिन्दी में ही लिख रहा हूँ। और कहीं अक्षर समझ में न आये तो अपने मित्र नरेश से पूछ लेना। अर्थ के लिए कोशों की सहायता लेना।

मुझे याद है, रोदाँ के शिल्प-संग्रहालय से लौटते हुए मैंने कुमारी एम॰... का उल्लेख किया था जिसने मुझे कहा था कि रोदाँ को ये विराट् नग्न स्त्री-पुरुष मिलन के 'हैंड आफ़ गॉड' जैसी शिल्प की प्रेरणा भारत के मन्दिर-शिल्पों से मिली थी। तब भारत-प्रवासी फ्रांस में आने लगे थे और कुछ चित्र भी पहुँचे थे। तुमने मेरा मज़ाक उड़ाते हुए कहा था—तुम हर चीज़ में भारत-भारत ले आते हो ? यह तुम्हारा निरा 'शौवीनिज़्म' है (संकीर्ण-राष्ट्रवाद है)। कहाँ है तुम्हारा वह भारत ?

मैंने गंभीरता से अपने दिल और दिमाग़ की तरफ़ उँगली उठाकर कहा था––यहाँ है। यह शरीर उसी मिट्टी का बना है, जिसका अभिधेय है भारत ।

तुमने फिर व्यंग्य से कहा था––भारत और उसकी सांस्कृतिक एकता सिर्फ़ एक 'कन्स्ट्रक्ट' (मानसिक अध्यारोपण) मात्र है ! तुम मानकर चलते हो भारत एक है, तो सब जगह एकता-ही-एकता देखते हो । तुम्हारे यहाँ दो आदमियों का चिन्तन तो दूर, भाषा भी एक-सी है ? पोशाक एक-सी है ? रस्म एक-सी है ? कहाँ है यह एकता ?

और पर्सीवल ग्रिफ़िथ की 'इंडिया अंडर दि एम्पायर' तुमने मेरे सामने पटक दी, जहाँ लिखा था––"किसी भी राष्ट्र की एकता के लिए एक-सी भाषा, एक-सा धर्म, एक-सी नस्ल, एक-से रीति-रिवाज, एक-सा नियम-संविधान ज़रूरी होता है । भारत में न एक भाषा है, न एक धर्म है, न एक प्रजाति के लोग हैं, न एक-से कोई सामाजिक-आर्थिक संस्कार हैं, सिर्फ़ हैं एक-से क़ानून, जो ब्रिटिशों ने दिये ! सो भारत न कभी एक था, न अभी तक एक बना, न आगे बनेगा !"

मैं निरुत्तर हो गया था । मैं तब क्या कहता ?

मैं राम के आगे भी चुप हो गया था जब कि उसने मेरी भावनाओं को ठेस दी थी और कहा था :"यह तुम्हारी भारत-विद्या और हिन्दी-फिन्दी यहाँ नहीं चलने की । कुछ बन्दर के तमाशे वाले, कुछ सपेरे यहाँ लाओ तो शायद विद्यार्थी बढ़ें ।" और एक विश्वविद्यालय ने अपने 'इंडियन स्टडीज़' के पोस्टर में कुछ बैल और नाचती हुई एक लड़की भी बनाई थी । और तर्क यह था कि पोस्टर एक भारतीय ने ही बनाया है । पर उन पुरानी बातों को क्यों दुहराया जाय ?

तुम्हारे प्रश्न का सीधा जवाब देता हूँ कि साहित्य के क्षेत्र में, जहाँ मैं काम करता हूँ, भारत में मैं क्या एकता देखता हूँ ? शुरू में ही बता दूँ कि यह एकता ऐसी मशीनी एकरूपता नहीं है कि जहाँ जाइये वहाँ एक ही ब्रांड का आइस्क्रीम या बुशशर्ट मिल जाय । यह एकता उतनी स्थूल नहीं है कि हम उसे चिमटे से पकड़कर या ट्यूब में डाल कर आपके सामने 'सिद्ध' कर सकें ।

मैं भारत की चौदह भाषाओं के साहित्यकारों से मिलते-जुलते रहता हूँ । गये आठ-नौ वर्षों से उन सब भाषाओं की साहित्य-प्रगति से मैं अपने - आपको थोड़ा-बहुत परिचित रखने का यत्न करता हूँ । जानता हूँ कि यह प्रायः असम्भव है कि एक आदमी इतना सब अता-पता रखे । मैं सब भाषाएँ भी नहीं जानता । पर तुम्हारी सूचना के लिए इस एकता के स्वर की बात कहता हूँ । मैं सुविधा के लिए कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक इन चार विधाओं की ही चर्चा करूँगा ।

कविता में गये दस-पन्द्रह वर्षों में क्या हो रहा है ? भारतीय कवि-मानस विश्व-मानस के निकटतम जाने का प्रयत्न कर रहा है । और यह वह अनुभव करता है कि उतनी बड़ी उड़ान भरने के लिए उसे अपने पर तौलना ज़रूरी है । वह ख़ुद किस ज़मीन पर है, कितनी गहराई में है, क्या उसकी अनुभूति की जड़ें हैं, यह जानने की खोज में वह लगा है । इसका परिणाम दृश्य और कथन, आशय और आकृति दोनों पर पड़ा

है। हर भारतीय भाषा में पुरानी पीढ़ी के नीत्युपदेशमय, राष्ट्रीय जागरण में, व्याख्यान जैसी ओजस्वी रचनाएँ छन्दबद्ध लिखनेवाले बुज़ुर्ग हैं, उनसे विद्रोह किये हुए रोमांटिक चेतना के प्रकृति-प्रणयी, अब उनमें से कुछ रहस्यवादी, अरविन्द या जैन-बौद्ध आदि मतों में एकान्त अमूर्त संतुष्टि खोजनेवाले भी हैं; उनसे विद्रोह किये हुए तीसरी पीढ़ी के यथार्थवादी वैज्ञानिक भौतिकवाद की बँधी मुट्ठियाँ कसकर उठाये चलने वाले समाज के मसीहा बनने वाले कवि भी हैं और फिर उनसे विद्रोह कर (या ऊबकर) विशुद्ध कविता का आग्रह रखने वाले व्यक्तिवादी-प्रतीकवादी-आधुनिकतावादी भी कवि हैं। और अब इन चारों पीढ़ियों से विद्रोह करनेवाले क्षुब्ध-क्रुद्ध तरुण भी हैं। कविता की इस परम्परा और प्रयोग के संघर्ष के गुज़रकर आगे बढ़नेवाली धारा में मुझे स्पष्टतः एक अभेद, एक समानता, एक निरन्तर विकसनशीलता दिखाई दे रही है।

मुझे याद है, श्री बुद्धदेव बसु ने रवीन्द्र नाथ ठाकुर पर व्याख्यान दिया था तो अमरीकी श्रोता ने पूछा था—"टैगोर बंगाली कवि हैं या भारतीय ?" बसु ने उत्तर दिया था—"गोएटे जर्मन कवि हैं या युरोपीय ?" भारतीय कवियों के ये चार-पाँच (या उससे अधिक) दल यों तुम्हारी समझ में आयेंगे कि सन् बीस के क़रीब हमारी कविता में राष्ट्रीयता का एक अभूतपूर्व ज्वार आया : गुरजड़ अप्पाराव (तेलुगु) केशवसुत (मराठी), सुब्रह्मण्यभारती (तमिल), नर्मद (गुजराती), हाली (उर्दू) लिख चुके थे पर सावरकर (मराठी) और इक़बाल (उर्दू), बल्लतोल (मलयालम) या मैथिलीशरण लिख रहे थे और राष्ट्र एक नई चेतना की लहर से आलोड़ित हो उठा था। असमिया में अम्बिकागिरि चौधुरी और तेलुगु में विश्वनाथ सत्यनारायण लिख रहे थे। राष्ट्र दास्य की, मानसिक और सांस्कृतिक अनुकरण की कारा से मुक्त हो रहा था, नयनोन्मीलन कर रहा था।

कि टैगोर को नोबेल पुरस्कार 'गीतांजलि' पर मिला। एक नयी रोमांटिक धारा सारे देश की कविता को झकझोर गई। मलयालम में कुमारन आशान हों, चाहे मराठी के माधवराव पटवर्धन या तांबे, हिन्दी के प्रसाद-निराला-पंत हों या उर्दू के जिगर-सागर-अख्तर शेरानी, पंजाबी के वीरासिंह, बँगला के मोहितलाल मुजूमदार हों या करुणानिधान बनर्जी, तमिल के योगी भारती हों या नामक्कल रामलिंगम् पिल्लई, आंध्र के रायप्रोलु सुब्बाराव हों या कन्नड के वेन्द्रे-विनायक आदि, गुजराती के सुन्दरम्-उमाशंकर हों या उड़िया के मायाधर मानसिंह-शची राउत राय—सब ओर एक सौन्दर्यान्वेषी स्वप्न-प्रवण, तरल कल्पनाश्रित स्वच्छन्दतावाद जैसे जम गया था। बहुत कम पाठक उस मोह से मुक्त हो सके हों! ऐसा जादुई शब्द-संभ्रम, ऐसा चाँदनी से भरा शिल्प और भाव-माधुर्य से मदिर वह सारा ऐंद्रजालिक वातावरण था। उस युग में लगता था, सब किशोर हैं और किशोर ही बने रहना चाहते हैं। 'आज न सोने दूँगी बालम' तब के कवि गाते थे; और रवीन्द्र के नयने-नयान' के वज़न पर 'बाँध दिये क्यों प्राण प्राणों से' लिखा जाता था; तब रवीन्द्र के 'रात्रीर शेषे' के वज़न पर 'प्रिय शेष बहुत

है रात, अभी मत जाओ' रचा जाता था। तब भारत में हर कवि में शैले और कीट्स, रौमांटिक त्रौबोदूअरों (बाउलों) की आत्माएँ जैसे पुनरुज्जीवित हो उठी थीं।

कि फिर आया सन् '३० और '४० के बीच का क्रान्ति-युग। सारे संसार में एक वाम-पन्थी हिलोर साहित्य में उठीं। वाल्ट ह्विटमैन और माइकौवस्की, लोर्का और अरागाँ से कवि स्फूर्ति लेने लगे। वाणी साग्निक हो उठी, नज़रुल इस्लाम की 'अग्नि - वीणा' ज़ब्त हुई, 'नवीन' ने विप्लव-गायन की थाप अपनी खंजड़ी पर दी। तांबे ने 'रुद्रास आवाहन' लिखा—'डुमडुमत डमरू में खणखणात खड्ग में, मेह रुद्रा!' बेंद्रे ने कनकावतार लिखा, सुन्दरम् 'कोया भगतनी कड़वी वाणी' गाने लगे, जोश 'इन्सानियत के कोरस' का आलाप भरने लगे, श्री श्री ने ताल ठोककर हुंकार दी। झवेरचन्द्र मेघाणी के 'दूहों' से गरजते हुए सौराष्ट्र के वन-प्रान्तर, भारतीदासन की बग़ावत भरी वाणी सुनने लगे; स्त्रियाँ भी पीछे नहीं थीं : सरोजिनी नायडू, क्षमाराव, महादेवी वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान, नलिनिबाला देवी, कुन्तलकुमारी सावत, राधारानी देवी, बालामणि अम्मा, अमृता प्रीतम... एक-दो नहीं, सैकड़ों नाम,

श्रीमान 'क' के नाम एक खुला पत्र

श्री लायन फ्यूटवैंगर प्रसिद्ध जर्मन उपन्ययास, कवि, दार्शनिक एवं पत्र-लेखक थे। मार्च १९३३ में वे अमेरिका-यात्रा पर थे। पीछे से नाज़ियों ने उनके मकान पर कब्ज़ा कर लिया। उनकी लाइब्रेरी नष्ट कर दी और सारी रचनाएँ जला दीं। सितम्बर में उनका घर 'नेशनल सोशलिस्ट पार्टी' के एक महत्त्वपूर्ण सदस्य को दे दिया गया। यह समाचार मिलने पर फ्यूटवैंगर ने मकान के तत्कालीन स्वामी को सम्बोधित करते हुए निम्न पत्र लिखा :

प्रिय महोदय,

मैं आपका नाम नहीं जानता। आपको मेरा मकान कैसे मिला, यह भी मुझे नहीं मालूम। मुझे तो केवल इतना ज्ञात है कि आप—श्रीमान् 'क'—मेरे घर में रह रहे हैं और जर्मन-न्याय के अनुसार आपके घर का समस्त व्यय मुझे देना होगा।

आपको मेरा घर कैसा लगा, श्रीमान् 'क'? क्या आपको वहाँ रहना अच्छा लगता है? लूटते समय एस० ए० के आदमियों ने मेरे ऊपर वाले कमरे में बिछे रुपहले गलीचों को तो नष्ट नहीं किया? वे गलीचे बड़े कोमल हैं और लाल रंग बड़ी कठिनाई से छूटता है। बड़े हॉल में रबर की टाइल्स लगवाते समय भी कभी मेरे मन में एस० ए० के आदमियों के बूटों का ख़याल नहीं था।

आपको पता है, छत पर मैंने एक आधी घिरी-सी टैरेस क्यों बनवाई थी? इसलिए कि मैं और श्रीमती फ्यूटवैंगर वहाँ सवेरे व्यायाम करते थे। ज़रा ध्यान रखियेगा कि फ़ौव्वारे के पाइप जमकर बन्द न हो जायें। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि आपने मेरी लाइब्रेरी वाले दोनों कमरों का क्या उपयोग किया होगा? मैंने सुना है श्रीमान 'क', कि जिस हिटलरी शासन में आप रहते हैं वहाँ पुस्तकों का अधिक प्रचलन नहीं है और जो व्यक्ति पुस्तकों में रुचि रखता है वह अन्ततः किसी-न-किसी विपत्ति में फँस जाता है। उदाहरण के लिए मैंने तुम्हारे फ्यूहरर की पुस्तक पढ़ी और

गिनाये जा सकते हैं।

यह प्रगतिशील आन्दोलन गये महायुद्ध में और भी तीव्र रूप लेता रहा। मार्क्स-वादियों ने समझा कि सारी कविता पर वे ही छा गये हैं—पर बात इतनी आसान नहीं थी। सन् '४२ का आन्दोलन, '४३ का अकाल, '४७ का भारत-विभाजन और स्वतन्त्रता और '४८ में महात्मा गाँधी का महाप्रयाण—इन सब राष्ट्र को झकझोड़ने वाली घटनाओं की यदि भारत की सभी भाषाओं में प्रति-क्रिया कविता रूप में देखें तो कवि की भाषा चाहे जो हो, प्रदेश चाहे जो हो—सब के भावों में एक विलक्षण समानता दिखाई देगी। युद्ध और शान्ति के प्रति भी एक-सी भावा-त्मक प्रतिकल्पना सारे भारत में दिखाई पड़ी। दुर्भाग्य से यह सब कविता तो दूर इसमें से शतांश भी अँग्रेज़ी में उपलब्ध नहीं, (शायद तुम जानते हो कि लड़ाई हमारी अँग्रेज़-सरकार के ख़िलाफ़ थी)—और अँग्रेज़ी में अनु-वादित हो भी जाय तो तुम्हारी समझ में वह बिलकुल आयेगी नहीं। इसलिए नहीं कि वह दुरूह है पर इसलिए कि तुम उस कविता को निरी तुकबंदी, लेक्चरबाज़ी, न जाने क्या कहोगे। यद्यपि तुम्हारे देश में स्वतन्त्रता के युद्ध के समय

स्पष्ट कह दिया कि उसके १४,००० शब्द जर्मन-भाषा की आत्मा पर १४,००० चोटें हैं और इस स्पष्ट कथन का परिणाम यह हुआ कि आज आप मेरे मकान में रह रहे हैं। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि आपके नाज़ी शासन में bookcases के लिए कोई स्थान है या नहीं? यदि आप लोग मेरे मकान के bookcases उखाड़ना चाहें तो ख़याल रखियेगा कि दीवार का पलस्तर ख़राब न हो....

हाँ, हमारी गली क्या अब भी मॅलरस्टेट कहलाती है? क्या आपके राज्य-प्रभु को यह विदित है कि संगीतज्ञ गुस्टाव मेहलर, जिसके नाम पर उस सड़क का नाम-करण किया गया है, एक यहूदी था?

और आपने मेरे अध्ययन-कक्ष की एक खिड़की के समीप लगे टिरैनियम का क्या किया? कहीं आपने मेरे कछुओं और छिपकलियों को भी इसीलिए नहीं मार डाला कि उनका स्वामी एक 'प्रवासी' था? और जब बुरी तरह पीटे गये मेरे नौकर को बगीचे से होकर जंगलों तक एस० ए० के आदमियों ने खदेड़ा तब क्या फूलों की क्यारियाँ बुरी तरह नष्ट हो गयी थीं?

क्या आपको कभी-कभी अजीब-सा नहीं लगता कि आप मेरे मकान में रह रहे हैं? आपके फ्यूहरर यहूदी साहित्य के मित्र नहीं माने जाते। इसलिए क्या यह अचरज की बात नहीं कि वे 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' का इतना घोर पक्ष लेते हैं? मैंने स्वयं उन्हें काफ़ी जोश में कहते सुना है—"आँख के बदले आँख, दाँत के बदले दाँत—" (शायद उनका तात्पर्य यह भी हो—साहित्यिक आलोचना के बदले सम्पत्ति-हरण) और अब आपके द्वारा उन्होंने 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' का एक और भविष्यकथन सिद्ध कर दिया है कि "तुम उन घरों में रहोगे जिन्हें तुम्हारे हाथों ने नहीं बनाया।"

हमारे घर के लिए अनेक शुभकामनाओं के साथ,

—लायन फ्यूटवैंगर

[इसका उत्तर श्रीमान 'क' से फ्यटवैंगर को कभी नहीं मिला]

ऐसी बहुत सी रचनाएँ हुईं, और वे जन-मानस में अभी भी 'आल्हा', बैलड के रूप में जीवित हैं।

इस सब सामाजिक-राजनैतिक उद्देश्य-वादी कविता की प्रतिक्रिया होनी अवश्यम्भावी थी। गत महायुद्ध के बाद युद्ध की विभीषिका से भयाक्रान्त, युद्ध की व्यर्थता से त्रस्त, मानव की सभी व्यवस्थाओं के प्रति अनास्था और आध्यात्मिक एकाकीपन का स्वर प्रधान हो उठा। मर्ढेकर (मराठी), 'अज्ञेय' (हिन्दी), बुद्धदेव बसु (बंगला), नवकान्त बरुआ (असमिया), जी-शंकर कुरुप (मलयालम), गोपालकृष्ण अडिग (कन्नड), निरंजन भगत (गुजराती) ऐसे ही स्वर हैं। आलोचकों ने इलियट और पाउण्ड का नाम ले-लेकर इन कवियों को कोसा, यह भी कहा गया है कि इनकी प्रेरणा पराश्रित है, ये भारतीय नहीं हैं, ये फिर अपनी जड़ें खोज रहे हैं, ये बौद्धिक हैं, इनमें 'रस' (?) नहीं है, ये 'फौर्मेलिस्ट' हैं, ये शब्द-शिल्पी मात्र हैं। इत्यादि-इत्यादि। पर अब यह काव्य के नये स्वर, यह मुक्तछन्द का आग्रह, यह काव्य में पुनः सहजोपलब्धि, यह भीतर से ईमानदारी की गूँज, यह सब भारतीय काव्यक्षेत्र में प्रतिष्ठित हो गया और उसके बाद की कहानी भी लम्बी है। पर उसमें मैं नहीं जाऊँगा, वर्ना मुझे लोग और तुम भी पूर्वग्रह दूषित, पक्षधर आदि कहोगे।

और डैन, कविता की इस संक्षिप्त अनेकता-में-एकता की कहानी में विश्वास मानो। सन् तीस में गाँधी ने या उससे पहले सन् '२० से पहले तिलक, अरविन्द या हरदयाल ने या बाद में सन् चालीस में किसी साहित्यिक नेता या दल ने ऐसे आदेश नहीं निकाले थे और न प्रचारित किये थे कि "हे कवियो! अब तुम गाँवों की ओर चलो! हे कवियो! अब क्रांति के गीत लिखो या हे कवियो! अब तुम्हें मातृभूमि से प्यार करना चाहिए!" निकटतम तथ्य यह है कि चीन के आक्रमण के बाद गये वर्ष में भारत की सभी भाषाओं के काव्यकारों ने एक ही स्वर से अपना रोष और विश्वासघात से उत्पन्न अपनी घृणा व्यक्त की। चाहे हमारे प्रच्छन्न कम्युनिस्ट भाइयों को यह बात बड़ी अजब लगी हो कि कविता में शाश्वत मूल्य चाहने वाले प्रचार लिखने लगे, या कुछ लोग यह कहने लगे हों कि चीन के खिलाफ़ लिखना प्रतिक्रियावादिता (यह सुविधाजनक शब्द आलोचक चाहे जिसके खिलाफ़ सुविधानुसार प्रयुक्त करते रहे हैं) है। फिर भी छिछले प्रचार से भिन्न स्थायी विचारप्रधान साहित्य का मूल्य बार-बार उभरकर आना भी एक विशिष्ट भारतीय वृत्ति है। हम यथार्थवादिता से अधिक देर हिलगे नहीं रह सकते, स्वप्न-प्रवणता हमारे मनोलोक का जैसे एक प्रमुख भाग है। पर कुछ जतियाँ होती हैं, जिनके 'चावल के कटोरे खाली हों तो उनमें कुछ फूल उगा लेंगे' वाली टेक होती है; कुछ जातियाँ होती हैं जो ज़रूरत से ज्यादा अनाज को समुन्दर में फेंक देती हैं....

चिट्ठी लम्बी होती जा रही है, पर कहानी-उपन्यास की चर्चा के बिना साहित्य के द्वारा भारत की एकता की खोज पूरी नहीं होगी। अक्सर, तुम पश्चिम वाले कहते हो, कहानी और उपन्यास भारत में अँग्रेजी भाषा की पढ़ाई और छापाखानों की टाइपढलाई और अखबारों की स्याही के बाद की रचना है। मैं नहीं मानता कि गये दो हज़ार

वर्षों में पंचतन्त्र, हितोपदेश, बृहत्कथा-सरित्सागर । वेतालपंचविंशति, जातक कथाओं और अनन्त लोककथाओं के देश में कहानी की कोई परम्परा ही नहीं थी । यह कहने वाले इस देश को नहीं जानते । कहानी कहनेवालों का एक वर्ग था मध्ययुग में हमारे यहाँ, हर राजा का एक 'कथक' भी होता था । गाँव-गाँव में हरि-'कथा' चलती थी, तमिल-नाड में 'कथा-कालक्षेपम्' होते थे, केरल में 'कथकलि' चलती थी । पर पश्चिम के भारत में राज जमाने के बाद यह कथा-परम्परा विच्छिन्न हो गई—कुछ दिन ऐयारी-तिलस्मी उपन्यासों (चन्द्रकान्ता, चहार दर-वेश जैसे उपन्यास) में चलती रही । कि बाद में सामाजिक सोद्देश्य सुधारवादी उप-न्यासों की डिकेन्स-थैकेरे वाली परम्परा हमारे यहाँ जम गई । बंकिमचन्द्र, हरि-नारायण आप्टे, प्रेमचन्द, गोवर्धनराम त्रिपाठी राजराज वर्मा, उन्नव लक्ष्मीनारायण आदि ।) गान्धी के राजनैतिक क्षितिज पर आने के आस-पास ही उपन्यास-लेखक गाँवों की ओर मुड़ने लगे थे । मैं नीचे काल-खण्डों का खयाल न करके भारत के किसान के दुःख-दर्द को व्यक्त करने वाले एक दर्जन से ऊपर उपन्यासों की नामावलि देता हूँ—

* 'छमण अठ गुंठ'—फ़कीर मोहन सेनापति (उड़िया)
'पल्ली समाज'—शरच्चन्द्र चटर्जी (बँगला)
'गोदान'—प्रेमचन्द (हिन्दी)
'मैला आँचल'—'रेणु' (हिन्दी)
*'माटीर मानुष'—पाणिग्राही (उड़िया)
*'मरकि मण्णिगे'—शिवराम कारन्त (कन्नड़)
'खेत जागे'—कृशनचन्दर (उर्दू)
'कालिन्दी'—ताराशंकर बंदोपाध्याय (बँगला)
'सात लाखातीस एक'—मामा बरेरकर (मराठी)
*'मालपल्ली'—उन्नव लक्ष्मीनारायण (तेलुगु)
*'रंटिटंगष्ठी' (दो सेर धान)—तकली शिव-शंकर पिल्ले (मलयालम)
'पिंजर'—अमृता प्रीतम (पंजाबी)
'एकचादर मैली सी'—राजेन्द्रसिंह बेदी (उर्दू)
'दि सिक्स एंड सोर्ड'—मुल्कराज आनन्द (अँग्रेज़ी)
'कंठपुर'—राजा राव (अँग्रेज़ी)
*'जीवी'—पन्नालाल पटेल (गुजराती)

प्रिय डैन, यह सब उपन्यास—जिनमें छह उपन्यास जिन पर * चिह्न हैं, हमारे देश की साहित्य-अकाडेमी द्वारा भारत की अन्य भाषाओं में अनुवादित करने के लिए चुने हुए उपन्यास हैं—स्वराज्य-प्राप्ति से पहले अधिकांश लिखे गये हैं । इन्हें लिखने के लिए किसी के केन्द्रीय साहित्य-सभा ने, सरकार ने या लेखक-संघ ने आदेश नहीं दिये थे कि चलो उपन्यास-लेखको ! खेतों की ओर चलो ! 'दुइ बीघा ज़मीन' तुम्हें-पुकार रही है ! मिट्टी की यह 'डाक', यह अपने ग्रामांचलों में बिखरी हुई अस्सी प्रतिशत जनता की ओर अवचेतन खिंचाव (तुम्हारी वैज्ञानिक शब्दावली में इसे 'ट्राइवल नौस्टेल्जिया' या क्या क़हते हैं ?) यहाँ के सारे कथासाहित्य की मूल आत्मा है ।

वही अब नये रूप में 'आंचलिकता' का नाम लेकर प्रकट हुई है । साहित्य-अकादमी ने जो गत सात वर्षों में पुरस्कार दिये उनमें किसी प्रदेश-अंचल विशेष से संबंधित कई उपन्यास हैं : 'अमृत संतान' (उड़िया), 'चेम्मीन' (मलयालम— यह तो अब तुम्हारे देश में अँगरेज़ी में भी प्राप्य

है), 'कॅलिकातार काछेई' (बँगला), 'अगल विलक्कु' और 'आलै ओवै' (तमिल), 'इयारुइंगम' (असमिया) इत्यादि।

तात्पर्य, जैसे हमारे कवि अपनी मूल परंपराओं में, अपने क्लासिक्स में अपनी सांस्कृतिक धरोहर खोज रहे हैं; हमारे कहानी-उपन्यासकार दिगंचल के विस्तार में वही एक माटी का रंग कई वर्णच्छटाओं में खोज रहे हैं। हमारी धरती से जो हमें प्यार है, वही हमारी कहानियों में फूट पड़ा है। गये दस वर्ष के श्रेष्ठ कहानीकारों की रचनाएँ अलग-अलग भाषाओं में खोजें तो उनमें भी वही बात मिलेगी चाहे वे कहानियाँ पद्मराजू की हों या व्यंकटेश माड्गूलकर की, अख्तर मोहिउद्दीन की हों या बुचिबाबू की, यशपाल या रांगेय राघव की हों या मंटो या कुर्रतुल-ऐन-हैदर की, 'अकिलन्' की हों या पोट्टेकाट्ट की, 'दर्शक' की हों या दुग्गल की, बनफूल की हों या सुरेन्द्र महान्ती की:...

मैं मानता हूँ, डैन कि नाटक का हाल इतना अच्छा नहीं है। एक समय का भारत—कालिदास और शूद्रक, भरत और धनंजय का भारत अब नाटक के मामले में कमज़ोर है। गये सौ साल में हमने ऐसा एक भी नाटक नहीं पैदा किया, जो विश्व-साहित्य की कोटि में रखा जा सके—इब्सन-शॉ-चेखव-ब्रेख्त-बेकेट की कोटि का। यों हमारे यहाँ सफल नाटक हुए हैं, सैकड़ों रातों तक उन्होंने देश के दर्शकों को रिझाया-डुलाया है—गुरजाड़ अप्पाराव का 'कन्या-शुल्कम्', खाडिलकर का 'कीचकवध', डी० एल० राय का 'शाहजाहान'। और भी कई नाटककार गिनाये जा सकते हैं—कैलासम् और आधरंगाचार्य, नार्ल और राजमन्नार, शचीन सेनगुप्त और मोहम्मद हसन, जगदीशचन्द्र माथुर और पु० ल० देशपाण्डे....

पर मैं नाम गिनाकर तुम्हें 'बोर' नहीं करूँगा। नाटक फिर लोकधर्मी परंपरा की ओर मुड़ रहा है। भारतीय साहित्य की परंपरा अविच्छिन्न है। भारत की आत्मा एक है, चाहे वह चौदह भाषाओं में अभिव्यक्त हो रही हो—फूलों के रंग और गंध अनगिनत हों—उनका यह गुच्छा एक ही प्रकार से मानव-सौन्दर्य को बढ़ा रहा है। एक सुन्दर बोके।

पत्र लम्बा हो गया, माफ़ करना।

तुम्हारा

—प्र० माचवे

●

मैं यह कहना भूल गया था कि पुराने पत्रों को पढ़ने में एक आनन्द यूँ भी है कि हमें ज्ञात होता है, हमें इनका उत्तर नहीं देना है।

—बायरन

जनकनन्दिनी सीता—यानी भारतीय आदर्श की मूर्तिमान प्रतीक,… क्लिओपेट्रा—यानी ऐय्याशी का ज्वलन्त प्रमाण !! दो नितान्त विरोधी छोर। यहाँ पढ़िए, क्लिओपेट्रा का कविता की विधा में सीता के नाम लिखा हुआ एक पत्र।

◈

क्लिओपेट्रा—मिस्र के सम्राट की सुन्दर, सुशिक्षित लड़की; राज्यलोभी भाई द्वारा निर्वासित; सिकन्दरिया में पहुँचे प्रसिद्ध विजेता सीज़र से, राज्य-प्राप्ति के लिए मित्रता, फिर प्रेम : सीज़र के पास एक सौदागर द्वारा कम्बल में लपेटकर पहुँचाई गई। सीज़र की मदद से राज्यारोहण; उसके साथ रोम में; वहाँ जनपूजा-स्थान में दोनों की प्रतिमाओं की स्थापना। ४४ ई० पू० में सीज़र की हत्या। एण्टनी को मिस्र में निमंत्रण, उसका और क्लिओपेट्रा का प्रेम-सम्बन्ध; बाद में दोनों का विवाह—जिसके लिए एण्टनी ने अपनी पत्नी ऑक्टेविया से संबंध-विच्छेद किया। ऑक्टेवियन (ऑक्टेविया के भाई) द्वारा एण्टनी की पराजय, मिस्र को पलायन, वहाँ मृत्यु; क्लिओपेट्रा की आत्महत्या। शेक्सपियर और बर्नार्ड शा ने क्लिओपेट्रा के जीवन पर नाटक लिखे हैं। यूनानी जीवनीकार प्लूटार्क ने सीज़र और एण्टनी की जीवनियों में क्लिओपेट्रा का विस्तृत उल्लेख किया है। —लेखक

◈

डॉ० देवराज

क्लिओपेट्रा का पत्र : सीता के नाम



जनकनन्दिनी !
रविकुल की विख्यात वधू,
राघव की साध्वी, सती प्रिया
लंकापति की मशहूर बन्दिनी !

कल नन्दन के पूर्व - उत्तरी पुष्प-कोण में
एक तुम्हारे आश्रम की तापस-कन्या ने
मेरी मालिन को लक्षित कर व्यंग से कहा :
पश्चिम से आ कभी-कभी टकरा जाती है
अब कुछ गन्दी, बेवफ़ा हवा !

आई ग़ुस्सेभरी, झींकती, बकती-झकती
गुलशन-मालिन - सुन-सुन सब दासियाँ जल उठीं,
सखी-सहेली खिन्न-क्षुब्ध सब मुझे घेरकर
बोलीं, 'सहना नहीं उचित अपमान इस तरह,
देना है ज़रूर कुछ उत्तर।'

मैंने समझाया कोशिश कर युक्ति-तर्क से,
'धरती के झगड़े जन्नत में नहीं सोहते।'
व्यर्थ हुए सब तीर बुद्धि के, चीख़ सबों ने
कहा कि यों बेइज्ज़त होकर जीना सीखा
नहीं मिस्र की ख़ातूनों ने।

कुछ भीतर के कुढ़न-क्लेश कुछ आश्रित जन की
क्षुब्ध भावना, इसीलिए यह पत्र लिख रही,
वर्ना क्या चिन्ता करती मैं उस बड़बोली
मूर्ख तापसी की जिसने दफ़नाये शव की
तिक्तगंधिनी पेटी खोली !

अनुभव तीखे-तल्ख़ जिन्दगी के कर सौ-सौ
शान्त-सन्तुलित बहुत बन गई हूँ मैं यों तो,
जमा नहीं है किन्तु अभी तक ख़ून रगों का,
दाह जिगर में, अब भी इतिहासों के मनके
स्मृति-धागों में चित्त पिरोता।

'तुम पवित्र, तुम धन्य, सभ्यता की मर्यादा,
और क्लिओ वह—ज़िक्र न छेड़ो उसका दादा !
माय-बाप-गुरुजन का जिस पर कभी नियंत्रण
रहा न, जो आज़ाद शुरू से रही अन्त तक
करती सीमाओं का भंजन ।

'अब सीज़र से प्रेम, एण्टनी से अब उलफ़त,
साम्राज्यों के ख्वाब, कूट अभिनय-पारंगत,
आँखों में जादू, होंठों में अमृत-विष भरे,
दृप्त, बेझिझक, नज़रबाज़, चिकनी-चमकीली
नारी-नागिन क्या नहीं करे !'

पता नहीं मुझसे सम्बन्धित ऐसी बातें
सुन मन में क्या भाव तुम्हारे आते - जाते,
पर निश्चित ही तुष्ट तुम्हारी ख़ूब साथिनें
होती होंगी, पर-निन्दा-सी रोचक़, सुखकर
कम ही हैं चीजें दुनिया में !

मेरा जीवनवृत्त मनों में खीझ जगाता
तुम सबके, क्या करूँ नहीं कोई पछतावा
होता अब भी मुझे : बनी हूँ निपट बेहया,
तेज़क़दम गत की यादों से वर्त्तमान यह
मान रही सम्पन्न हो गया ।

खेद यही तुम और तुम्हारी तापस - सखियाँ
सभी पलायनवादी संस्कृति की सन्ततियाँ,
जनक-विदेहों के घर, मुनियों के आश्रम पल
बनी त्यागिनी, ठण्डे तन-मन, हृदय-बुद्धि जड़,
चित अनुत्सुक, नयन अचंचल ।

समझ सकोगी कैसे उनकी मनोवृत्तियाँ
विश्व जगत के अणु-अणु पर जो रँगी दृष्टियाँ
डाल चाहते सब-कुछ को दुनिया जहान में
छूना, धरना, घेर पकड़ना, सहना, जीना,
बाँध-गूँथ चेतना-प्राण में ।

भेद सिर्फ़ यह : सकती पर वक्र भवों के
चलता था इतिहास-चक्र जिसके यह पहले,
वह सम्राज्ञी अब तटस्थ दर्शिका बन गई,
भुक्तभोगिनी, राग - द्वेष - द्वन्द्वों से निष्कृत
बोधदीप की शिखा बन गई !

शिखा--चमकती लौ--जो केवल राख ही नहीं
कहीं शून्य में सुलग - जल बुझे अंगारे की;
कवि - काया से भिन्न स्वरों-वर्णों में दिपती
निराकार वाणी-सी--रसिकों के मन-घन में
दामिनि जैसी दमक मारती ।

निश्चय ही तुम निर्विकार निःसंग भूमि की
मुझ-सी, या मुझसे ज्यादा, अधिवासिनी बनीं,
अन्तर है पर एक बड़ा : जब तुम जीवित थीं
धरती पर, तब भी मन - काया से बेचारी
रहती थीं कुछ बुझी-बुझी-सी ।

तुमने कब जाना जीना
प्रज्ज्वलित तेज से,
आँसू बहते, प्राण धुँआते
नित्य ही रहे !

पल-पल शंका, संकट औ' दुर्भाग्य प्रतिक्षण,
ब्याह, राज्य की मृगमरीचिका, वह निर्वासन,
वह सोनामृग, वह रावण की कंचन - कारा,
महासमर लंका का, वह विजयी राघव का
लोकभयी संशय हत्यारा !

कब जीवन का स्वाद ले सकीं तुम दुखियारी,
फिरीं डोलती इधर-उधर क़िस्मत की मारी,
घेर तुम्हें अब चाटुकार तापस-कन्याएँ
बेचाही, वंचिता सुनातीं ऊँच-नीच की
गढ़-गढ़कर भावती कथाएँ !

प्रेम न मेरे लिए किसी प्रणयी की सेवा,
चाह समर्पण की, या विह्वल आकुलता था,
नहीं देह के तीखे-मीठे कुछ संवेदन,
ऊष्मित चुम्बन, उन्मादन आश्लेष और फिर
विस्मृति के बेरूपरंग क्षण।

नहीं प्रेम उतना भर, युवती बीस बरस की
शिष्ट-शिक्षिता जो विदग्ध चर्चाएँ करती
काव्य-कलाओं की लैटिन में और ग्रीक में,
बेसहाय, निर्वासित, कैसे इतने भर को
पकड़ चल सके जीवन-मग में ?

तरुण चित्त, बारीक बुद्धि, संकल्प ध्रुव, बड़े
ऊँचे सपने; और शत्रु सब ओर वे खड़े,
शंका, भय, नैराश्य छोड़ निज हाथों मैंने
भाग्य-डोर ली, नाज़ुक विहगी की उड़ान में
प्रेमिक-प्रेम बने दृढ़ डैने।

बादल से बिजली-सी जब कम्बल में लिपटी
निकल विजेता सीज़र के मैं चित्त पर गिरी,
इतिहासों के अंतरिक्ष में नई हवाएँ
चलीं, नये तूफ़ान उठे भूमध्य उदधि पर
जन-जिह्वा पर नई कथाएँ।

रोम-मिस्र एशियातटों के सब अधिवासी
भूले गत जीवन की सारी ऊब, उदासी,
देख ज्वलित दो नक्षत्रों को कर्म-गगन में
साथ, नयी उत्सुकता, आशा, नया कुतूहल,
नई दीप्ति फैली जन-मन में।

नये वाद-संवाद, प्रशंसा - ईर्ष्या - संशय
जन-मानस में लहरे नव आवेश, नये भय,
रोम-प्रजा के मंदिर में सीज़र के बायें
हुई क्लिओ की प्रतिमा स्थापित, संघर्षों के
नये नाद से भरी दिशाएँ।

विश्वजयी सीज़र के वह विश्वासघाती के
हाथों हत्या ! उलाकाओं के तुमुल पात वे !
यज्ञ-वह्नि-सी किन्तु ज्वलित मैं नव आहुतियाँ
रही माँगती : नई ज़िन्दगी, नई उष्णता,
वीर प्रणय की नई प्रणतियाँ !

प्रेमिक के मन-बुद्धि-हृदय पर गर्वित शासन,
यही प्रेम-सुख, और चरम उसका चरितार्थन—
प्रेमिक - बाँहों के झूले में पेंग मारकर
आगे, आगे बढ़ना, फिर लौटना शान से
सात समन्तर-शैल पार कर !

प्रेम आन्तरिक शक्ति : नये उत्साह-रक्त से
रग-रग को आन्दोलित करती,
प्रेम बाह्य आधार-प्रेरणा : जीवन - रथ के
चक्कों में नूतन गति भरती।

सीज़र का अग्रणी बन्धु, निर्भय सेनानी
देवर से प्रेमास्पद - प्रेमिक बना एण्टनी,
भीमार्जुन-सा जलता नित जो वीर्य-तेज से,
हलधर-सा हालाप्रिय, हनुमत्-सा समर्थ जो
सिन्धु लाँघता विपुल वेग से।

कभी रोम, यूनान, एशियातट - प्रदेश में,
कभी मिस्र में वीर विचरता विविध वेश में,
वक्ता, दानी, रणरंगी, निर्भीक, बेथका,
कभी समर की अंगूरों की कभी क्लिओ की
अधर-सुरा से बेतरह छका !

माना मैंने मारकाट औ' युद्ध स्वयं में
नहीं काम्य; खोये रहना संगीत-काव्य में
और प्रणय में मोहक-मादक; किन्तु करें क्या
युद्धाश्रित ही बढ़ पाता इतिहास। प्रलय है
साम्य, सृष्टि में गुथी विषमता।

सत्-रज-तम तीनों से गुम्फित है नर-जीवन,
विवश हम सभी: भिड़े युद्ध में राघव-रावण,
कौरव-पाण्डव, भीष्म-पार्थ सब लड़े परस्पर,
धरती का इतिहास अग्रसर करने त्योंही
जनमे-जिये एण्टनी-सीज़र :

और क्लिओ यह। जिसे एक नासमझ तापसी
(जो न भूमिका भी जीने की शुरू कर सकी!)
चली तोलने क्षुद्र बुद्धि का लिये बटखरा;
समझा देना उसे, दूसरों को, इसमें ही
श्रेय निहित है स्वर्ग-मर्त्य का।

पाप-पुण्य गरुए हैं, पर उनसे भी गुरुतर
है यह जीवन—जीवन का अहसास तीक्ष्णतर;
शान्ति बड़ी है, किन्तु शान्ति से भी महान है
क्षुब्ध मनुज-चेतना—जहाँ बिम्बित भुवनों की
सारी हलचल, सभी शान है!

शान्त-सरल जीवनचर्या से मुझे तुम्हारी
नहीं शिकायत किन्तु इसे समझो लाचारी
अपने उस बीते जीवन का शोर-गुल भरे
मुझे आज भी मोह, अभी भी उन स्मृतियों से
हो जाते मन-प्राण ये हरे।

कैकेयी - लंकेश - राम की वे छायाएँ
रहीं छेंकती सदा तुम्हारी जीवन - राहें;
तुम स्वतंत्र कब चलीं—धैर्य-संतोष से धनी
जग के उद्यानों में प्रतिमा त्याग-कष्ट की
बनी सदा तुम थीं प्रवासिनी।

बिलकुल ही विपरीत रहा मेरा जीवनक्रम,
मंत्रमुग्ध युग-सर्प चूमता रहा ये क़दम;
वीर-अग्रणी भी प्रेमिक वे तेज समेटे
स्निग्ध-कुटिल नज़रों के द्रुत संकेत जोहते
दीप्त क्लिओ को छाया भर थे।

यौवन के उद्दाम सुखों से नित्यवंचिता
तुम अकाल ही बनीं वृद्ध-पूज्या जगमाता;
तापशीत तप - साधक शतवर्जना - विशारद
देश तुम्हारा आदर दे आशीष माँगता :
तुम्हें मुबारक यह बूढ़ा पद !

सदायौवना, नित उच्छृंखल, प्रखर, रूपसी
मैं थी वीरों की कवियों की स्वप्न-प्रेयसी;
विश्वसुन्दरी - विश्वप्रिया—मेरी यह आख्या,
विश्वमान्य कवियों के नाटक-काव्य कर रहे
जिसकी नई-नई नित व्याख्या।

कभी उपेक्षित, परापेक्षिणी होकर जीना
मुझे न था स्वीकार; नियति ने ज्यों ही छीना
वीर एण्टनी, और शक्ति-सिंहासन डोला,
सुघर वक्ष पर अंकित करने अन्तिम चुम्बन
खींच लिया विषदन्त सँपोला !

जीवनभर उद्दीप्त दीप की लौ-सी बलती
अन्त ठसक से मृत्यु-बवंडर-गले जा लगी;
छोड़ नाम की महक महीतल की माटी में,
शाही शानें, ठाठ राजसी पुनः ठानने
आई अमरों की घाटी में !

अमर-भूमि यह, घाटी इतिहासों की उनके
मर्त्यलोक में महत् कर्म के हेतु जो बने;
त्याग-कष्ट से कोई-कोई शौर्य - शक्ति से
अमरकीर्त्ति-सोपान पकड़ते, भिन्न-भिन्न जन
अलग-अलग चुन रहे रास्ते।

टेढ़े-सीधे जीवन के बहुपंथ पार कर,
दीर्घ मनन चिन्ता से पाता यह विवेक नर;
सिया-क्लिओ दोनों का यहाँ ठहरना निश्चय
कल्प शेष तक; क्यों न छोड़ झंझट की बातें
साथ ढूँढ़ ले नया समन्वय ? ● ● ●

उर्दू की नयी पीढ़ी के एक सशक्त प्रतिनिधि कवि और विचारक का ज्ञानोदय-सम्पादक के नाम लिखा पत्र जो हिन्दी और उर्दू, नयी पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी, भाषा, संस्कृति, धर्म, राजनीति आदि कई महत्वपूर्ण समस्याओं पर हमें विचार करने के लिए प्रेरित करता है।



•

राही मासूम रज़ा

•

वली मंज़िल, बदर बाग़,
अलीगढ़

१–८–६३

प्यारे शरद लिखूँ या प्रिय शरद,—भई मैं तो इस चक्कर में पड़ता नहीं हूँ क्योंकि मैं यह बात जानता हूँ—और तुम भी यह बात जानते ही हो—कि प्यारे और प्रिय का अर्थ एक ही है। अरे भाई, असल चीज़ तो भावना ही है। शब्दों की शक्ल भिन्न-भिन्न हो सकती है, उनकी आवाज़ भी अलग-अलग हो सकती है, लेकिन दुनिया की हर भाषा में एक शब्द ऐसा अवश्य है जिसका अर्थ निकालो तो प्यार निकलता है। बुनियादी शब्द यही है, बाक़ी सब घपला है। मैं इस एक शब्द के अलावा बाक़ी तमाम शब्दों को भूलने का प्रयत्न कर रहा हूँ। मेरी शब्दावली में केवल यही एक शब्द है, बाक़ी तमाम पन्ने सादे हैं। और उन्हें मैं इसी एक शब्द से भरता चला जा रहा हूँ।

तुम हिन्दी के लेखक हो, मैं उर्दू का शायर हूँ, परन्तु न तुम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हो और न मैं अन्जुमन-ए-तरक़्क़ी-ए-उर्दू हूँ। क्यों न यूँ कहा जाय कि तुम हिन्दी के लेखक-अदीब हो और मैं उर्दू का कवि! क्या भाषाओं की दीवार इतनी ऊँची है कि हम यह भी न देख सकें कि हम दोनों एक ही देश और एक ही दुनिया के रहने वाले हैं। हमारी कामनाएँ और हमारे ख़्वाब एक हैं। क्या फ़र्क है

प्यारे लिखूँ या प्रिय ?

मुझमें और तुममें ! क्या तुम इसके अलावा कुछ और चाहते हो कि हमारा सारा देश लिख-पढ़ ले ताकि हमारी किताबें लाखों-लाख छपें, और हमारी डाक हमारे पाठकों के ख़तों से बोझिल हो जाय ! क्या तुम नहीं चाहते कि हमारा यह देश तरक्क़ी करे, स्कूलों में बच्चे हँसें, खेतों में फसलें गुनगुनायें, मीलों की चिमनियाँ आसमान को आँख मारें और चाँदनी रात में जब हवा जूही की टहनियों को गुदगुदाये या जब चाँद अमलतास के फूलों से झाँके तो हमें अच्छे - अच्छे शेर याद आयें.... । मैं यही चाहता हूँ । हर साहित्यकार यही चाहता है । फिर हिन्दी का अदीब या उर्दू का शायर या बँगला का नॉवलिस्ट क्यों ! शायर, शायर है चाहे वह किसी ज़बान में शायरी कर रहा हो। हर ज़बान का शायर यही चाहता है कि चारों ओर फैली हुई गंदगी, ग़रीबी, जहालत और नफ़रत ख़त्म हो जाय । मैं तो कॉरपोरेशन या म्यूनिसिपैलिटी की कूड़ा-गाड़ी बनने को तैयार हूँ, ये सारी गन्दगी मुझ पर लाद दो और मुझे हिन्द-सागर में डुबो दो ! सच पूछो तो बार-बार विष्णु ने इसीलिए अवतार लिया और ख़ुदा ने बार-बार पैग़म्बर भी इसीलिए भेजे, फिर भी यह काम अधूरा रहा क्योंकि यह काम ख़ुदाओं के वस का नहीं है। यह काम तो हमें और तुम्हें करना होगा।

यह बात मैं तुम्हें इसलिए लिख रहा हूँ कि शायद तुम इस नारे में मेरा साथ दो कि भाषाओं की दीवार बहुत नीची होती है। साहित्य भाषा का नाम नहीं है, मैं यह कहकर भाषा का मूल्य कम कर देना नहीं चाहता लेकिन क्या तुम यह महसूस नहीं करते कि भाषा तुम्हारी कल्पना की उड़ान का साथ नहीं दे पा रही है। मैं तो यह महसूस करता हूँ। भाषा अनजानी चीज़ों के बयान में थक जाती है और साया देखते ही हाँफकर बैठ जाती है, इसीलिए तो आदमी को साहित्य की ज़रूरत हुई। साहित्य सिम्बल के पर लगाकर जानी और अनजानी दुनियाओं को पाने और उस सफ़र के तजुर्बों को अपनी दुनिया तक पहुँचाने का काम करता है। दुष्यन्त के नाम शकुन्तला का ख़त कोई डाकिया नहीं ले जा सकता था

उर्दू की प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका 'फ़नकार' के तत्कालीन सम्पादक श्री प्रकाश पण्डित के नाम श्री राजेन्द्रसिंह बेदी का एक अप्रकाशित पत्र :

१८. सोसाइटी बिल्डिंग,
मटुंगा, बम्बई।
२-६-५५

प्रिय भाई प्रकाश पण्डित,

कृपापत्र मिला। मैं आपका कृतज्ञ हूँ कि आप मेरी विवशताओं को सहानुभूतिपूर्वक लेते हैं। यह आप ऐसे चंद लोग ही हैं जो मुझसे इतने निराश नहीं जितने दूसरे हैं। मैं साहित्य की ओर न आ सकूँगा, इसका सवाल ही पैदा नहीं होता। अपनी फ़िल्म प्रोडक्शन मैं इसलिए शुरू कर रहा हूँ कि दाल-रोटी का सिलसिला यकीनी हो जाए तो फिर से लिखने-पढ़ने की ओर आऊँ। मुझे इस बात का पूरा विश्वास है कि कोई भी काम सफलतापूर्वक करना हो तो मनुष्य जब तक उस काम से सम्बन्धित वातावरण में चौबीसों घंटे साँस न ले, उसे उचित ढंग से पूरा नहीं कर सकता। यह रवैया कि सफल फ़िल्में भी लिख ले और फिर अच्छा साहित्य भी रच ले, सरासर ग़लत है।

शकुन्तला का डाकिया कोई कालिदास ही हो सकता था ! क्या तुम इसे पसन्द करोगे कि कालिदास एक भाषा के बन्दीगृह में पड़ा रहे, चाहे वह भाषा कितनी बड़ी क्यों न हो ? क्या यह दुनिया की दूसरी शकुन्तलाओं के साथ नाइन्साफ़ी नहीं होगी ? प्यारे ! हम वो डाकिये हैं जो अनलिखे ख़त ले जाते हैं। भाषा प्यास को नाप नहीं सकती। कविता प्यास को नापती है। इसीलिए कविता की दुनिया में शब्द आलोचना का पत्थर नहीं है बल्कि गीली मिट्टी है जिससे कवि की कल्पना--प्याला, सुराही और मकान बनाती रहती है। आदमी ख़्वाब देखता है। कविता उन ख़्वाबों को बयान करती है और साइंस उन ख़्वाबों को पूरा करती है, इसीलिए मैं कविता के भविष्य के बारे में नहीं सोचता। कविता का भविष्य, मनुष्य का भविष्य है और मनुष्य का भविष्य उज्ज्वल है। आदमी सदा ख़्वाब देखेगा और कवि सदा उन ख़्वाबों को गुनगुनायेगा।

इसीलिए ज़रूरी है कि कवि को समझा जाय। कवि अलौकिक नहीं होता, एक मामूली आदमी होता है--दुनिया के तमाम मामूली आदमियों की तरह वह भी मुहब्बत करता है और उस मुहब्बत को बचाने के लिए नफ़रत करता है। वह भी एक छोटे-से घर का ख़्वाब देखता है। परेशानी उस समय होती है जब हम कवि से ऐसी बातें सुनकर चौंक उठते हैं और कहते हैं कि 'कवि को यह बात शोभा नहीं देती !' क्यों नहीं देती साहब ! आलोचना के ठंडे क़ानून की तलवार चलाना आसान है लेकिन जब तक आप उस दर्द को न समझें जिससे कली को फूल बनने और शब्द को शेर बनने में गुज़रना पड़ता है, तब तक आपको आलोचना करने का हक़ नहीं है। मैं यह नहीं कहता कि आलोचक के लिए कलाकार होना ज़रूरी है। लेकिन मैं यह ज़रूर कहता हूँ कि आलोचक को क्रीएशन के दर्द से परिचित होना चाहिए। दाई से पेट क्यों नहीं छिपाया जाता--सिर्फ़ इसलिए कि दाई उस दर्द को जानती है।

देखो, बात में बात निकल आई, पता नहीं हिन्दी में सब ख़ैरियत है या नहीं लेकिन उर्दू में किसी तरफ़ ख़ैरियत नहीं है। हमारे आलोचकों और बुज़ुर्ग शायरों का ख़याल

दिन भर हम रोटी पैदा करने के लिए भाग-दौड़ करें और फिर शाम को बैठकर कहानी लिख लें तो उस 'रचना' को 'ठीक है' तो कहा जा सकता है लेकिन अच्छे साहित्य का पद नहीं दिया जा सकता। यह अलग बात है कि कभी ग़लती से भी अक्ल की बात हो जाती है।

अपनी प्रोडक्शन शुरू होने के बाद मैं फ़िल्मों में फ्री-लान्सिंग के काम से मुक्ति पा लूँगा और अपनी यूनिट के आदमियों से मैंने तै कर रखा है कि प्रोडक्शन के अन्य कामों में मैं अपने-आपको नहीं उलझाऊँगा। करूँगा तो केवल वही काम जो लिखने से सम्बन्धित होगा। उपन्यास 'पहाड़ी कव्वा' किसी समय भी दस-पन्द्रह दिन में समाप्त कर सकता हूँ। उसके बाद 'कन्यादान' और 'हँकैये' (Beaters) नाम के दो उपन्यास स्केच कर रखे हैं जो इसी वर्ष में पूरे करूँगा। यह मैं केवल आपसे कह रहा हूँ अन्यथा बाक़ी लोग तो अपने उल्लेखों में राजेन्द्रसिंह बेदी को 'स्वर्गीय' लिख चुके।

आपका

राजेन्द्रसिंह बेदी

ये है कि नई कविता और नये कवियों में जान नहीं है। 'जोश' यह इल्ज़ाम 'फ़ैज़' और 'सरदार' पर लगाते हैं; 'फ़ैज़' और 'सरदार' यह इल्ज़ाम हम पर लगाते हैं। भई, मुझे तो यह नई कविता खासी जानदार मालूम देती है। नज़ीर अकबराबादी और ग़ालिब को तुम-लोग भी जानते हो, इन दोनों बेचारों की इनके अपने ज़माने में वो छीछालेदर हुई है कि कुछ न पूछो। नज़ीर के लिए कहा गया कि वह बाज़ारी शायर हैं और ग़ालिब के लिए कहा गया कि उनके शेर बेमानी होते हैं। बाद में पता चला कि ये दोनों अपने ज़माने के कई बड़े शायरों से बड़े शायर थे। यार! आलोचकों की बात हमेशा ठीक नहीं होती। कभी-कभी वे बड़ी ईमानदारी से बेईमानी करते हैं। बात यह है कि हर युग में अदब को जाँचने की एक कसौटी होती है इसलिए उन दिनों नज़ीर और ग़ालिब वाक़ई बुरे शायर थे; परन्तु जब ज़माना बदलता है तो एक नया साहित्य पैदा होता है और उसे जाँचने के लिए एक नई कसौटी की ज़रूरत पड़ती है। नये साहित्य को पुरानी कसौटी पर कसना ठीक नहीं है। मन्टो, इस्मत और कृश्न-चन्दर को कसा गया, नतीजे में शोर हुआ, मुक़दमे चले और किताबें ज़ब्त हुईं। लेकिन मज़े की बात यह है कि यही लोग पुराने होकर नये साहित्य को पुरानी कसौटी पर कस रहे हैं। क्या यह बात इनको किसी ने नहीं बताई कि १५ अगस्त, १९४७ को हिन्दुस्तान आज़ाद हो गया और आज़ाद हिन्दुस्तान के साहित्य को ग़ुलाम हिन्दुस्तान की कसौटी पर कसना उसकी तौहीन है। इसलिए मेरे ख़याल में इसकी सख़्त ज़रूरत है कि आज के साहित्यिक मूल्यों की खोज की जाय, क्योंकि जब तक उनका पता नहीं चलता तब तक नये साहित्य की आलोचना असंभव है।

सम्भव है कि कोई यह पूछे कि, फिर मेघदूत आज हमें क्यों दीवाना कर देता है या हैक्टर के चरित्र में आज भी हमें बड़ाई क्यों नज़र आती है या हम आज भी फ़िरदौसी के रुस्तम से क्यों प्रभावित होते हैं। अपनी जगह तो यह सवाल ठीक है लेकिन मेरा ख़याल है कि अगर आज कोई शकुन्तला, इलियड या मैकबेथ लिखे तो उन्हें कोई दो टके को भी नहीं पूछे। आज की शकुन्तला तार देगी, कमल के पत्ते पर ख़त लिखने नहीं बैठेगी। फिर भी शकुन्तला हमें मोह लेती है। बात यह है कि जिस तरह आज के साहित्य को कल की कसौटी पर परखना ठीक नहीं है उसी तरह कल के साहित्य को आज की कसौटी पर कसना भी ठीक नहीं है। इलियड लिखने के लिए प्राचीन यूनान और मानव-सभ्यता के लड़कपन की ज़रूरत है। साहित्य को समझने के लिए हमें साहित्यकार की दुनिया में जाना पड़ता है। होमर का इलियड, सेफोक्लीज का उडीपस, कालिदास की शकुन्तला और वाल्मीकि की रामायण पढ़ते समय हम थोड़ी देर के लिए अपनी इस दुनिया से बहुत दूर, प्राचीन यूनान और प्राचीन भारत में चले जाते हैं और तब हमारी समझ में वह हैक्टर आता है जो एक हारी हुई लड़ाई लड़ने के लिए मैदान में उतरता है और तब हमारी समझ में वह उडीपस आता है जो अपने बाप को मारकर अपनी माँ से शादी कर लेता है। और तब हमारी समझ में वह शकुन्तला आती है जो कमल के पत्ते पर अपने प्रियतम

को पत्र लिखती है। वृन्दावन में जमुना के किनारे आँख बन्द करके बैठे बिना न गाय के गले की घण्टी बजती है और न राधा की पायल खनकती है और न नटखट माखन-चोर की आवाज़ ही सुनी जा सकती है--'मैया मैं नहिं माखन खायो।'

साहित्यकार हमें अपने साथ अपनी दुनिया में ले जाता है। इतिहास और साहित्य में यही फ़र्क है। हेरोडोटस के साथ हम उसकी दुनिया में नहीं जाते, परन्तु मिल्टन का शैतान हमसे बड़े-बड़े सफ़र करवाता है। प्राचीन साहित्य का मूल्य यही है कि वह हमें यह बतलाता है कि हम कैसे-कैसे रास्तों से चलकर आज की दुनिया तक आये हैं।

हमारा इतिहास, हमारे व्यक्तित्व का एक भाग है, इसीलिए हम भूतकाल के साहित्य को समझ सकते हैं, लेकिन हम भूतकाल का हिस्सा नहीं हैं इसलिए वह हमें नहीं समझ सकता।

यक़ीन न आता हो तो किसी चैतन्य को टैगोर की कविता सुनाओ, किसी वाल्मीकि को तुलसी की रामायण पढ़ाओ! किसी कालिदास से महादेवी, पंत और निराला की शायरी के बारे में पूछो और आज के किसी मुशायरे में ग़ालिब या मीर को बिठा दो, खुद मालूम हो जायगा कि मैं ठीक कह रहा हूँ या ठीक नहीं कह रहा हूँ।

तुम बोर तो नहीं हो रहे न? उस रोज़ कलकत्ते में ही 'फ़रपोज' के घने पश्चिमी वातावरण में बैठकर हमने बहुत मशरिकी क़िस्म की बातें की थीं, इसीलिए जी चाहा कि तुम्हें इस राज़ में शरीक कर लूँ कि नई कविता बड़ी जानदार है हालाँकि पुरानी कवितावालों को वह हमेशा बेजान मालूम होती है! उस शाम 'दिनकर' जी ने जो कविता सुनाई थी वह मेरे ख़याल में नई कविता पर एक सटायर था, और इसीलिए मैंने इसकी ज़रूरत महसूस की कि यह कह दूँ कि बड़े-बूढ़ों की बातों से दिल बुरा करने की ज़रूरत नहीं है, ये लोग ईमानदारी से यह महसूस करते हैं कि हमारी शायरी बेजान है। उनकी 'परशुराम' वाली कविता बड़ी ज़ोरदार है, उसमें 'जोश' मलीहाबादी जैसा ज़ोर है, परन्तु मेरा ख़याल है कि नई कविता के स्वर इतने ऊँचे नहीं हो सकते, राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के ज़माने में कवि की आवाज़ इसीलिए ऊँची हो गई थी कि चारों ओर 'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद' और गोलियों का शोर था। कान पड़ी आवाज़ सुनाई नहीं दे रही थी, इसीलिए कवि ज़ोर-ज़ोर से बात करने पर मजबूर थे। आज इसकी आवश्यकता नहीं है। हाँ! मुझे मालूम है कि चीन ने हम पर हमला किया था और शायद वह फिर हमले की तैयारी कर रहा है। हाँ! मुझे यह भी मालूम है कि पाकिस्तान चीन से साज़िश कर रहा है; परन्तु मुझे यह भी मालूम है कि अभी-अभी मास्को में रूस, अमेरिका और ब्रिटेन ने न्यूक्लीयर-शस्त्रों के परीक्षण बन्द करने का समझौता किया है। बात ये है कि हम केवल एक मुल्क में नहीं रहते हैं। हम एक दुनिया में भी रहते हैं और स्पूतनिकों के इस युग में साहित्य राष्ट्रीय होने के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय भी होता है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि कवि को आज चिल्लाने की ज़रूरत नहीं है। क्योंकि आज चिल्लाने के मानी ये हैं कि शायद हमें अपनी क़ौम पर भरोसा नहीं है। शायद हमको इसका यक़ीन नहीं है कि तमाम लोग

यह जानते हैं कि चीन से हमारी लड़ाई हो रही है। अरे भाई, अँगरेज़ों के ज़माने में गाँव-गाँव पंचायत के रेडियो नहीं थे ; आज आकाशवाणी ने यह बात सारे हिन्दुस्तान में फैला दी है कि हमारी उत्तरी-पूर्वी और उत्तरी-पश्चिमी सरहदों पर एक युद्ध का वातावरण है। फिर चिल्लाने की क्या ज़रूरत है ! हिन्दुस्तान कवि की ऊँची आवाज़ को अपनी हतक समझता है। उर्दू में तो यह हुआ कि ऊँचे स्वर में शेर लिखने वालों ने शेर लिखना छोड़ दिया है। आज कोई सरदार जाफ़री; कोई मजरूह, कोई क़ैफ़, कोई वामिक़ और कोई ताबाँ ऐसी शायरी नहीं कर रहा है जिसका ज़िक्र किया जाय। अख़्तरुल ईमान शेर लिख रहे हैं, उनकी आवाज़ कल भी मद्धिम थी इसीलिए नहीं सुनी गई, यही हाल 'फ़िराक़' का है। चुनांचे यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि उर्दू के जिन तीन कवियों को साहित्य-एकेडमी का इनाम मिला वे तीनों ही कोमल स्वर में शेर लिखते हैं। फिर कल के बड़े शायर ये नहीं थे; कल का दिन 'जोश' मलीहाबादी का था। लेकिन 'फ़िराक़' आज के बड़े शायर हैं। क्योंकि उनकी मद्धिम आवाज़ आज के संगीत से मेल खाती है। कुछ लोगों का कहना है कि उर्दू वाले 'फ़िराक़' को आज इसलिए बढ़ा रहे हैं कि वह हिन्दू हैं। यार लोग संगीत और स्वर के मामले में भी मज़हब को घसीट लाते हैं। इन्हें इतना भी नहीं मालूम कि आवाज़, स्वर और संगीत का कोई मज़हब नहीं है। लेकिन अपने इस मुल्क का हाल ही अजीब है, यहाँ केवल हिन्दू मिष्टान्न भंडार और मुस्लिम होटल ही नहीं होते बल्कि विश्वविद्यालय तक हिन्दू और मुसलमान होते हैं। और इस झगड़े में मिट्टी ख़राब होती है साहित्य की और साहित्यकार की। अब डर है कि कहीं कोई महापुरुष ये न कह दे कि मिट्टी ख़राब होना मुसलमान मुहावरा है क्योंकि हिन्दुओं की तो चिता जलती है !

कभी मौक़ा मिले तो इस विषय पर सोचना कि हिन्दुस्तानी मुसलमानों के बाप-दादा हिन्दुस्तानी हिन्दू थे। पाकिस्तान बन जाने से बाप-दादा तो नहीं बदल सकते ना ! या बदल सकते हैं ! भाई, कहते हैं कि यह कलयुग है इसलिए क्या पता कि बाप-दादा बदल ही गये हों ? बड़े ग़ुलाम अली ख़ाँ और कुर्रतुल-एन-हैदर का पाकि-

श्री प्रकाश पण्डित के नाम श्रीमती इस्मत चग़ताई का एक अप्रकाशित पत्र :

३, इंडस कोर्ट, मेरिन ड्राइव,
बम्बई।
१७-९-५८

माई डियर प्रकाश,

मुझे मालूम था कि 'नक़ूश' में मज़मून दिया तो तुम्हें शिकायत होगी। बात यह हुई कि एकदम हालात कुछ ऐसे बिगड़े कि पचास रुपये जो 'नक़ूश' ने भेजे [illegible] और ख़र्च करने पड़ गए। लिहाज़ा मज़मून लिखना पड़ा। इससे यह न समझना कि मैं घुमा-फिराकर पैसा माँग रही हूँ। अब हालात फिर सँभल गए हैं। अलीगढ़ से आते ही नई पिक्चर शुरू कर दी है मगर पचास

बगए तो खर्च हो चुके थे और मज़मून जा चुका था । नावल शुरू की, वह मुकम्मल क्या होती जब दस दिन लिख कर छोड़नी पड़ी । नावल लिखूँ या कोई बाज़ार के लिए तमाशा कि घर चले । मैंने सोचा था कि बिलकुल फ़िल्म-लाइन एक साल के लिए छोड़कर किसी छोटी-सी जगह रहूँगी । आस-पास के गाँव देखूँगी । कुछ लिख सकूँगी मगर साल भर तो क्या मैं दो महीने न रह सकी । किस बल पर रहूँ । क्या साल भर मुझे और मेरे बच्चों को कोई मेहमान रख सकता है ? अगर रख भी ले तो क्या मैं बर्दाश्त कर सकती हूँ ? लिहाज़ा लौट आई । शुरू ही बहुत दूर नहीं जा पाई थी कि ज़िन्दगी की ज़रूरतों ने तकाज़ा शुरू कर दिया और भयानक दरिन्दों ने दाँत निकोसने शुरू कर दिए और सारा शौक़ मज़मून-निगारी का रफ़ूचक्कर होकर फिर वही रट में खुद को जोत दिया । बग़ैर फ़िल्म के मेरा घर कैसे चले और फ़िल्म का माहौल और ज़िन्दगी लिखने क्यों दे !

ख़ैर, इस फ़िल्म के बाद अगर कुछ हाथ में रह गया तो फिर छोड़ दूँगी और जब लिखूँगी तो सबसे पहला मज़मून तुम्हारा यानी 'फ़नकार' का होगा । इस वक़्त यह ख़त स्टूडियो में बैठकर लिख रही हूँ । आर्टिस्ट तैयार नहीं लिहाज़ा काम रुका हुआ है और वक़्त मिला है । मगर गले में घुटन हो रही है कि यह बैर अपनी मौत को तेज़गाम न कर दे ।

कितनी मर्तबा ख़त लिखना शुरू करती हूँ फिर न जाने कहाँ से अपनी परेशानियाँ आन धमकती हैं । उनका ज़िक्र लिख जाती हूँ फिर वह ख़त फाड़ डालती हूँ । तुम कहते हो, मैं काहिल हूँ, जवाब नहीं देती !

फ़क़त

इस्मत

स्तान से हिन्दुस्तान चला आना पाकिस्तान बन जाने से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है । इन दोनों ने जिन्ना साहब के इस्लामी मुल्क को छोड़ कर गान्धीजी के हिन्दू-मुल्क को अपना लिया है—यारो, क्या अब भी यू. एन. ओ. में कश्मीर के विषय में बहस होगी ?

एक बार एक साहब ने मुझसे कहा कि अगर कश्मीर हिन्दुस्तान का है तो आपका यह नेहरू रायशुमारी क्यों नहीं करवाता ? मैंने कहा, क्यों करवाये साहब ? वे बोले, इसलिए कि कश्मीरियों की राय मालूम हो जाय । मैंने पूछा, अगर पेरिस के तमाम लोग यह राय दे दें कि एफिल टावर लाहौर में है तो क्या वह लाहौर में हो जायगा ? क्या दिल्ली वालों का वोट जामा मस्जिद को और आगरेवालों का वोट ताजमहल को और लखनऊ वालों का वोट छतर-मंजिल को लाहौरी साबित कर सकता है ? लाहौरी ईंट तो सुनी थी लेकिन लाहौरी लाल क़िला ? नहीं साहब, इन मामलात पर रायशुमारी नहीं होती ! बोले, तुम हिन्दू हो । मैंने कहा, सब सिन्धवाले हिन्दू हैं ।

न मालूम क्यों हिन्दू एक मज़हब का नाम पड़ गया है । मेरे ख़याल में यह नाम ग़लत है । हिन्दू एक कल्चर का नाम है और उस कल्चर की गोद में परवान चढ़ने और जीने-मरनेवाली एक क़ौम का नाम है । इस नाम का किसी मज़हब से कोई वास्ता नहीं है । मैं सनातन धर्म, वैष्णव धर्म

इस्लाम, सिख मत, बुद्ध मत और जैनमत का क़ायल हूँ लेकिन कल्चर के लिहाज़ से ये सब हिन्दू हैं। मैं यह कहना चाहता हूँ कि जिस माने में हम 'हिन्दुस्तानी' को इस्तेमाल करते हैं उस माने में हमें 'हिन्दू' को इस्तेमाल करना चाहिए। चुपके से एक बात सुनो, पाकिस्तान दरअसल जिन्ना साहब ने नहीं बनवाया था, पाकिस्तान तो उन लोगों ने बनवाया था जिन्होंने तुर्कों, मुग़लों, पठानों और अरबों को उनकी क़ौमों के नाम से नहीं पहचाना बल्कि उनके मज़हब के नाम से पहचानकर उन सबको मुसलमान कह दिया था!

आज के साहित्यकार का फ़र्ज़ यह है कि वह 'हिन्दू' को धर्म की अन्धेरी दुनियाँ से निकालकर 'कल्चर' की खुली फ़िज़ा में लाये। धर्म सभ्यता का एक छोटा-सा अंग होता है। सभ्यता धर्म से बड़ी होती है। हिन्दुस्तानी मुसलमानों के सुपरस्टीशन उन्हें उस हिन्दुस्तान से जोड़े हुए हैं जिस हिन्दुस्तान में इस्लाम नाम का कोई मज़हब नहीं था। इस्लाम छींकने पर काम न करने या बिल्ली के रास्ता काटने पर घर लौट आने का क़ायल नहीं, परन्तु हिन्दुस्तानी मुसलमान इन सबका क़ायल है। और इन सबका क़ायल होने पर भी वह मुसलमान है। नतीजा यह निकालता हूँ कि न सिर्फ़ ये मुसलमान हिन्दुस्तानी हैं बल्कि इनका इस्लाम तक हिन्दुस्तानी है।

हाँ कोई ये सवाल ज़रूर कर सकता है कि इतनी भाषाओं और इतनी राष्ट्रीयताओं के एक देश का 'कल्चर' एक इकाई कैसे हो सकता है। मैं बताता हूँ, सारे हिन्दुस्तान में अनाज से अनाज खाया जाता है। आँगन चौकोर नहीं होता, दरवाज़े पूरब-पश्चिम होते हैं और [illegible] लिबास हमारा लिबास है यानी साड़ी-धोती से कफ़न तक—यानी बुनियादी तौर पर खाना, लिबास और मकान सारे हिन्दुस्तान में एक हैं। अब रहा प्रश्न भाषाओं का। सिन्धी और उर्दू के अलावा कोई भाषा दायें से बायें नहीं लिखी जाती। सिन्धी और उर्दू की लिपि फ़ारसी है। यूँ समझो कि जहाँ ईरान से ऋग्वेद के कुछ मन्त्र आये वहीं एक लिपि भी आ गई। मैं यह बहस नहीं छेड़ रहा हूँ कि उर्दू को लिपि छोड़नी चाहिए या नहीं, मैं यह कह रहा हूँ कि उर्दू की लिपि सिर्फ़ इसलिए मानने के क़ाबिल नहीं है कि वह विदेशी है तो ऋग्वेद को फिर से सम्पादित करने की ज़रूरत है। लोग ये क्यों नहीं सोचते कि हिन्दू देवी-देवताओं में अनार्य देवी-देवताओं का बहुमत है। 'इन्द्र' 'जुपीटर' है, 'कामदेव' क्यूपिड है, 'कुबेर' 'ख़िज़्र' है, राम का रंग काला है, कृष्ण का रंग इतना काला है कि नीलाहट लिये हुए है। भाई, देवता भी यात्रा करते हैं और उनकी कहानियाँ भी। कृष्ण और मूसा की कहानी एक है; मुमकिन है कि यह कहानी यहाँ से वहाँ गई हो और यह भी मुमकिन है कि यह कहानी वहाँ से यहाँ आयी हो। हिन्दू और यहूदी दोनों अलग-अलग धर्म हैं, किन्तु दोनों ही एक कहानी का बिछौना बिछाये सो रहे हैं। कहानियाँ धर्म नहीं होतीं। कहानियों पर ज़्यादा ध्यान नहीं देना चाहिए। समाज की ज़रूरतें देवमाला बनाती हैं। देवता समाज को नहीं बनाते समाज देवता को बनाते हैं। वाल्मीकि का राम उनके ज़माने का राम है और तुलसी का राम तुलसी की अपनी कल्पना है। उनके राम का दरबार अकबर का दरबार

मालूम देता है। सीता ने जो जेवर फेंके थे और लक्ष्मण ने जिन्हें पहचाना था उनकी छान-बीन करनी चाहिए। यह असम्भव नहीं है कि वे सीता के ज़माने में ईजाद ही न हुए हों, इन बातों से यह न समझना कि मैं हिन्दुओं पर चोट कर रहा हूँ। इस्लामी क़िस्सों से उदाहरण देता तो ठीक से समझ न पाते। कभी कहोगे तो इस्लामी देव-माला के विषय में बड़ी दिलचस्प बातें बताऊँगा। अपनी पी. एच-डी. के लिए मैंने काम ही इन सब पर किया है।

कभी इन सवालों का जवाब देने की कोशिश भी करनी चाहिए कि रामचरित मानस संस्कृत में क्यों नहीं लिखी गई। कबीर, नानक और जायसी के सामने बनारस के संस्कृत के विद्वानों के चिराग़ क्यों नहीं जले? क्यों एक युग वीरगाथा का था, क्यों एक ज़माना शृंगार-रस का आया और क्यों एक ज़माने में भक्ति-आन्दोलन चला? साहित्य हो या धर्म--समाज में ऊँचा कोई नहीं होता। आज जो हमारे साहित्य में बड़ाई नहीं है उसका कारण यह है कि आज साहित्यकार समाज से ऊँचा होने की कोशिश कर रहा है।

मुझे नहीं मालूम कि तुम उर्दू जानते हो या नहीं! इस पत्र में मैंने बहुत से उर्दू के कठिन शब्दों का प्रयोग किया है। वैसे मैं सरल उर्दू लिखता हूँ, लेकिन मेरी सरल उर्दू भी हिन्दी वालों के लिए इतनी सरल नहीं होती होगी। लेकिन मैं आशा करता हूँ कि कठिन शब्दों के प्रयोग पर तुम मुझे क्षमा कर दोगे। शब्दों पर न जाओ। शब्द धोखा देते हैं, दृष्टिकोण को देखो और यह बताओ कि क्या मैं ग़लत कह रहा हूँ? एक बात और कहनी है, तुम जवान हो, जवान रहो, जवानी में बूढ़ों की तरह सोचना कोई अच्छी बात नहीं है। वह जवानी ही किस काम की जो मन में आई हुई बात बेझिझक कह न डाले। तुम्हारे जवाब का इन्तज़ार करूँगा। मुमकिन हो तो 'ज्ञानोदय' के वे पर्चे भेज दो, जिनमें नामवर सिंह के लेख छपे हैं।

सस्नेह तुम्हारा

'राही'

●

मेरे विचार में विद्वत्जनों के पत्र, मनुष्य के समस्त कथनों से श्रेष्ठ हैं।

—फ्रांसिस बेकन

प्रेम-पत्र पढ़ने लिए लोग भोजन भी त्याग सकते हैं।

--जी० जे० नाथन

सन्दर्भ : उर्दू की नयी पीढ़ी के सशक्त शायर और चिन्तक राही मासूम रज़ा का शरद देवड़ा के नाम पिछले पृष्ठों में प्रकाशित पत्र

शरद देवड़ा

प्यारे लिखूँ या प्रिय : सिर्फ एक प्राप्ति-सूचना

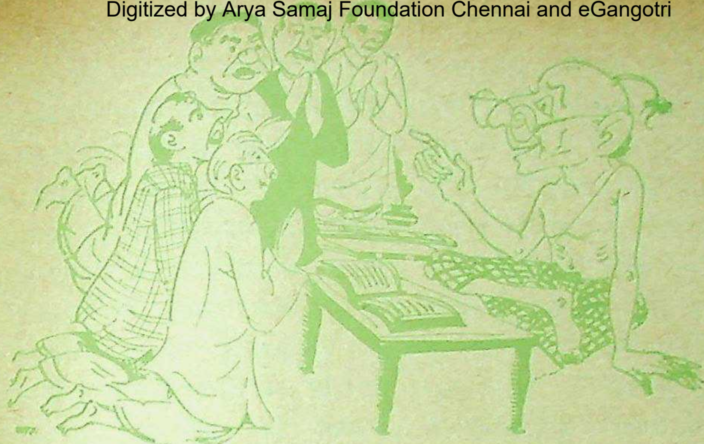
ज्ञानोदय कार्यालय
दिनांक १२-८-६३

राही,
तुम्हारे नाम के आगे-पीछे मैं प्यारे या प्रिय में से कुछ भी नहीं लगा रहा हूँ, क्योंकि तुम्हारे खयाल में शब्द धोखा देते हैं . . . लेकिन भाई मेरे, अगर तुम्हारी यह बात मान ली जाए कि शब्दों में कुछ नहीं रखा है, और शब्द धोखा देते हैं, तो फिर तुम अपने लिए, मेरे लिए और हम-जैसे अन्य अदीबों-शायरों के लिए कौन - सा शब्द इस्तेमाल करना चाहोगे जिनका काम ही शब्दों से खेलना है. . . जिनकी एकमात्र पूंजी यही शब्द हैं !

तो राही प्रिय, तुमने अपने पत्र में कई 'अवांछनीय' लेकिन साथ ही अहम मसलों पर काफी बुज़ुर्गाना अन्दाज में अपने विचार व्यक्त किये हैं। मैंने अवांछनीय इसलिए कहा क्योंकि तुम्हारा पत्र पढ़ते समय मैं बराबर यह सोचता रहा कि क्या यह धर्म और भाषा और साहित्य और संस्कृति और राजनीति और हिन्दी-उर्दू और नयी-पुरानी पीढ़ी सम्बन्धी अहम मसलों को हल करने का सिर-दर्द तुम बड़े - बूढ़ों के लिए नहीं छोड़ सकते थे ? क्या इसकी जगह तुम्हारे लिए यह बेहतर नहीं होता कि तुम केशरिया ह्विस्की [जिसके कि तुम दीवाने हो !] के आधे दर्जन पेग चढ़ाते और अपनी भाव-पूर्ण आँखों के बड़े-बड़े कटोरों में उतराते लाल-लाल डोरे लिए, अपने चन्द दोस्तों को अपनी नयी लिखी हुई कविताएं सुनाते ! लेकिन बन्धु, शायद इसमें दोष तुम्हारा नहीं है. . . . . शायद यह हमारे इस युग का ही तकाज़ा है जो हमें खेलने-खाने के दिनों में ही बुज़ुर्गों की तरह सोचने के लिए मजबूर कर देता है---हमें असामयिक बुज़ुर्ग बना देता है।

तुमने अपने यहां की नयी और पुरानी पीढ़ी की जो 'राम-कहानी' सुनाई है प्यारे, हिन्दी में भी हूबहू वही स्थिति है। हमारे साहित्यिक बुज़ुर्ग, नयी पीढ़ी के किसी लेखक का नाम सुनकर उसी तरह बिदकते हैं जिस तरह लाल कपड़ा देखकर . . . ! अच्छा सुनो, मैं भी तुम्हें चुपके से एक राज की

[शेष पृष्ठ १७१ पर]



रमेश बक्षी

आप ज्ञानोदय में पिछले कई अंकों से 'एक और पंचतंत्र' पढ़ते आ रहे थे; यहां पढ़ें उन तंत्रों का तंत्र यानी पण्डित विष्णुशर्मा का स्वयं कथाकार को लिखा 'सर्वथा व्यक्तिगत' पत्र जिसके साथ संलग्न हैं कई अन्य अनूठे पत्रों के नमूने।

●

प्रिय कथाकार,

मुझे खुशी है कि तुमने 'ड्यू' देकर मेरा यह बेरंग लिफ़ाफ़ा पोस्टमैन से ले लिया है। मैंने बेरंग इसीलिए भेजा कि यह तुम तक पहुँच ही जाए, यूँ रंगीन तो है ही क्योंकि 'एयर मेल' का लाल-नीला लिफ़ाफ़ा उपयोग में ला रहा हूँ। पढ़ने से पहले तुम एक इस बात पर ग़ौर कर लेना कि यह पत्र 'सर्वथा व्यक्तिगत' है। रहस्य की बातें व्यक्तिगत होती भी हैं——यूँ यदि तुझे और मुझे दोनों को शीघ्रलिपि आती तो उस लिपि में ही मैं तुझे पत्र लिखता। एक तो उस लिपि को कम ही जानते हैं और जानने वालों में लड़कियों का ही प्रतिशत अधिक है सो खतरा कम रहता है।

बात पर आऊँ....एक जिज्ञासा मेरे मन में है। यह जानने की कि पंचतन्त्र लिखने से किसी परेशानी में तो नहीं पड़ा तू? मैं तो बड़े कष्ट में पड़ गया था, कई मेरे समकालीन लेखकों ने मुझे घेर लिया था....उन पाँच अविनीत उच्छृंखल राजकुमारों को पंचतंत्र-पुड़िया से मैंने स्वस्थ क्या किया कि लोग मुझे

तंत्रों का तंत्र : शर्मा - बक्षीयम्

चामत्कारिक मान बैठे। राजा अमरशक्ति ने भी बड़ी प्रशंसा की और मेरे सम्मान में यहाँ तक कह दिया कि पं० विष्णु शर्मा तो कथा के जादूगर हैं और वैसे इसी ने मुझे संकट में डाला। जैसे कोई व्यक्ति किसी पी० एच० डी०, डी० फिल या डी० लिट् के पास जुकाम की दवाई लेने चला जाए वैसे ही मेरे पाँच समकालीन साहित्यकार मेरे पास आए और बोले, "हमें भी कोई तन्त्र बतलाइए जिससे साहित्य में हमारा मूल्यांकन हो सके!" असल बात यह कि लोग मुझे पंचतंत्र-कार होने के कारण 'तान्त्रिक' समझ बैठे और चले आए तरकीब पूछने। शायद तेरे सामने भी ऐसी समस्या आए...क्योंकि विश्व में दो ही पंचतंत्र-कार हुए हैं अब तक: एक तू, एक मैं।

हाँ, तो मैंने उन पाँच लेखक-कवियों को सम्मान के साथ बैठाया और कहा कि मैं कहानी लिख लेता हूँ, मैं क्या तन्त्र बतलाऊँगा; अभी तो मेरा ही मूल्यांकन नहीं हो पाया तो मैं आपका क्या करवाऊँगा? उनमें से एक लेखक बोलने में भी तेज था, मुदर्रिस होगा, बोला: "यदि आपने लेखक-समाज के लिए कोई तंत्र नहीं ढूँढ़ा जिसके द्वारा उनका मूल्यांकन हो सके तो आनेवाले युग में बड़ा अनर्थ हो जाएगा। साहित्यकार मूल्यांकन नहीं होने के कारण जहर खा लेंगे, रेल की पटरी पर सो जाएँगे, सन्यासी हो जाएँगे, बाल बढ़ा लेंगे, टी-हाउस में बैठने लगेंगे, अपनी-अपनी आत्मकथाएँ लिख डालेंगे, सेल्फ-पोर्ट्रेट के ढेर लग जाएँगे, मरने से पहले वे अपनी क़ब्र पर खुदवा जाएँगे: 'यहाँ वह सोया है जिसका मूल्यांकन नहीं हुआ!' एक और खतरा है कि सब लोग काटने लगेंगे, सब-के-सब व्यंग्यकार हो जाएँगे....।"

वह कुछ ऐसा चित्र मेरे सामने उपस्थित कर रहा था कि मुझसे वह देखा नहीं गया। मैंने उसे पानी पिलाया और कुरता खींचकर नीचे बैठा दिया। मेरे सामने वही समस्या थी। अरिचय-परिचय से पता चला कि उन लोगों में एक कवि, एक आलोचक, एक बाल-साहित्यकार, एक प्रबन्धकार और एक कहानीकार हैं और प्रत्येक व्यक्ति की बहुमुखी समस्या है: मूल्यांकन। मैं तब भी सोच रहा था और अब भी सोच रहा हूँ कि सड़ी-सड़ी कम्पनी के जूतों पर, चिथड़े किताबों पर, स्नो-पावडर पर, पेन-पेन्सिल पर सभी चीजों पर जब मूल्य अंकित रहता है तो एक साहित्यकार ही मूल्यांकन से वंचित क्यों रह जाए! बस इसी एक विचार ने प्रेरणा दी। कहा मैंने: "बंधुओ, आज की समस्या पर मैं तान्त्रिक विचार करके शीघ्र ही उपचार भेज दूँगा।".... किसी तरह वे लोग टले। असल बात यह है कि उन सबके अनुरोध करने से मेरा मूल्यांकन ही हो रहा था और इस बात से प्रसन्न होकर मैंने सबको उनकी औक़ात, आमदनी, हॉबीज, हविस आदि जाँचते हुए एक-एक पत्र लिखे। उन दिनों रचनाओं को फेअर करके भेजने की आदत थी अतः उसकी एक-एक रफ़ कॉपी मेरे पास है।

ले देख, मैंने क्या लिखा था मेरे समकालीनों को:

●

प्रिय कवि,

उस दिन की उस भीड़ में तुम ही मुझे ऐसे लगे थे जिसे मैं कुछ सलाहें ज़रूर देना चाहूँगा। मैं जानता हूँ, तुममें छटपटाहट है, इसीलिए अतुकान्त है तुम्हारी कविता;

तुममें आग है इसीलिए जलती हुई कविताएँ लिखते हो तुम; आनेवाले कल के हो इसीलिए दस के अलावा यदि कोई दिशा हो सकती है तो उसकी खोज में लगे हो तुम । तुम्हारा व्यक्तित्व, तुम्हारा निखरा हुआ रूप, तुम्हारा कुलीनपन सब कुछ अनुकूल है। तुमने परम्पराओं को तोड़ फेंकने के मूड में प्रगति का भी विरोध किया है । तुम एक परम-क्रोधी, परम प्रतिक्रियावादी हो—कैसा नया शब्द है तुम्हारी काव्यधारा के लिए! लिखने-विखने में कुछ नहीं धरा है इस निष्कर्ष पर तुम पहुँच ही चुके हो, महत्त्वपूर्ण है मूल्यांकन । तुम जैसे डूबतों के लिए यही एक आसरा है । बन्धु, न तो तुम कवि-सम्मेलन में जा सकते हो, न छपने से पैसा प्राप्त कर सकते हो, न पाठ्य-पुस्तकों में ही लग सकते हो— न कंठ है तुम्हारे पास, न तुम चंट हो और न इतने वंठ हो कि पाठ्य-पुस्तक में ही लग मरो । ऐसी स्थिति में केवल मूल्यांकन की प्राणवायु से ही तुम जीवित रह सकते हो। करो यह मित्र, कि एक लेख लिखो, एक स्टण्ट फेंको, कहो, आज महाकाव्य कहाँ लिखे जा रहे हैं, नई कविता की संक्षिप्तता से त्रस्त कवि-मन को महाकाव्यों के नियम-तोड़ महाकाव्य लिखना चाहिए । हमें अब तुलसी को याद करना है, व्यास-वाल्मीकि को याद करना है । रवीन्द्र और सूर कैसे दिग्गज हुए लेकिन महाकाव्य नहीं लिख पाए। मौक़ा है 'सूर-सूर' से आगे बढ़ने का, नोबल-प्राइज़ को पीछे छोड़ देने का ।....

अब तुम महाकाव्य की योजना बनाओ । मित्रों से (संख्या कम-से-कम चार) उस पर 'इन एण्टिसिपेशन' मूल्यांकन लिखवाओ । प्रशंसा में तुम स्वयं ये वाक्य जोड़ लो कि इस महाकाव्य ने सबको पीछे छोड़ दिया है । यह तो तुम जानते ही हो कि महाकाव्य तभी पढ़ा जाता है जब कि वह धर्मग्रंथ बन जाए या फिर पाठ्य-पुस्तक हो जाए । यह भी स्पष्ट है कि तुम्हारा महाकाव्य यह दोनों-नहीं होगा अतः कोई ख़तरा है ही नहीं । प्रशंसा पहले ही लिख दी जाएगी अतः केवल दो लोग उस पुस्तक को पढ़ पाएँगे : एक तो तुम स्वयं और दूसरा कम्पोज़ीटर, (प्रुफ़ पढ़वाने से कोई लाभ नहीं)। अब तुम इतना काम कर चुकने पर महाकाव्य झुका लो, दो दिन में उसे झुका डालो । फिर आसन्न संकट प्रकाशन का ही बच जाएगा । तुम किसी प्रकाशक से उसके प्रकाशन की बात चलाकर अपना अपमान मत करवाना । मूर्ख और प्रयोगवादी व्यक्ति—ये जो भी करें, सबको समाज क्षमा कर देता है। सो साहित्यकार का प्रकाशक ख़ून न चूसे इस उद्देश्य से ख़ुद ही उसे छाप डालना । जानता हूँ कि तेरे पास कुछ नहीं हैं अतः अपना घर खोलकर सब चीज़ें बेच डालना—साइकिल, फ़र्नीचर, जेवर-फेवर, सारी रद्दी, टूटे-फूटे टीन-कनस्तर....और महाकाव्य छपवा डालना । यूँ पूरे मूल्यांकन में दो-एक हज़ार ख़र्च आएगा । तू पाँच प्रतियाँ छपवाना, यह भी एक प्रयोग रहेगा—केवल पाँच प्रतियाँ : लोग यानी रिसर्च वाले उसकी प्रति खोजते-खोजते मर जाएँगे । एक प्रति पत्नी को, एक पुत्र को, एक स्वयं को, एक मिनिस्टर को, और एक प्रति चलती ट्रेन में भूल जाना। बस । ईश्वर चाहेगा तो सब ठीक हो जाएगा । अग्रिम शुभकामनाओं सहित—

—**विष्णु शर्मा**

●

प्रियवर डाक्टर साहब,

उस दिन आपने मुझे दर्शन देकर बड़ी कृपा की । मैं तो आपका भ्रू-संचालन देखकर ही दंग रह गया था । आपका कसा-कसा हुआ शरीर, सुगठित मांसपेशियाँ और वज़नदार बोल--कुछ भी हो, मेरे लिए तो ईर्ष्या का विषय है । यूँ तो आप सशक्त आलोचक के रूप में माने गए हैं लेकिन फिर भी मूल्यांकन तो मूल्यांकन होता है । समीक्षक का मूल्यांकन बड़ी मुश्किल बात है, यह काम लाउडस्पीकर का किराया चुकाने की तरह है । मैं जानता हूँ कि आपकी ख्याति लोगों को पीटने के कारण फैली है लेकिन पिटाई में पिट जाने का भी डर बना ही रहता है और यह अंदेशा ही बिगाड़े तो आपका स्वास्थ्य बिगाड़ सकता है । मुझे आपको समीक्षा की दिशा में दो बातों की सलाह देनी है : एक यह कि आप टिप्पणी लिखिए--टिप्पणी छुरे-चाकू की जाति की होती है, पोर्टेबल भी और गंभीर घाव करने वाली भी । मेरे ख़याल से प्रबंधों के ख़िलाफ़ जब आंदोलन होगा तो टिप्पणी के पक्ष में ही फैसला लिया जाएगा । फिर पुस्तकें भी वैसी ही होंगी : 'फलाँ-फलाँ की १०१ टिप्पणियों का संग्रह'. . . .तो बंधु, जिन पत्रों में टिप्पणियाँ छप रही हों वहाँ तो तत्काल कुछ भेज दो, जहाँ नहीं छप रही हों वहाँ शुरू करवाओ, पहली क़िस्त पाँच टिप्पणियों की लिख डालो. . . .टिप्पणी यानी पुड़िया--ज़रा सी चीज़, ऐसे बाँधों कि खानेवाला मर जाए. . . . इसका सिलसिला भी अनन्त है : टिप्पणी पर टिप्पणी लिख दो. . . .उस टिप्पणी पर एक टिप्पणी और झुका दो. . . .फिर उस पर एक और टिप्पणी

परदेश (कलकत्ता) से लिखा कवि [illegible] श्रीवास्तव का अपनी पत्नी सरोज (उन दिनों [illegible] वासिनी) के नाम एक नितान्त व्यक्तिगत [illegible]

[illegible]
९ जुलाई, [illegible]

चिरई,
खूब चहकत रहऽऽ !
तोहार चीठी कल हमके मिल [illegible] रहल । सोचली कि काल्हे जवाब [illegible] लेकिन काम एतना जियादा रहल कि [illegible] फुरसत नाहीं मिलल । बड़ी देर [illegible] तोहार चीठी चूम-चूम के पढ़त रहलीं । [illegible] मन भइल कि तोहके कहाँ से खोज लियाईं । ....तू हमार कम्पनी के नाम पुछले [illegible] । भला ऊ नाम लेके तू का करबू । [illegible] हमार आमदनी बहुत कम हौ । [illegible] रुपैया घरे भेजले हईं । मनीआर्डर [illegible] होई । तोहरे खरचा बदे रुपया [illegible] मगर अब ही हमरे ऊपर रहम करे [illegible] तोहके । कारन कि पइसा रुपया [illegible] हमरे लगे एतना नाहीं हौ कि हम बार-बार भेज सकीं । तोहरे खरचा बदे हम [illegible] जरूर भेजब । हमरे दुख-सुख के [illegible] फिकिर मत किहे । तू लोग सुखी [illegible] त हमहूँ सुखी रहब ।

कल से हमें बोखार आवत हौ । [illegible] तौने पर दफ्तर जाये के पड़ेला । खैर [illegible] कउनो फिकिर मत किहे । दुई चार [illegible] में ठीक होइ जाइब ।

अच्छा इ पचरा छोड़ द । नाहीं [illegible] कहबू कि नीक-नीक बात नाहीं लिख [illegible] खाली बखेड़ा लिख-लिखके भेज [illegible] करे चिरइया रे, एक दिन धीरे से उड़ [illegible] नाहीं अउती । अपने करेजा के पिंजरा [illegible] तोहके रखबै, मीठ-मीठ दूध-भात [illegible] बुलरबै, खेलइबै ।....

रात नाहीं बीतत । दिन त कइसो कइसो कट जाला मगर अंधियार [illegible]

लिख दो।....दूसरी सलाह यह कि कुछ छोड़ो....मतलब यही कि जहाँ ठीक-ठाक काम चल रहा हो, वहाँ पटाखा छोड़ दो : जैसे वाद के बाद वाद की सृष्टि कर दो। सब बातों के जनक तुम ही बनो : प्रयोगवाद को ग़लत ठहराकर 'नई कविता' का नारा दो, 'नई कविता' को फिर तुम ही ग़लत कहकर सही कविता की बात कहो उसको बोलो—'क्रोधित कविता', 'सूर्यास्त-वादी कविता', 'सूर्यमुखी कविता', 'निशावादी कविता'...एक - एक बात फेंकते रहो—बस तुम्हारा मूल्यांकन हो जाएगा। फिर कहानी में भी वही करो—बैठ ठाले लिखदो—कहानी-साहित्य में दस पीढ़ियाँ हैं! और कालक्रमानुसार विभाजन कर दो, बस, लोग आपस में लड़ते रहेंगे। फिर यह कहो—'निबंध मेच्योर माइण्ड की उपज है।'....और एक-दो कमाते-खाते कथाकारों को निबंधकार बनवा दो। जोहास्य-व्यंग्य लिख रहा हो उससे अरस्तू पर लेख लिखवा दो। जो साहित्य में पैसा भुना रहा हो उसे फ़िल्म में भिजवा दो। जो फ़िल्मी एक्टर हो उसे परले सिरे का कथाकार घोषित कर दो।....एक और तरीक़ा यह है कि छोड़ो नहीं कुछ, तो छेड़ो ही किसी को। किसी के व्यक्तिगत जीवन को उछाल दिया, किसी की छंदमुक्त कविता को फ़्रीवर्स घोषित कर दिया। ...तो बन्धु, त्रिसूत्री कार्यक्रम है : छिड़ो, छोड़ो और छेड़ो। ऐसा करोगे, तो तुम्हारी साहित्य-में वही क़ीमत होगी जो दिल्लीमें पंच-पाण्डवों की है।

लिखिए कि आपकी डी-लिट् की थीसिस का क्या हुआ।

आपका ही

विष्णु शर्मा

तोहार सुधि आवेला अउर जियरा बस में नाहीं रहत। "पढ़-पढ़ पतिया, दुखेला मोरी छतिया, सुरतिया न मोहे भुलाय, मोरी रानी, सुरतिया न मोहे भुलाय"....अब नाहीं लिखल जात हो। ना जाने कइसन मन होय गइल... "बहै लागे अँसुआ धोवै लागे कजरा, उनइ आये बदरा"।

बरसात क भींजल रतिया तोरे बिना काटे नाहीं कटत। अपने छाती पर पत्थर रखिके इ परदेस में अपन दिन काटत हईं रानी। खून-पसीना बहा के तोहरे [illegible] दुवे रोटी जुटावत हईं। बाकी सब मन में हो। तोहरे चीठी के आस लगल रही। —तोहार परदेसी बालम

बन्धुवर,

क्षमा करेंगे मुझे कभी यह कहूँ कि आपका चेहरा बोलता है। मैंने आपके चेहरे पर वे कन्टूर देखे हैं, जो योजनाओं के चार्ट में ही उभरते हैं। आपने जब बतलाया कि आप बाल-साहित्य के प्रणेता हैं और उस साहित्य के उद्धार का व्रत लिये हैं तो मैं यह समझ गया कि आपने शार्टकट ढूँढ़ा है। बाल - साहित्य संक्षिप्त, सरल और सुबोध होता है अतः माहिर व्यक्ति फ़क्त दिन भर में ही उतना बाल-साहित्य लिखकर फेंक सकता है जो उसे जीवन भर में ईमानदारी से लिखना चाहिए। दूसरी एक सरलता यह भी है कि जितने दिग्गज हैं, या जो आपसे थोड़ा बेहतर लिख सकते हैं, वे साहित्य के चक्कर में रहने से अलग ही छाँट दिये जा सकते हैं।....आपका मूल्यांकन तो पुरस्कार ही है, बन्धु! २०० से लगभग २००० तक के पुरस्कार, जो समय-कुसमय बाटें जा सकते हैं, वे सब यदि आप ही प्राप्त करते चले जाएँ तो कहीं कोई कष्ट

नहीं रह जाएगा। आपके लिए सुबोध मार्ग यही है कि आप निर्णायकों के नाम पहले से मालूम करलें, उनसे परोक्ष-अपरोक्ष रूप से मिल लें, उन्हें कन्फिडेन्स में ले लें-- फिर पुस्तक लिख डालें। जिस तरह चुनाव जीतने के लिए वोट और अखबार निकालने के लिए विज्ञापन हाथ में होने चाहिए पहले से, ठीक वैसे ही यह मामला भी है। फिर निर्णायकों के पास जाकर साम-दाम-दण्ड-भेद का प्रयोग आप कर ही सकते हैं, जहाँ-जैसी ज़रूरत हो। देखो बन्धु, पुरस्काररूपी मूल्यांकन टेकनिक से ही होता है और वह टेकनिक मैंने बतला ही दी है। मेरा विश्वास है कि यह तन्त्र पसंद आएगा आपको। इसमें तो कुछ समय बाद आप स्वयं ही तान्त्रिक हो जाएँगे।

पुरस्कारों की सूचनाएँ देते रहो।

तुम्हारा—**विष्णु शर्मा**

पुनश्च : कभी-कभी लोग मुझे भी निर्णायक बना देते हैं, सो आशा है कि तुम कष्ट देने आओगे ही !

—वि० श०

●

प्रिय भाई,

आपकी योजना सुनकर मैं दंग रह गया कि जितने क़िस्म की रिसर्चें हो सकती हैं विश्व में, वे सब आप करना चाहते हैं। यह तो आप जानते ही हैं कि रिसर्च में दो काम करने होते हैं : एक तो प्रबंध लिखना, दूसरे डिग्री प्राप्त करना। पहला काम गौण है और दूसरे काम के लिए (दौड़-धूप करने के लिए) स्वयं विश्वविद्यालय दो वर्षों का समय देता है। जिस ढंग से आप मुझसे बातें कर रहे थे उससे स्पष्ट है कि आप दौड़ने - धूपने में कारीगर हैं, ज़रूरत है अगर तो आपके मूल्यांकन की। इसके लिए आपको चमत्कार करना चाहिए : चमत्कार के लिए नाटक करवाने होंगे आपको, कुछ उल्टा-सीधा भी करना ही होगा। मेरी सलाह यह है कि आप जन्मतिथि और जन्मस्थानों को ले लीजिए। उदाहरण के लिए कालिदास का जन्म-स्थान ले लीजिए। फिर ये चार काम कीजिए : (१) उज्जैन के पास नक्शा देखकर कोई गाँव चुनिए और वहाँ के अपढ़ लोगों से भी जाकर यह कहिए कि कालिदास यहाँ पैदा हुआ था। (२) वहाँ कोई मकान किराए से ले लीजिए और उसमें एक गड्ढा खोदकर कालिदास का स्मारक-स्तम्भ स्थापित कर दीजिए। इतना गुप्त रूप में कीजिए और फिर सबके सामने वही गड्ढा खोदकर वह स्तम्भ बाहर निकाल लीजिए। (३) पुराने काग़ज़ों को ख़रीदकर काजल से उस पर मेघदूत लिख डालिए या अपने बच्चे से लिखवा लीजिए, फिर उस लिखे हुए कागज़ को चूहे के पिंजरे में रख दीजिए, जो अंश बचे वह विद्वानों को दिखाइए। (४) एक वंश-वृक्ष बनाइए जिसमें बहुत ऊपर कालिदास को फिट कर दीजिए और सबसे नीचे गाँव के किसी भी गंगाराम, सीताराम, राधेश्याम नामक ब्राह्मण को रख दीजिए और ब्राह्मण से कह दीजिए कि यह उसका वंश-वृक्ष है. . . . बस बात बन गई। मेरे इस उदाहरण के अनुसार तुम अन्य सिद्धियाँ भी प्राप्त कर सकते हो।

चाहो तो कुछ समय बाद अपनी मरज़ी के गाँव को मेरा जन्मस्थान भी सिद्ध कर सकते हो। और क्या लिखूँ ?

आपका

विष्णु शर्मा

●

आदरणीय महोदय,

आपकी वृद्धावस्था देखकर तो मेरी आँखों में आँसू आ गए। कोई तरुण साहित्यकार यदि मूल्यांकनाभाव से रोता है तो मैं उतना पीड़ित नहीं होता जितना किसी वृद्ध को उसी समस्या से पीड़ित देखकर। आपकी उम्र निश्चित ही साठ से ज्यादा है—आपकी टूटी हुई दंतपंक्ति, चेहरे पर पड़ी हुई झुर्रियाँ और कंधे पर रखी रेशमी शाल यह बतलाती है, आप कथा लिखते-लिखते बूढ़े हो गए हैं और निर्लज्ज आलोचकों की दी हुई झुर्रियाँ पहने शोकमग्न हैं। पता नहीं आपकी जयंती भी मनाई गयी कि नहीं। न हो तो इस आयोजना का उपोद्‌घात तो कर ही डालिए! बगैर जयंती मने मर जाने से असंतुष्ट आत्मा भटकती रहेगी.... लेकिन आप अब तक लिखे जा रहे हैं, इससे श्रेष्ठ क्या हो सकता है! कहानी के क्षेत्र में जब आप बूढ़े हो गये और आसपास के लौंडे-लपाड़ों ने कहानी की गन्दी शक्ल बना दी तो आप दार्शनिक बन गए। आपने इतनी उलझी हुई बातें लिखीं कि उनका अर्थ आपको भी समझ नहीं पड़ा। चिंतन में तो समझने और समझाने वाले दोनों ही उलझ जाते हैं लेकिन जब वे ही लौंडे-लपाड़े कहीं से ओटी-बोटी नोंच-खसोट लाए और सियार की तरह चिल्लाने लगे तो आपने भी दर्शन-दरबार में बैठे-बैठे हुआ-हुआ करना शुरू कर दिया। कितनी सहजता है आपमें! कैसी पवित्र जातीयता है आपमें! अब आप भी बन्धु. फिर से कहानियाँ लिखना शुरू कर दीजिए——बेहतर तो ये होगा कि, ये नए-नए छोकरे आसपास खड़े हैं न, इनमें से एक-एक पर——ऐसी कहानियाँ लिखिए कि इनकी कलई खुल जाए। हालाँकि काम बड़ा घटिया है लेकिन कथा-धर्म की हानि हो रही है तो आप दर्शन छोड़कर 'यदा-यदाहि धर्मस्य....' को याद करते हुए फिर से अवतार लीजिए। बस, आप पूजे जाने लगेंगे, नए बन जाएँगे फिर से, मूल्यांकन का यह परम-श्रेष्ठ तरीक़ा है। और कोई मेरे योग्य सेवा?

आपका आज्ञाकारी

——विष्णु

●

पढ़े कथाकार? ये सब भी मेरे ही तन्त्र हैं! इसमें जो वाद-फाद के आधुनिक नाम आए हैं उनका नक्शा मेरे दिमाग़ में पहले ही से था। तू कहे तो तेरी रेखा देखकर बतला दूँ कि 'नई कहानी' के बाद क्या आनेवाला है?.... ? छोड़, फिर कभी बतलाऊँगा। लेकिन इस पत्र में से किसी गुर का तू उपयोग मत करना——ये सब गुर रजिस्टर्ड हैं और इन पत्रों में से एक पंक्ति भी कहीं छपवाना मत, सबका कॉपीराइट मेरे पास है!

यह जरूर बतलाना कि आजकल हिन्दी-साहित्य में क्या चल रहा है? हमारे जमाने जैसा कुछ हो रहा है कि नहीं?

और क्यों रे, तू मुझ पर एक लेख लिखने वाला था न, क्या हुआ उसका? छापने के लिए दो-दो सम्पादक तैयार हो गए हैं....

सस्नेह

पं० विष्णु शर्मा

● ● ●



कश्मीर की
खुलने के क
जो कश्मीर
सांस डुबो
दर्द नहीं उ

यो



मन्मथनाथ गुप्त

कश्मीर की घाटियों में, नग्न प्रकृति की बाँहों में घिरे मन की अबूझ ग्रंथियों के खुलने के कहानी तो आपने पढ़ी होगी—यहाँ पढ़ें एक ऐसी लड़की के कुछ पत्र जो कश्मीर की झीलों का मीठा संगीत सुनती है, वहाँ की गन्धीली हवा में अपनी सांस डुबोती है, फिर भी जिसकी आँखों में सपना नहीं तैरता, जिसके मन में कोई दर्द नहीं उभरता, जो किसी भी स्मृति-धागे में अपने-आपको नहीं उलझाती।

यौवन की देहरी में पहला चरण

पहलगाम
१२ मई, १९६३

प्रिय रजनी दीदी,

तुमने मुझे इसलिए बधाई दी है कि जब सब लोग लू की लपटों में झुलस रहे हैं, तब मैं कश्मीर की घाटियों में चैन की बंशी बजा रही हूँ। चैन की बंशी...ये शब्द तुम्हारे हैं।

सचमुच जब प्रतिवर्ष मैं अपने परिवार के साथ किसी-न-किसी हिल-स्टेशन में इन दिनों होती हूँ, तो मुझे भी ऐसा अनुभव होता था कि मैं बड़ी सौभाग्यशालिनी हूँ, पर इस बार कुछ ऐसा हो गया, जिसे मैं ठीक-ठीक समझ नहीं पा रही हूँ—कि मुझे दिल्ली छोड़कर आना बहुत बुरा लगा। तुमने लिखा है कि एक ही बार तुम्हें कश्मीर आने का मौक़ा मिला और वह तुम्हारे लिए एक स्वप्नलोक बन गया है। ठीक है, कश्मीर बहुत सुन्दर है। बहुत-से लेखकों ने इसके सौन्दर्य-वर्णन में क़लम तोड़ दी है। अभी एक लेखक ने डल-झील के बारे में लिखा है कि वह पहाड़ों की बाँहों में सोती है और आँखें आसमान से लड़ाती है। पहले होता तो मुझे यह वर्णन बहुत भोंडा लगता, पर कुछ ऐसा हो गया है कि अब मुझमें सहिष्णुता बहुत बढ़ गई है और जिस मात्रा में सहिष्णुता बढ़ी है, उसी मात्रा में जिज्ञासा बढ़ी है।

बाँहों में सोती है—मुझे यह कल्पना अब भी अच्छी नहीं लगती क्योंकि बच्चे ही माँ की बाँहों में सोते हैं, सात-आठ साल या अधिक-से-अधिक दस साल पहले तक मैं भी माँ की बाँहों में सोती थी, पर लेखक ने पहाड़ की बाँहों में सोने की जो बात लिखी है, वह कुछ और है, ऐसा मुझे सन्देह होता है। मैंने बताया न कि जिज्ञासा मेरी बढ़ गई है इसीलिए पहाड़ की बाँहों के 'बाँहों' शब्द से मैं 'गलबहियाँ' और उससे भी आगे 'छोड़ो मोरी बहिया' आदि रेडियो और सिनेमा में होने वाले गीत की तरफ़ गई। मैंने इन शब्दों पर, उनके अर्थों पर विचार किया तो पूरी बात समझ में नहीं आई, पर मुझे एक ऐसे संसार का आभास मिल रहा है, जो बिल्कुल मेरे पा है, हमेशा से रहा है, पर जिसकी तरफ़ अ तक मेरा ध्यान नहीं गया था।

पहलगाम और भी सुन्दर है, पाइन के वृ की कतारें मुझे हमेशा बहुत पसन्द थीं, अ भी पसन्द हैं। लिद्दर नदी का पानी अब बार कुछ जेड रंग लिए हुए है जैसा कि शेषना झील का रंग है। अवश्य शाम को य पानी गली हुई बर्फ़ के साथ मिले हुए कीच के कारण गँदला हो जाता है। मैं क तो लाल पुल पार कर बाईं तरफ़ मामलगां की ओर निकल जाती हूँ और कभी दाहिं तरफ़ पुराने शिकारगाह की तरफ़ चली जात हूँ। मुझे अकेले जाना ही पसन्द है। प कभी-कभी मेरे साथ मेरा दस वर्ष का छोट भाई टीपू भी होता है, जिसे प्रकृति से ब इतना ही सम्बन्ध है कि वह उसे छेड़ चलता है। यदि वह नदी के पास पहुँचे तो वह उसमें पत्थर या जो भी हाथ में आ डालेगा; वह पेड़ के नीचे जाएगा त जेब से छुरी निकालकर उसकी छाल काटेगा यदि वह कोई चिड़िया देखेगा तो जे से गुलेल निकालकर उसे मारने की कोशि करेगा। ख़ैरियत है कि वह कभी अप इस दुष्कर्म में सफल नहीं हुआ। एक बा उसने एक हज़ार दास्तान को (जिससे बढ़क गाने वाली चिड़िया शायद ही कोई है हमारी कोयल और उर्दू-कविता की बुलबु तो उसके सामने पानी भरेगी) मारा था

पर वह झाड़ी में घुस गई और टीपू का वह शोध अधूरा ही रह गया कि वह कैसा होता है। मुझे टीपू के ये कार्य बिल्कुल पसन्द नहीं, पर माँ को तसल्ली होती है, इसलिए मैं उसे ले जाती हूँ। प्रकृति यहाँ बहुत सुन्दर है। हवा इतनी अच्छी है कि घण्टों चलने पर भी थकावट नहीं आती, फिर भी मुझे यह सब पसन्द नहीं है। कुछ कृत्रिम-सा लग रहा है, जैसे कहीं कुछ शून्य है। शायद यह कोई रोग हो। मैंने दो-एक बार माँ से कहा भी तो उन्होंने मुझे विटामिन की गोलियाँ दीं और फिर भी जब मैंने शिकायत की और दिल्ली लौटने की इच्छा प्रकट की तो बोलीं, एम० ए० पास कर लो, तुम्हारी शादी कर दूँगी। मैं समझ गई कि माँ मेरी बात नहीं समझ सकतीं। सवाले दीगर, जवाबे दीगर। उन्होंने मुझे जो विटामिन की गोलियाँ दीं, उन्हें मैंने लिद्दर में डाल दी हैं। शायद कोई ट्राउट मछली उन्हें खा जाए।

और क्या लिखूँ, समझ में नहीं आता। तुम विश्वास मानो कि मैं सचमुच लू की लपटों से डर नहीं रही हूँ। आज बार-बार कवीन्द्र रवीन्द्र की वे पंक्तियाँ मुझे अकारण याद आ रही हैं, जिन्हें मैंने कभी अपने स्कूली दिनों में स्कूल के किसी समारोह में गाकर सुनाया था : **'मरण रे तुहुँमम श्याम समान'**। जल्दी पत्रोत्तर देना।

तुम्हारी पुष्पा

●

पहलगाम

१९ मई, १९६३

प्रिय रजनी दीदी,

तुम्हारा पत्र मिला, बड़ी निराशा हुई। तुम्हारी सारी बातें कल्पनात्मक लगीं, फिर भी मैंने बार-बार तुम्हारा पत्र पढ़ा। तुमने मुझे बिल्कुल ग़लत समझा है। तुम कहती हो कि इतनी चीज़ें मैंने पढ़ीं, उनमें से उस लेखक की वे पंक्तियाँ ही याद क्यों रहीं—कि डल-झील पहाड़ों की बाँहों में सोती है। इसका कारण केवल अभिव्यक्ति की सुन्दरता है। डल-झील का यह वर्णन मुझे बहुत सुन्दर लगा, इसलिए याद हो गया। हाँ, यह बात सही है कि वह आसमान से आँखें लड़ाती है, इस पर मैंने ध्यान नहीं दिया। तुम कहती हो कि वह दूसरा सोपान होगा; तब मैं उस पर ध्यान दूँगी, जब उस पर पहुँचूँगी।

तुमने मुझे बहुत ग़लत समझा। मेरी शून्यता की भावना के सम्बन्ध में तुमने यह लिखा है कि अब मेरे जीवन में किसी के पदार्पण की आवश्यकता है, जिससे वह शून्यता भरेगी। तुम्हारी अपव्याख्या तो उस समय बिल्कुल पराकाष्ठा पर पहुँच गई जब तुमने यह लिख डाला कि मृत्यु भी अब मुझे श्याम के रूप में दिखाई देती है! तुम कहती हो, मेरे लिए सारा संसार ही श्याममय होता जा रहा है, इस प्रकार तुमने मुझे उन साधारण लड़कियों में रख दिया है जो सस्ते गीत और साहित्य पढ़कर बारह वर्ष की उम्र से ही अपने को अजीब रूप में कल्पित करने लगती हैं। मेरे माँ-बाप ने मुझे जो शिक्षा दी है, उसमें इस प्रकार की बाज़ारू बातें सम्भव नहीं हैं। मैंने तो यों ही लिख दिया कि मेरा जीवन कुछ शून्य लगता है, असल में ऐसी कोई बात नहीं है। तुम्हें तो मुझे इस बात के लिए बधाई देनी चाहिए थी कि मैं अच्छे खाते-पीते घराने में पैदा होकर भी अब यह ज़रूरी नहीं समझती कि

गर्मियों में समतल से भागकर पहाड़ी स्थानों में आश्रय लिया जाए। उल्टा तुमने इसका अर्थ यह लगाया है कि मुझे किसी युवक से प्रेम हो गया है, उसी के कारण मैं गर्मियों में भी दिल्ली रहना चाहती हूँ। तुमसे मेरा कुछ छिपा नहीं है। फिर क्यों ऐसी बेवकूफ़ी की बात लिख दी? बुरा न मानना, मैं तुमसे नाराज़ नहीं हूँ, केवल दुःखी इस बात पर हूँ कि तुमने मुझे बहुत साधारण लड़की समझ लिया!

पत्रोत्तर शीघ्र देना। हाँ, यदि तुम यह समझो कि तुमसे बिछुड़ने का मुझे बहुत कष्ट है तो यह बात सही है।

तुम्हारी,
पुष्पा

पहलगाम
२९ मई, '६३

प्रिय रजनी दीदी,

तुम्हारा पत्र मिला और बहुत क्रोध आया। तुमने विद्यापति का जो पद लिखा उसे मैंने बार-बार पढ़ा:

सखि, कि पुछसि अनुभव मोय।
से हो पिरीत अनुराग बखानिए
तिल-तिल नूतन होय ॥२॥
जनम अबधि हम रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल।
सेहो मधु बोल स्रवनहि सूनल
स्रुति पथ परस न भेल ॥४॥
कत मधु जामिनि रभस गमाओल
न बूझल कइसन केल।
लाख लाख जुग हिय हिय राखल
तइयो हिय झुड़ल न गेल ॥६॥
कत बिदग्ध जन रस अनुमोदई
अनुभव काहू न पेख।
विद्यापति कह प्राण जुड़ाएत
लाखे न मिलल एक ॥८॥

मैंने विद्यापति की रचनाएँ पहले भी थोड़ी-बहुत पढ़ी हैं, पर मुझे यह तिल-तिल नूतन होना, नयन न तिरपित होना समझ में नहीं आता और न यह समझ में आता है कि लाख-लाख जुग हिय-हिय राखल तइयो हिय झुड़ल न गेल। यह बात सही है कि राजीव इधर दिल्ली में हमारे घर बहुत आता रहा है, पर क्या तुम्हें पता नहीं है कि वह हमारा किसी तरह का भाई लगता है। उसके आने से और मेरी शून्यता से कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं बिलकुल उसे प्यार नहीं करती। मैं किसी से प्यार नहीं करती। वह भी मेरे निकट टीपू की तरह ही है। वे लोग शिमला गए, इसीलिए मैं अबकी बार पिताजी को शिमला

निराशा, अनुताप, और असफलता के क्षणों में प्रसिद्ध उपन्यासकार जोसेफ कोनरैड द्वारा अपने परम मित्र और पुस्तक प्रकाशक गारनेट को लिखा गया पत्र:

३ अगस्त, १८९८

प्रिय गारनेट,

मैं मरा तो नहीं हूँ पर आधा ही ज़िन्दा हूँ। बहुत जल्दी मैं तुम्हें एक संदेश भेजूंगा। मैं लिख रहा हूँ—हताश होकर, पर फिर भी लिख रहा हूँ। मुझे कैसा लग रहा है यह बताना मेरे लिए सम्भव नहीं है। पृष्ठ-पर-पृष्ठ लिखे जा रहे हैं, इकट्ठे हो रहे हैं, पर कहानी—वह अपनी जगह स्थिर है!

मुझे आत्मघात जैसा लगता है!

एक पंक्ति तुम भी भेजो और सूचित

चलने के लिए कह रही थी, यह भी तुम्हारा अनुमान ग़लत है। तुम बिलकुल गधी हो! तुमने ऐसी बात पत्र में कैसे लिख दिया, यह मेरी समझ में नहीं आता। मैंने इस पत्र को भी '(कई बार पढ़ने के बाद) उसी लिट्टर के हवाले कर दिया जहाँ मैं रोज़ नियम से विटामिन की गोलियाँ डालती हूँ। मैं कभी तुम्हें पत्र नहीं लिखूँगी, गोकि अभी कम-से-कम सवा महीने यहाँ रहना पड़ेगा।

तुम्हारी पुष्पा

●

पहलगाम
१४ जून, '६३

दीदी,

मैं केवल भद्रता के नाते तुम्हारे पत्र का उत्तर दे रही हूँ। मुझे तुम्हारी यह शरारत बिलकुल पसन्द नहीं आई कि तुमने पत्र के साथ राजीव का फोटो भेज दिया। मैंने गुस्से में फ़ौरन ही फोटो के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। मैं यह महसूस करती हूँ कि मैंने यह बुरा किया, क्योंकि उस बेचारे का क्या क़सूर है सिवा इसके कि तुम उसे जानती हो, और वह एक बेवकूफ़ नवयुवक है जिसने तुम्हें भाभी-भाभी करके सिर पर चढ़ा रखा है। यदि उसको मालूम होता कि तुम पीठ पीछे उसके निर्दोष आने-जाने की इस प्रकार अपव्याख्या करोगी, तो वह कभी तुमसे नहीं मिलता।

तुम्हारे सुझाव पर मैंने अपने दिल को बहुत गहराई के साथ टटोला। मैं एक पहाड़ पर जाने वाली लाठी हाथ में लेकर पुराने शिकारगाह की तरफ़ निकल गई। टीपू को भी साथ नहीं लिया और जगह-ब-जगह पाइन के वृक्षों के नीचे बैठकर उनके सूखे पत्तों को सूँघती हुई सोचती रही कि क्या सचमुच ऐसी कोई बात है? पर नहीं। राजीव से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। वह तो मुझे उसी प्रकार लगता है जैसे टीपू। मैंने अपने को पूछा कि क्या वह मेरे हृदय की शून्यता की गहराइयों को भर सकता है? तो मैंने पाया कि वह तो किसी लायक़ भी नहीं है। वह ज़रूर (यहाँ मैं सच्ची बात लिखूँगी) उस संसार की कुछ झलक देता है, जहाँ से कोई हवा आए और वह मेरी बाँसुरी को मुखरित कर दे। पर वह स्वयं कुछ भी नहीं। वह तो बच्चा है। हाँ, उसका आना-जाना मुझे अच्छा लगता है, पर इसका कोई अर्थ नहीं है। मैंने भी कुछ उपन्यास और काव्य आदि पढ़े हैं, मैं उसे क़तई एक जीवन-संगी के रूप में नहीं चाहती। सच तो यह है कि जीवन-संगी पाने के सम्बन्ध में मुझमें कोई व्याकुलता नहीं है, बल्कि इससे

करो कि तुम कैसे हो? अगर तुम आ सको तो यह सच्ची मित्रता की बात होगी।

तुम्हारी पत्नी के प्रति मेरी शुभकामनाएँ और जेसी का प्यार। बच्चे को दाँत आ रहे हैं सो जेसी शिथिल रहती है। बच्चे का (और उसकी माँ का भी) यह कष्ट-दायक समय है।

मुझे भय है कि मेरे सोचने के उपकरणों में (दिमाग़ में) कुछ खराबी है। मैं अपने काम से एकदम सम्पर्क-रहित हो गया हूँ और पुनः उस सम्पर्क को जोड़ भी नहीं पा रहा। सब-कुछ अंधकारमय है।

सदैव तुम्हारा
जोसेफ

भी आगे बढ़कर लिखूँ तो मुझे यह लगता है कि जीवन-संगी प्राप्त करने की धारणा ही ग़लत है, जिसका मेरे निकट कम-से-कम कोई अर्थ नहीं है। ऐसा लगता है कि समाज के कल्याण के लिए इस झूठ का जान-बूझकर प्रचार किया गया है कि हर एक को एक जीवन-संगी या जीवन-संगिनी चाहिए। पर प्रकृति भी मुझे पूरी शान्ति नहीं देती।

पारसाल की याद है, या उससे पहले सालों को लो, मैं पहाड़ों में आकर किस प्रकार खो जाती थी– कुछ-कुछ वैसा आनन्द आता है, जैसे मुझे याद याद पड़ता है कि जब मैं बच्ची थी तो पिताजी की गोद में यहीं आनन्द आता था। पहाड़ों को मैं पिता के ही विराट रूप की शक्ल में लेती आ रही हूँ, पर अब पहाड़ों की गोद में भी मुझे आनन्द नहीं मिलता। मुझे याद है कि पारसाल भी हम लोग यहाँ आए थे और अन्त की ओर हृदय में कुछ शून्यता का अनुभव होने लगा था। जब-जब ऐसा अनुभव होता मैं पाइन के नीचे पड़ी हुई सूखी पत्तियों को मींजकर सूँघ लेती थी, उससे मेरा सब दुःख दूर हो जाता था। पर अबकी बार वह टोटका भी बेकार हो गया। पिताजी से मैं बहुत दूर हो गई हूँ। माँ मुझे समझती नहीं हैं और तुम इस प्रकार आस्तीन की साँपिन निकल गईं कि व्यर्थ में मुझ पर लांछन लगा रही हो। शायद इस प्रकार पीड़न करके तुम्हें सुख मिलता हो, जैसे नए-नए कालेज में आए हुए छात्रों का रैगिंग होता है। यह तुमने कैसे लिख दिया कि दिल्ली मेरी कल्पना में जून के महीने में भी इसलिए अच्छी लग रही है कि राजीव से इसका सम्बन्ध है। पर राजीव तो शिमला में है। इस प्रकार यह प्रमाणित हो गया कि तुम कलमुँही हो, बेईमान हो, तुम्हारी दुम कट चुकी है, इसलिए तुम चाहती हो कि सबकी दुम तुम्हारी तरह कट जाए। इसीलिए तुमने विद्यापति का वह पद लिखकर भेजा जो मुझे बिल्कुल अस्वाभाविक लगता है।

विद्यापति मेरे भावों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ हैं। इसके बजाए उर्दू कवि 'मजाज़' के कुछ शेर मेरे देखने में आए हैं जो मेरी भावनाओं को कहीं ज्यादा स्पष्ट करते हैं। मैंने नोटबुक में उन्हें नोट कर रखा है। वे इस प्रकार हैं :

दिल में एक शोला भड़क उट्ठा है,
आख़िर क्या करूँ ?
मेरा पैमाना छलक उट्ठा है,
आख़िर क्या करूँ ?
ज़ख्म सीने का महक उट्ठा है,
आख़िर क्या करूँ ?
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ,
ऐ वहशते दिल क्या करूँ ?

जी में आता है, ये मुर्दा
चाँद-तारे नोच लूँ,
इस किनारे नोच लूँ
और उस किनारे नोच लूँ,
एक-दो का ज़िक्र क्या,
सारे-के-सारे नोच लूँ,
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ,
ऐ वहशते दिल क्या करूँ ?

लेके एक चंगेज के हाथों से
खंजर तोड़ दूँ,
ताज पर उसके दमकता है

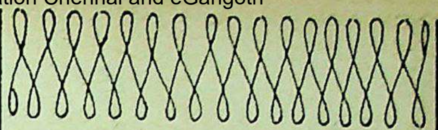
जो पत्थर तोड़ दूँ,
कोई तोड़े या न तोड़े
मैं ही बढ़कर तोड़ दूँ,
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ,
ऐ वहशते दिल क्या करूँ ?

झिलमिलाते कुमकुमों की
राह में जंजीर-सी,
रात के हाथों में दिल की
मोहनी तस्वीर-सी,
मेरे सीने पर मगर
दहकी हुई, शमशीर-सी,
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ,
ऐ वहशते दिल क्या करूँ ?

मुझे अफ़सोस है कि तुम्हारे बहकावे में आकर मैंने राजीव का फ़ोटो फाड़ दिया। तुम निश्चित जानो कि अब मैं राजीव को अपने पास फटकने नहीं दूँगी और अब अन्तिम बात तुम्हें बताती हूँ, जिससे तुम्हारी पुतलियों पर पड़ा हुआ जाला शायद मिट जाए, कि माँ ने मुझे बताया है कि राजीव की सगाई किसी आई० सी० एस० की बेटी से तय हो चुकी है और माँ कह रही थीं कि श्रीनगर के एम्पोरियम से उसके लिए कोई अच्छा-सा उपहार लेना है।

मुझे इस ख़बर से कोई ग़म नहीं है बल्कि खुशी है कि तुम्हारे ऐसों का मुँह तो काला होगा। मैं भी एम्पोरियम से अपनी तरफ़ से कोई एक-बहुत नफ़ीस चीज़ ख़रीदूँगी जिसे मैं राजीव को उपहार के रूप में दे सकूँ। अब तो झगड़ा न करोगी ?

तुम्हारी
पुष्पा



फ़नकार-सम्पादक श्री प्रकाश पण्डित के नाम उर्दू के विशिष्ट कथाकार बलवन्त सिंह का एक विनोद-पूर्ण पत्र :

इम्पीरियल होटल,
चौक, इलाहाबाद
१६-१-५४

प्यारे पण्डित,

मैं तो तुमसे ख़फ़ा नहीं हूँ लेकिन यह जानकर कि तुम मुझसे ख़फ़ा हो, अफ़सोस हुआ।

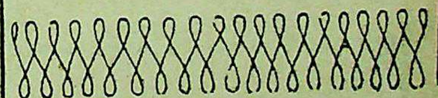
भई, कहानी के सिलसिले में ख़फ़ा होने की आदत छोड़ दो कि यह आदत ठीक नहीं। तुम्हारी शान के ख़िलाफ़ है। तुम इतने प्यारे आदमी हो कि तुम्हें एडीटर बनकर मेरे सामने कभी न आना चाहिए।

तुम देख रहे हो कि मैं कहानियाँ बहुत कम लिखता हूँ। अब ख़लील ख़ाँ बड़ी मुश्किल से एक आध फ़ाख़्ता उड़ा लेते हैं। सच मानो पंडित, मैं बेक़सूर पकड़ा गया हूँ। मैं लेखक नहीं हूँ।

आजकल कौन - सा सिग्रेट पिया करते हो ?

प्यार,

बलवन्त सिंह







विद्यानिवास मिश्र

बहनें प्रायः ही परम्परा-प्रिय होती हैं, जब कि भाई अक्सर ही परम्परा-भंजक। शायद दोनों ही अपनी-अपनी जगह ठीक भी हैं। यहाँ परम्परा-जीजी का दृष्टिकोण दिया जा रहा है; शायद इसे पढ़कर कोई परम्परा-भंजक इण्टेलेक्चुअल भैया इसका जवाब देना चाहे............ज्ञानोदय के आगामी अंक में।

सलोनी पूनो,
अनाम गाँव

इंटेलेक्चुअल भैया,

राखी का दिन बीत गया, तुम्हें राखी बँधवाने की फ़ुरसत न मिली। अच्छा ही किया, राह पर आजकल बड़ी रपटन है। जबसे नये-नये गाँव-रक्षक बाँध बने हैं, शहर से गाँव-गाँव को जोड़नेवाली पुलियाविहीन ऊँची-ऊँची सड़कें बनी हैं, तबसे बाढ़ हर साल और बड़े नाटकीय ढंग से इस पुराने डीह से टकराने लगी है। गाँव के पच्छिम की टौरिया, जहाँ से चाँद ज़रा पास दिखता था, नदी की 'आँकी-बाँकी रेखा' हर साँझ सिन्दूर से भर उठती थी, अब पच्छिम से कटने लगी है। पूरब से चढ़ने का रास्ता तो पहले से ही विषम था, पच्छिम वाली राह ही कम ढालू थी, सो उस टौरिये पर अब कभी-कभी ही गीत गूँजते हैं, कभी-कभी ही दिया जलता है, कभी-कभी ही कड़ाही चढ़ती है और धुआँ टौरियाँ की ऊँचाई

पत्र इण्टेलेक्चुअल भैया के नाम परम्परा जीजी का

बढ़ा देता है। मैं साँझ की गयी-गयी, अभी-अभी वहीं से लौटी हूँ, चाँद जब सिर के ऊपर बोझ बन गया, तब उतर आयी। बादल नहीं थे, शायद इसीलिए चाँद कुछ अजनबी-सा लगता था। तुम मेरे चन्दामल भैया, तुम भी क्या इस चन्दा की तरह अजनबी होना चाहते हो ?

तुम नहीं आये, इसका दुख नहीं है, यह तो कुछ सालों से देख रही हूँ कि राखी तुम ऐसे बँधवाते हो जैसे कि वह गया के पण्डों का बन्धन-सूत्र हो दण्ड वसूलने के लिए। पर पारसाल भैयादूज पर तुम अप्रत्याशित रूप से सोच्छ्वास तिलक कराने पहुँच गये, उस दिन तुम्हारा भावोच्छल कण्ठ इस दुलारी बहन से असीस पर असीस माँग रहा था, उससे एक दुराशा जगी कि तुम्हारा भायप लौट आया। दुख इसी का है कि वह क्यों लौट आया। तुम बहिन के स्नेहाशीष का कवच चाहते थे क्योंकि तुम्हारे शस्त्र कुंठित हो गये थे, अस्त्र तुम्हारे हाथ से गिरने लगा था। तुम आत्मविश्वास की पगडंडी पर चढ़ते-चढ़ते उस कगार पर पहुँच गये थे, जहाँ पाँव रखने की जगह तक नहीं रह गयी थी। तब तुम लौटे थे, हारे-थके, 'भय को दिग्विजय' का रूप देने का संकल्प लिये। मैं तुम्हारी कान्ता होती तो तुम्हें लौटा देती, पर मैं ठहरी बहन, मैं भींग गयी तुम्हारे आर्द्र स्वर से, मैंने तुम्हें तिलक किया। तुम चले गये। तब से इस पूनो की बाट जोह रही थी, तुम राखी बँधवाने उसी भीने भाव से आओगे। पर तुम नहीं आये। तुम्हारी उपेक्षा सह्य थी, तुम्हें साथ क़दम रखने वाली सहचरी प्रगति से लगांव है, मेरी आँखें जुड़ा जाती हैं, तुम पीछे लौटकर बहिन के द्वार के बन्दन-वार नहीं देख सकते हो, यह भी सह्य स्वीकार है, पर तुमने यह क्या किया? अरसे के बाद बहिन को उसके औपचारि अनुष्ठान के लिए क्यों विवश किया, क्यों अनुष्ठान का नया अंकुर अपनी क्षण-छलकि भावुकता से सींच-सींचकर रोप गये ?

मैंने सुना है, तुम मानसिक क्लेश में हो आधुनिकता को स्वीकारने की तुम्हें लल है, पर तुम्हारे मन में चोर है कि कहीं वह तुम्हें न नकार दे, क्योंकि तुम्हारी जीर्ण परम्परा है। तुम शपथ खाने के लि तैयार हो कि मुझे परम्परा से कुछ लेना-दे नहीं, मैं जड़हीन हूँ, पर डर तुम्हें घेरे हु है कि आधुनिकता कहीं ठुकरा न दे। भैया सच कहती हूँ कि मेरी मंगलकामना तुम्हा स्नेह की प्रत्याशा से नहीं है, तुम मुझसे उ में लहुरे हो, तुम मेरी उम्र लेकर जि मेरा पुण्य लेकर आगे बढ़ो, मेरा स्नेह तुम्हा पथ का कंटक नहीं बनना चाहता, वह तुम्हा पगधूलि सींचना चाहता है ताकि तुम्हा पीठ पर धूल न लगे। तुम्हारा अकारण है। आधुनिकता तुम्हारे अ नहीं है, वह तुम्हारी बग़ल में है पर तुम अ देख रहे हो, दायें-बायें तुम देखना नहीं चाह दायें-बायें से तुम बचना चाहते हो और देखने से शरमाते हो। आधुनिकता, भैया, दायें-बायें का अपरिहार्य द्वैध है वह द्विभक्त प्रतिमा है, वह श्रीहर्ष के शब्दों में 'द्विकालबद्ध चिकुर-पाश' है

आधुनिकता की जिस पद्मिनी के तुम उन्मत्त हो उसकी तसवीर भर देखी है, वह भी सपनों में--या उसका भर सुना है हीरामन सुए के मुँह से।

वह पद्मिनी मेरी हमजोली है, मैं उसे जानती हूँ। उसे मज़ा आता है तुम्हें भटकाने में, खिझाने में और सिझाने में। ज़रा अल्हड़ है, पर वैसे पेंच नहीं रखती। तुम जिस चमक-दमक के पीछे भटक जाते हो, वह आधुनिकता की विज्जुछटा नहीं है, वह है उसकी आतशी शीशे से फेंकी गयी दहकती छाया। तुम जिस सौरभ पर प्राण देते हो, वह उसके जूड़े के फूलों का नहीं है, वह तो उसकी अधवढ़ी सैरिन्ध्री की फूलों-बासी हथेली का है। तुम जिसे नूपुरों की कल-कल मानकर उस ध्वनि की लहरों में खो जाते हो, वह तो उसकी पाली सुनहली मछलियों का कलह-कोलाहल है। भैया, काश, तुम मेरा विश्वास करते, मुझसे संकोचवश सलाह न करते, न सही, तटस्थ-भाव से ही कभी चर्चा करते तो तुम्हें उस शरारती लड़की का हुलिया बतला देती। यह भी तुम्हें बतला दूँ कि वह तुम्हारी हो चुकी है, पर हाँ, तुम उसके नहीं हुए हो। तुम होगे भी कैसे, तुम जब अपने ही नहीं रहे।

जानती हूँ, तुम्हें यह सीधी-सादी भाषा नहीं पसन्द है, क़िस्सागोई से तुम्हें चिढ़ होने लगी है (पहले तो इन क़िस्सों के बिना तुम्हें नींद नहीं आती थी), और तुम शब्दों की छटपटाहट देखकर खुश होते हो; पर मैं तुम्हारी मुँहबोली जीजी हूँ, माफ़ कर देना। न यह समझना कि तुम्हारे ऊपर कोई कृपा कर रही हूँ, न यह कि तुम्हारी मखौल उड़ा रही हूँ। मेरे तुम वीरन हो, तुम्हारे ऊपर मुझे अभिमान है, तुम्हारे जय की आकांक्षा मैं अपने स्वार्थवश करती हूँ, तुम्हारी संतानवृद्धि होगी तो मुझे नेग-न्यौछावर मिलेगा, मैं भर आँगन नाचूँगी। मैं इतनी ओछी नहीं हूँ कि तुम जिस अधनीली रोशनी में नहाये बैठे हो, उससे रश्क करूँ। मैं इतनी ढीठ भी नहीं रही कि तुम्हारे रोगन कमरे से बरामदे में आये हुए संधिल प्रकाश में हिस्सा माँगूँ। मैं इतनी दंभी नहीं हूँ कि तुम्हें अपने आशीष की सींक पर दूर सेतु पर रातों-रात पहुँचा दूँ। मैं अपनी सीमा जानती हूँ, वह सीमा है तुम्हारे स्नेह का उन्मेष। उस स्नेह की परिधि के बाहर मेरी लौ नहीं पहुँचती। इसलिए भैया, नाराज़ न होना, यह तुम्हारी दुखती रग मैं नहीं छू रही हूँ, यह अपनी ही रग छू रही हूँ, ठीक कहूँ तो सूई धँसा-धँसाकर संचेत्यता की परीक्षा ले रही हूँ। यह भटकाव तुम्हारा नहीं है, मेरा है, इंटेलेक्चुअल तुम्हें मैंने कहा, अपने को कुरेदने के लिए। सारी ज़िन्दगी मैंने शुभ्रता की आराधना की, शुभ्रता का परिधान पहना, शुभ्रता के लिए अनुष्ठान किये, मेरा भैया, शुभ्र वर्चस् से दीप्त बने, प्रखर विवेक से निखरे और मेरे पालतू हंस की शुभ्रता को लजाये। तुम वैसे नहीं बन पाये, इंटेलेक्चुअल हो गये, यह मेरा दोष है। मेरी बात का अब तो बुरा न मानोगे?

भैया, तुमने कैसे समझा कि आधुनिकता केवल बिजली के लट्टुओं से सजी बन्दनवार के नीचे ही प्रवेश कर सकती है? तुमने कैसे यह मान लिया कि वह केवल मिल के भोंपू की पुकार पर ही आँखें खोल सकती है? तुमने क्यों यह भ्रम पाल रखा है कि वह हाथ में सैंडिल उठाकर इस कीच-काँदों में बचा-बचाकर चल ही नहीं सकती? क्या अब तक तुम यांत्रिकता और आधुनिकता को एक ही जान रहे हो?

तुमने अपनी सहजता इसीलिए न खो दी कि आधुनिकता की भूमिका अदा करने वाली यान्त्रिकता को ही अपना दिल दे डाला। तुम इसीलिए न हीनता के शिकार हुए कि प्रकाश की जादूगरी से आलोकित चेहरे को असली चेहरा मान बैठे। तुम क्षमाप्रार्थी बने, क्योंकि तुम्हें लगा, यही शिष्टता की कुहनियों के आघात का प्रतिकार करने का परम साधन है। मैंने सुना है कि तुम, राह चलते दो दूसरे आदमी परस्पर टकराते हैं, तब भी आदतन कह पड़ते हो, 'क्षमा करें'! (एक्सक्यूज़ मी!) तुम प्रकाश के इजारदारों से क्यों इतने त्रस्त हो? प्रकाश उत्पन्न नहीं होता भैया, अभिव्यक्त होता है और दूसरों को जितना प्रकाशित करता है, उतना ही अपने को। विकीर्ण प्रकाश के तुम अभ्यस्त हो, इसीलिए तुम दिन को प्रकाश का विद्रूप मानते हो। मुझसे चूड़ी वाली उस दिन हँस-हँसकर कह रही थी कि बबुआजी फूटी चूड़ियों, सिरकटी मूर्त्तियों और लँगड़ी कुर्सियों से घर सजाने में लगे हैं। मैंने उसे डाँटा तो बोली कि बबुआजी होनी-अनहोनी की जाने कैसी-कैसी बातें कर रहे थे। मैं समझ गयी, तुम अस्तित्व का देवता जगा रहे हो और मैं भाव के पीछे घुली जा रही हूँ। पर भैया, यह विघटन की विवशता क्यों?

मुझे ही तुम देखो, लचती जा रही हूँ पर टूट नहीं रही हूँ। उस पुराणी युवती उषा को देखो, कहाँ टूट रही है, उस सुस्त-अधसोयी नदी को देखो, कहाँ टूट रही है, बँधकर भी, देखो, फूटे बिना रह नहीं पाती। पर तुम टूटना ही टूटना देख रहे हो, शिल्पी अपनी मूर्त्ति तोड़ रहा है, कवि अपने छन्द तोड़ रहा है, दार्शनिक अपनी स्थापनाएँ तोड़ रहा है, वैज्ञानिक पदार्थ और उसके परमाणु तोड़ रहा है और तुम भैया, इन सबके साथ अपने को तोड़ रहे हो। यह टूटन मुझसे नहीं देखी जाती। मैंने जादू की रेशम की लच्छी का गोला तुम्हारी जेब में चुपके-से डाल दिया था, वह इस उद्देश्य से कि तुम समस्त वसुधा को उस रेशम से ओत-प्रोत कर सको। तुमसे अच्छा तो मेरा अनाड़ी भैया बखना दर्जी था जो अपने प्रभु को ललकारता था: साईं तू तोड़ता जा, मैं जोड़ता जाऊँगा, देखना है कितना तुम तोड़ते हो, कितना मैं जोड़ता हूँ! और एक तुम हो कि अपने को नहीं जोड़ पाते!

भैया, तोड़ने का खिलवाड़ क्यों करते हो? क्या जोड़ने के लिए संसार में कुछ रह नहीं गया? मैं नहीं कहती कि राह की ठीकरी न हटाओ, पर हर एक ठीकरी को फोड़ने बैठोगे तो राह कैसे चलेगी? मैं यह भी नहीं माँगती कि तुम मेरी सुधि लेने के लिए पीछे लौटो, पर इतनी भिक्षा ज़रूर माँगती हूँ कि मुझसे अपने को बराबर विच्छिन्न करने की जो दमभर कोशिश कर रहे हो, उसमें मैं उलझे काँटे की तरह तुम्हें सालती हूँगी, सो तुम एक बार में मुझे खण्डित करो और मुझे भूल जाओ पर क्षण-क्षण मेरे कारण चुभन के शिकार न बनो, क्षण-क्षण मेरे कारण तुम न टूटो।

घर में इस साल बड़ी सीलन हो गयी है, दीमक (डीग्रीधारी दीमक) पोथी की पोथी चाट गये, प्रत्यक्षर-परायण कर लिया, बस इनी-गिनी किताबें बच रही हैं, तुम्हारी अँग्रेज़ी वाली प्राइमर साबूत बची है; तुम्हें तो याद नहीं होगा, पर पैसे चुराकर मैंने तुम्हारे

लिए यह प्राइमर खरीदी थी, तुम [illegible] तक जाते-जाते कहने लगे थे कि 'जीजी, तुम जानती हो आर-ए-टी रैट, रैट माने क्या होता है; हा हा हा.... तुम नहीं बतला सकीं।' रामचरितमानस के बड़े छापे वाली प्रति का तो सिर्फ़ बालकाण्ड बच रहा है। हाँ, क़िस्सा तोता-मैना जाने कैसे बच गया ?.... पर जाने दो, तुम्हारे लिए आकर्षण की चीज़ बस एक रह गयी है, द्राक्षासव की ओट में भभकायी हुई अंगूरी (तान्त्रिक परदादा की कोठरी ढही तो दीवाल में छिपाकर रखी ६ बोतलें साबूत मिलीं)! शायद यह अंगूरी ही तुम्हारे लिए कारणवारि बन जाय। मैं मिलूँ, न मिलूँ तुम जिस भण्डारघर में जाकर [illegible] खेलते समय लुकते थे, वहीं दक्खिन-पच्छिम कोने में उसे गाड़कर रखा है, कौन जाने तुम अपनी दीदी का ग़म उसी में ग़लत कर पाओ।....हाँ, मेरे ज्ञान-ग्रन्थिल भाई, कहीं ऑडिपस ग्रन्थि के तो शिकार नहीं हो गये। तुम्हें बतला दूँ, मैं अकेली असहाय नहीं हूँ, 'सबदों' के 'सुन्न महल' में सूली के ऊपर मेरे वे रहते हैं। उनमें लीन हो-होकर ही नया जन्म धारण करती रहती हूँ। सो भैया, आश्वस्त होओ, स्वस्थ होओ, अविभक्त होओ, इति।

तुम्हारी निराकांक्ष 'जीजी'

परम्परा

● ● ●

मिस क्रिस्टीना कीलर के प्रति एक टोडी का पत्र जो हमें डॉ० प्रभाकर माचवे के मार्फ़त प्राप्त हुआ है!

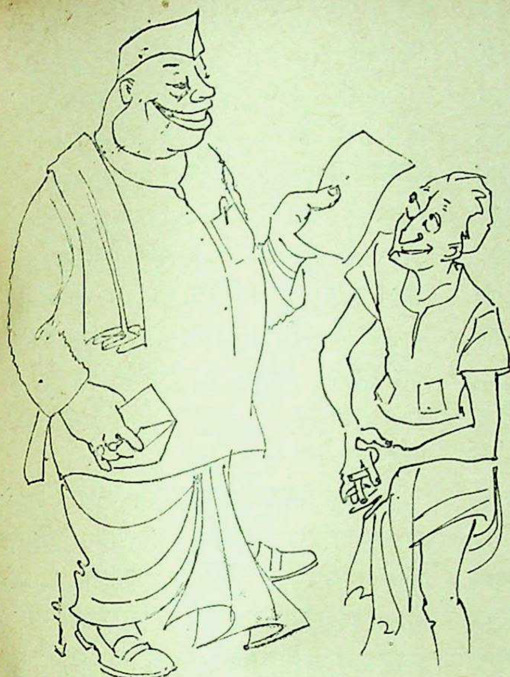
मिस कीलर के प्रति

तुम हो 'किलर' कि तुमने कँपा दिये हैं कुछ दिल के फ़ीलर
स्विमिंग-पूल हैं कहीं, कहीं हैं कूलर के भी सौ डीलर
राजनीति हो, कूटनीति हो, आखिर 'स्त्रियश्चरित्रम्' जो
नहीं देवता भी जानें कब बनते शत्रुम् मित्रम् जो

हमने यही सुना है जम्बूद्वीप महानगरों में भी
प्यार बाँटती हैं उर्वशियाँ होटल और घरों में भी।
'काल-गर्ल' का इस आध्यात्मिक संस्कृति से कैसा नाता?
अब्रह्मण्यम्! शान्तम् पापम्! सुनें न देश-विदेश - विधाता

विश्वामित्र डिग गये, ओह मेनका ने यों नर्तन कीन्हा!
बना मेमना शेर ब्रितानी तेरे आगे ओ क्रिस्टीना!

—एक टोडी



श्रीकान्त वर्मा

●

क्या ऐसा नहीं लगता कि मतदाता क्रमांक १०६९७ के द्वारा लिखा गया यह व्यक्तिगत पत्र आज के करोड़ों भारतीय मतदाताओं की भावनाओं को व्यक्त कर रहा है !

●

सेवा में,
माननीय श्री सौभाग्यमल जी,
मंत्री, वन, सहकारिता, ईंधन, शिक्षा, तथा लोककर्म विभाग,
(पंडरिया बाजार-क्षेत्र से भारी बहुमत से निर्वाचित)

मान्यवर,
समझ में नहीं आता पत्र कहाँ से शुरू करूँ ! रहा नहीं गया तो लिख रहा हूँ ।

पहले तो आपको बधाई । उपचुनाव में आप भारी बहुमत से विजयी हुए और आपके चुने जाते ही, जैसा कि मैंने ज़िले के सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय साप्ताहिक 'देशदूत' में पढ़ा, क्षेत्र की जनता में खुशी की लहर दौड़ गयी । दौड़नी ही थी । उसी पत्र में आपकी जीत पर सम्पादकीय भी पढ़ा और फूल-मालाओं से लदी

अपने भाग्यविधाता के नाम मतदाता का एक व्यक्तिगत पत्र

आपकी तस्वीर भी देखी। ख़ुशी हुई। आपको याद होगा पत्र ने चित्र का शीर्षक दिया था, 'जुग-जुग जियें सौभाग्यमल'। हालाँकि कोई जुग-जुग नहीं जीता; मगर तब भी मैं यही कामना करता हूँ, आप जुग-जुग जियें। बुरा न मानें, लोकतंत्र में युग पाँच साल का होता है। इसलिए जब 'देशदूत' ने आपके 'जुग-जुग जीने' की बात लिखी तो उसका अभिप्राय केवल यह था कि आप बार-बार निर्वाचित होकर विधायकों के बीच क्षेत्र की जनता के हितों का प्रतिनिधित्व करते रहें। क्षेत्र की जनता भी यही चाहती है। आशा है, आप इसे अन्यथा नहीं लेंगे।

विधान-सभा में आपके पहुँचते ही उथल-पुथल शुरू हो गयी और मंत्रिमंडल में कई हेर-फेर हुए। मंत्रिमंडल में आपका लिया जाना सचमुच ही बड़ा समीचीन रहा। क्षेत्र ही नहीं अपितु ज़िले की जनता में, जैसा कि मैंने एक बार फिर राष्ट्रीय साप्ताहिक 'देशदूत' में पढ़ा, ख़ुशी की लहर दौड़ गयी। इस बार 'देशदूत' ने आपके चित्र का शीर्षक दिया था : 'भावभीनी विदाई'।

इस विदाई के बाद आप पहली बार हमारे क्षेत्र में आये और अनेक विभागों के मन्त्री बनकर आये। आपके विरोधियों को आश्चर्य है कि इतने सारे विभाग आपको कैसे सौंप दिये गये! मगर मुझे किंचित् विस्मय नहीं! मैं जानता हूँ, आप सभी विषयों पर अधिकार के साथ बोल सकते हैं, चाहे वह जंगल हो या शिक्षा, ईंधन हो या संस्कृति, सहकारिता हो या भ्रष्टाचार!

इस बार जब आप आये तो अपने वाक्-कौशल का उम्दा परिचय आपने दिया और 'देशदूत' के शब्दों में विरोधियों के दाँत खट्टे कर दिये।

आपका पूरा सप्ताह बहुत व्यस्त रहा। पहले दिन आपने ज़िले में वन-महोत्सव का श्रीगणेश किया। आप जब कम्पनी-बाग़ में तमाम अधिकारियों और पत्रकारों से घिरे हुए चाँदी की ख़ुरपी से एक नन्हा-सा पौधा रोप रहे थे, तब मैं एक कोने में उत्सुक और मुग्ध खड़ा हुआ इस सारे कार्य-कलाप को देख रहा था। आपने वृक्षारोपण कर उसे इस तरह देखा कि मेरे मुँह से पंक्ति निकल गयी: 'अब तो बेल फैल गयी'।

उक्त अवसर पर आपने अत्यन्त प्रेरणोत्पादक भाषण दिया। आपका भाषण ऐसा जोशीला था कि मैं तो ठगा रह गया। अन्त में आपने कहा: 'देश की आज़ादी की रक्षा के लिए हमें अधिकाधिक वृक्षों की ज़रूरत है।' इस पर अनेक टीकाएँ हुईं और आपने ख़ुद ज़िले के समाचारपत्रों में पढ़ा होगा, इसके नाना अर्थ लगाये गये। कुछेक ने तो इसका मखौल भी उड़ाया। मूर्ख हैं। और मूर्खों की बात का बुरा नहीं मानना चाहिए। वे सब इसका गूढ़ अर्थ नहीं समझ सके। मगर मैं समझ गया। चीनी-हमले से हमें कई सबक़ मिले हैं। उनमें सबसे बड़ा सबक़ यह है कि दुश्मन को अपनी सीमा पर ही रोकना चाहिए, अन्दर नहीं घुसने देना चाहिए। एक बार मैदान पर पहुँचने के बाद हमलावर को रोकना मुश्किल होता है। इसलिए ज़रूरी है कि हिमालय की तराई में वृक्ष-ही-वृक्ष लगाये जाएँ जिससे इतना घना जंगल तैयार हो जाए कि दुश्मन अन्दर ही न घुस पाए और अगर एक बार उसमें घुस जाए तो फिर वहीं भटककर रह जाए।

लेकिन यह आपके उद्गारों का निकटस्थ अर्थ है। मैं जानता हूँ, आप दूर की सोचते हैं और देश की आज़ादी की रक्षा के लिए वृक्षों की आवश्यकता पर आपने जब इतना ज़ोर दिया तो ज़रूर बहुत दूर की सोची है। आपने इस आशंका पर विचार किया है कि अगर जंगल भी हमलावरों को रोकने में असमर्थ हों और दुश्मन नगरों तक चले आएँ तब क्या हो ? प्रश्न सचमुच ही बड़ा जटिल है ? लेकिन प्रश्न जितना जटिल है,आपकी दूरदर्शिता के कारण उतना ही आसान हो गया है। आपका संकेत शायद इस ओर था कि जब दुश्मन हमारे घरों के पास आ जाएँ तो हमें अपने कपाट बन्द कर लेना चाहिए। कपाट अगर मज़बूत हों तो दुश्मन घर में नहीं घुस सकता। मगर कपाट हैं कहाँ ? कपाट के लिए लकड़ी चाहिए और सारी लकड़ी फर्नीचर वालों ने ख़रीद ली है। अगर हमें बढ़िया फर्नीचर भी चाहिये और अपनी आज़ादी भी तो हमें अधिकाधिक वृक्षारोपण करना चाहिए। हम अपने कपाट बंद कर अपने सोफ़ों पर पड़े रह सकते हैं। दुश्मन पहाड़ पर हो या शहर में, कोई फ़र्क नहीं पड़ता।

मुझे बहुत क्रोध होता है जब कोई राष्ट्रीय-स्वयंसेवक-संघ के लोगों को लाठी भाँजते देखकर कहता है, ये परमाणु-युग में भी लाठी के बल पर संसार जीतना चाहते हैं। सोचने की बात है, हर आदमी अपनी जेब में परमाणु बम रखकर नहीं चल सकता मगर हर आदमी डंडा तो रख सकता है। इसमें हमें यह सीख मिलती है कि बुद्धि न हो तो डंडे के बल शासन करना चाहिए। आप कह सकते हैं कि मैं और राष्ट्रीय-स्वयंसेवक-संघ के लोग बड़े ही सामन्ती हैं और किसी उस युग की बात कह रहे हैं जिसका लौटना अब सम्भव नहीं। मगर यही बात श्री डॉन क्विकज़ोट के लिए भी कही गयी थी जब वह सामने खड़े दैत्य पर वृक्ष की एक टहनी लेकर दौड़ पड़े थे। कहनेवालों ने कह दिया कि वह दैत्य नहीं पवन-चक्की थी। मगर इससे क्या फ़र्क पड़ता है। सत्य, सत्य ही रहेगा। असल में वन-महोत्सव का बीजारोपण उसी दिन हुआ था जिस दिन श्री डान-क्विकज़ोट को अपने महासमर के लिए वृक्ष की टहनी की ज़रूरत पड़ी थी।

मतलब यह कि आपने थोड़े में बहुत कह दिया। मैं आपसे अक्षरशः सहमत हूँ और इस दूरदर्शिता पर आपको अपनी और क्षेत्र की जनता की ओर से हार्दिक बधाई भेजता हूँ।

दूसरे दिन टाउन-हाल में आपने जब सहकारिता-सप्ताह का उद्घाटन किया तब भी मैं वहाँ उपस्थित था। आप सोच सकते हैं कि मैं सी. आई. डी. के एक आदमी की तरह आपका पीछा कर रहा था। मगर बात यह नहीं। मुझे बचपन से बड़ी-बड़ी सभाओं में जाकर भाषण सुनने की आदत है। जब मैं छोटा था और गाँधीजी नगर में आए थे, तब मुझे याद है, मैं बड़े-बड़ों की टाँग के नीचे से होता हुआ ठीक सामने पहुँच गया था और बेसमझे बात-बात पर तालियाँ बजाता रहा था। मैं अब भी तालियाँ बजाता हूँ। यह बात अलग है कि अब मैं आगे नहीं बैठता या यूँ कहूँ कि आगे बैठने नहीं दिया जाता।

मैंने उस वक्त भी तालियाँ बजायी थीं जब आपने सहकारिता पर देदीप्यमान भाषण दिया। आपके भाषण से अधिक लोग

मेरी तालियों पर चकित रह गये । आशा है, आप बुरा नहीं मानेंगे ।

आप ख़ूब बोले । मेरे कानों में अब भी आपके शब्द गूँज रहे हैं : "सहकारिता समाज का मूल मन्त्र है । मनुष्य आदिम युग से सहकारी रहा है । मनुष्य ही क्यों, पशुओं में भी सहकारिता की भावना पायी जाती है । सहकारिता की व्युत्पत्ति दो शब्दों से हुई है, सह और कारिता । यानी सहते जाना और करते जाना ।"

मैं आपसे पूरी तरह सहमत हूँ । भारत जबसे स्वाधीन हुआ है तब से सहकारिता की यह भावना और भी विकसित हुई है । लोग सहते जाते हैं और करते जाते हैं ।

हॉल तब करतल-ध्वनि से गड़गड़ा उठा जब आपने कहा, सहकारिता का अर्थ है मिल-जुलकर खाओ । सचमुच खेद का विषय है कि इस स्तर पर सहकारिता का विकास अभी जन-साधारण में नहीं हुआ है । केवल शासकवर्ग ही इस सत्य से वाकिफ़ है । मन्त्री और नेता जिस तरह मिल-जुलकर खा रहे हैं उसे देखकर हृदय गद्गद् हो जाता है । सहकारिता का ऐसा उदाहरण किसी भी देश के इतिहास में नहीं मिलेगा । मगर भारत जिस तरह और बातों में जगद्गुरु है, उसी तरह इस मामले में भी । आपने सचमुच बहुत बड़े सत्य को सामने रख दिया ।

लेकिन सत्य को समझना भी एक कला है और कुछ ही लोग इसमें पारंगत होते हैं । अपने बारे में मैं दावा तो नहीं कर सकता, मगर यह ज़रूर कहूँगा कि मैंने आपके भाषणों को ध्यान से सुना है और उसके गूढ़ अर्थों को भरसक समझने की कोशिश की है । आपने उस दिन जब कहा कि ईंधन तो हमारा दिल है, हम देश की स्वाधीनता के लिए, राष्ट्र के लिए, समाज के लिए संस्कृति के लिए और अपने बच्चों के भविष्य के लिए हविष्य बनते है—तो मैंने अहिस्ता से समझ लिया, आप क्या कहना चाहते हैं ।

बात यह है कि आप असल में एक कवि हैं । यह बात वैसे जवाहरलाल के बारे में कही जाती है कि स्वभाव से वह कवि हैं, मगर आप भी सहमत होंगे कि हमारे देश का हर नेता कवि है । केवल एक कवि को ही वाणी का ऐसा वरदान मिलता है । दूसरे जनता को देखकर केवल एक कवि ही इस तरह भावुक हो सकता है । अगर उसे कोयले की बात करनी है तो वह मिस्र की सुन्दरियों की बात करता है और अगर उसे सुन्दरता के विषय में कुछ कहना है तो वह ग़रीबी के बारे में कहता है । आप सब कवि है, (कविता की परिभाषा कितनी व्यापक हो गयी है !) कवि असल में वही है जो मूल विषय पर कभी नहीं आता ।

आपको याद होगा, कुछ साल पहले हमारे प्रदेश के एक नेता ने देश के एक बहुत बड़े नेता के निधन के बाद एक शोक-सभा में उन्हें श्रद्धांजलि देते हुए कहा था : "उनके शब्द दिल में आग लगा देते थे, दिमाग में आग लगा देते थे, खेत में आग लगा देते थे !"

मैंने जब आपका भाषण सुना तो मुझे वह तकरीर याद आयी । सचमुच इस ईंधन की समस्या को सुलझाना होगा । शासन को आप जैसे अनुभवी महानुभावों का निर्देशन प्राप्त है और मुझे पूरा विश्वास है, वह इस समस्या को सुलझाकर ही दम लेगा ।

शिक्षा के मामले में मैं आपसे सहमत

नहीं हूँ, (आशा है, अन्यथा नहीं लेंगे) । उस दिन आपने अध्यापकों द्वारा आयोजित एक परिसंवाद में कहा, जब तक देश का एक-एक बच्चा शिक्षित नहीं हो जाता तब तक देश का भविष्य अन्धकारमय रहेगा। मैं इसका विरोध करता हूँ, (आशा है, आप इसे अन्यथा नहीं लेंगे) । पहली बात तो यह कि अगर बच्चे शिक्षित हो भी जाएँ तो क्या करेंगे ? क्या आप यह कहना चाहते हैं कि एम्प्लायमेंट-एक्सचेंज की सूचियाँ और लम्बी हो जाने से घर-घर में रोशनी हो जाएगी ?

दूसरे, मैं यह कैसे मान लूँ कि देश का भविष्य जिनके हाथों में होता है उनके लिए शिक्षित होना ज़रूरी है। आप बताइए, अगर आपने शिक्षा पर अपना वक़्त और पैसा बरबाद किया होता तो क्या आप इस पद पर होते ? अगर आपने मैट्रिकुलेशन किया होता तो किसी दफ़्तर में क्लर्क होते, बी० ए० किया होता तो नायब तहसीलदार होते, एम० एम० किया होता तो किसी कालेज में प्राध्यापक होते। आपने कुछ भी नहीं किया तो आप मन्त्री हैं।

शिक्षा और राजनीति दो विरोधी चीज़ें हैं। राजनीति का अर्थ, आपके ही शब्दों में, जनता की नौकरी है। यह सबसे उम्दा नौकरी है। जिन्हें चुनाव में टिकट नहीं मिलता, उनकी मनःस्थिति कैसी होती है, मुझसे अधिक अच्छी तरह आप जानते हैं। देश का भविष्य शिक्षितों के हाथ नहीं, अशिक्षितों के हाथ में है। शिक्षा आदि फ़िज़ूल बातों पर बेकार का ज़ोर नहीं देना चाहिए।

आगे आप ख़ुद समझदार हैं, अनुभवी हैं।

क्षेत्र की जनता को आप पर पूरा विश्वास है।

आपका कृपाकांक्षी
श्रीकान्त
वल्द राजकिशोर वर्मा,
मतदाता क्रमांक १०६६७

कार्ल स्वेन्ड्सडेन नामक एक स्वीडिस नाविक ने बाल्टिमोर स्थित अपनी प्रेमिका को घनी लिखावट में १० फुट लम्बे पत्र द्वारा ब्याह का प्रस्ताव भेजा। प्रेमिका भी कम न थी। उसने अपनी स्वीकृति का पत्र अपने प्रेमी के पत्र के अनुकूल ही २० फुट लम्बे क़ागज़ के सफ़ों पर लिखा। प्रेमिका का उत्तर पाकर कार्ल ख़ुशी से फूला न समाया। अब जो पत्र उसने लिखा, वह ६१ फुट लम्बा था—और, इन लम्बे पत्रों का आदान-प्रदान तब तक चला, जब तक दोनों विवाह-सूत्र में न बँध गये। ब्याह के पहले कार्ल ने प्रेमिका को जो आखिरी पत्र लिखा, वह ७५ फुट लम्बा था।



विष्णुकान्त शास्त्री

(छात्रों के लिए सैनिक शिक्षा अनिवार्य कर देने के साथ-साथ प्राध्यापकों से विशेष अनुरोध किया गया कि इस राष्ट्रीय महत्त्व की योजना की सफलता के लिए वे भी सैनिक शिक्षा प्राप्त कर अंशकालिक सैनिक अधिकारी के रूप में छात्रों को सैनिक शिक्षा देने का दायित्व ग्रहण करें। इस आह्वान को स्वीकार कर प्रो० शशांक अप्रैल-मई-जून में होने वाली एन० सी० सी० के प्रादेशिक अधिकारी शिक्षण-शिविर में सैनिक शिक्षा लेने गये थे। वहाँ से लिखे उनके तीन पत्र यहाँ प्रस्तुत हैं जो क्रमशः पत्नी, भाभी, और विभागाध्यक्ष को लिखे गये थे।)

शास्त्रैरपि शरैरपि

अर्थात्

एन० सी० सी० शिविर से प्रेषित

प्रोफ़ेसर शशांक के कुछ पत्र

एन० सी० सी० शिविर;
कल्याणी
२८-४-६३

प्रिय इन्दु,
अशेष प्यार !

आज रविवार है, छै दिनों के कठोर सैनिक शिक्षण के बाद अवकाश का दिन, शक्ति-संचय का दिन। वैसे सच कहा जाय तो आज का दिन प्रतीक्षा और मोहक दिवा-स्वप्नों में ही बीत गया। कभी-कभी उपयोगिता एवं प्रयोजन की प्रेरणा से बनाये सब नियम-क़ानून तोड़कर कुछ नहीं अर्थात् अनावश्यक अप्रयोजनीय किन्तु प्रिय—कुछ करने की जो लालसा मन में जागती है, उसको दुलारता रहा। दिन भर सोचता रहा कि आज भी तुम आओगी! चलो, तुम नहीं आ पायीं तो मैं ही भावना के माध्यम से तुम तक पहुँचने की चेष्टा करूँगा।

पिछले तीन सप्ताहों में अपने जिस रूप का परिचय मुझे मिला है, उससे मैं स्वयं विस्मित हूँ। जब दिमाग़ी कीड़ा काट-काटकर परेशान किये डाल रहा था कि वर्त्तमान राष्ट्रीय संकटकाल में केवल वक्तृताओं से ही तुम्हारा कर्त्तव्य पूरा नहीं हो जाता, किताब पकड़ने और क़लम चलानेवाले हाथों में भी शस्त्रों के शोभित होने का समय आ गया है, जब विश्वविद्यालय के युवा प्राध्यापकों की बैठक में वाइस चांसलर के एन. सी. सी. में सम्मिलित होने के अनुरोध के उत्तर में मौन का अखण्ड राज्य देखकर मैंने अपनी सेवाएँ अर्पित की थीं तब भी मन के एक कोने में यह शंका बनी हुई थी कि क्या शरीर इतना कठोर परिश्रम सह पायेगा। और अब देखो, सवेरे साढ़े चार बजे उठता हूँ, साथियों को उठाता हूँ (कम्पनी-कमाण्डर जो बना दिया गया हूँ) और नित्यकृत्य से निवृत्त होकर पूरी कम्पनी के साथ पौने छै बजे राइफल लेने के लिए मैदान में उपस्थित हो जाता हूँ। छै बजे से जो सैनिक शिक्षा शुरू होती है वह बारह बजे तक चलती रहती है। बीच में चालीस मिनट का अवकाश मिलता है, जलपान के लिए। फिर अपराह्न में तीन बजे से पाँच बजे तक शिक्षा का क्रम चलता है और उसके बाद खेल-कूद का। क़वायद, राइफल, संगीन, हथगोला और मशीनगन की शिक्षा दी जा रही है। आज्ञापालन में विन्दु मात्र उल्लंघन या शैथिल्य भी जिसे असह्य है ऐसा सख्त और कड़ा वातावरण और ढीले-ढाले, लेक्चर झाड़ने में तेज़ प्राध्यापकगण! है न मज़ेदार वैषम्य, किन्तु मैं प्राणपण से चेष्टा कर रहा हूँ और तुम्हें यह जानकर खुशी होगी कि मेरी प्रगति अधिकारियों की दृष्टि में अत्यन्त सन्तोषजनक है। शरीर चुस्त होता जा रहा है और अधिक कष्टसहिष्णु भी। दुपहरिया की जलती-बलती धूप में हाफ-पैण्ट और सैण्डो गंजी पहने जब दुश्मन पर हमला करने की शिक्षा प्राप्त करते समय रेंगकर बढ़ने की आज्ञा मिलती है और जब कँकरीली, कँटीली धरती अक्सर कुहनियों और घुटनों को अपने स्नेहदान से रक्तरंजित कर देती है, तब भी एक प्रकार के पुलक का अनुभव होता है। याद हो आती है वह सूक्ति : 'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र चर्चा प्रवर्त्तते' शास्त्रों से रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्र-चर्चा संभव होती है। मेरा विश्वास है कि शस्त्र-चर्चा और शास्त्र-चर्चा का समन्वय हो सकता है। महाभारत का श्लोक है :

"अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः ।
इदं ब्राह्मं इदं क्षत्रं शास्त्रैरपि शरैरपि ।।"

ऋषि कहता है, मेरे आगे चारों वेद हैं और पीछे बाणयुक्त धनुष, यह ब्रह्म तेज है और यह क्षत्र तेज, शास्त्रों और शरों दोनों के द्वारा लक्ष्य-सिद्धि के लिए प्रस्तुत हूँ। यही परम्परागत भावना और हिमालय की बर्फ़ को अपने ख़ून से लाल कर देनेवाले जवानों की क़ुर्बानी और....और हिमालय के पार के ख़ूँख्वार - बर्बर दरिन्दों की दुःसाहस-पूर्ण चुनौती मुझे प्रेरणा देती रहती है।

किन्तु मन कभी-कभी यहाँ से भटक भी जाता है, राइफल या मशीनगन की कक्षा को पार कर कलकत्ता पहुँच जाता है, लेफ्ट-राइट - लेफ्ट की ध्वनि को सुनकर भी सुन नहीं पाता। आँखों के सामने तुम्हारा उदास, दुःखी और सहमा हुआ चेहरा उभर आता है। इन्दु, तुम इतनी भोली और सरल हो, इतने कोमल और नरम हृदय की हो कि इतना हृदय-हीन पति तुम्हारे योग्य नहीं है। जिस दिन तुम यहाँ आयी थीं उस दिन का तुम्हारा सहमा - सूखा चेहरा भुलाये नहीं भूलता, थोड़ी देर के लिए ज़रूर तुम्हारे छलिया पति ने तुम्हें बातों में बहला लिया था लेकिन लौटते समय तुम फिर उदास हो गयी थीं।

इन्दु, वीरेन्द्र मिश्र की एक कविता की कुछ पंक्तियाँ सुनो,

'पीर मेरी कर रही ग़मगीन मुझको,
और उससे भी अधिक तेरे नयन का नीर रानी।
और उससे भी अधिक हर पाँव की जंजीर रानी।'

अपनी व्यक्तिगत आशा-आकांक्षाओं के अपूर्ण रहने की पीड़ा कम नहीं है किन्तु निश्चय ही उनसे अधिक तुम्हारी वेदना मुझे कातर बना देती है, तुम्हारे आँसुओं को पोंछने के लिए मेरी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाएँ निछावर हैं।...परन्तु तुम्हारे आँसुओं से भी अधिक मर्मभेदी कोई और पीड़ा है जो मुझे चैन नहीं लेने देती, व्यक्तिगत सुख-सुविधा को ही स्पृहणीय नहीं समझने देती। वही पीड़ा मुझे यहाँ खींच लायी है, तुमसे दूर.... इतनी दूर! किन्तु वह पीड़ा केवल मेरी ही नहीं, तुम्हारी भी है. .. होनी चाहिए...और फिर क्यों न हम दोनों मिलकर उसे झेलें। मैं यहाँ और तुम वहाँ....या जहाँ भी हम लोगों की ज़रूरत हो, वहीं क्यों न हम दोनों तपस्या करें, कष्ट झेलें कि उस पीड़ा को विन्दु मात्र ही क्यों न हो कम करने के प्रयास में अपने जीवन का उपयोग करने का सन्तोष प्राप्त कर सकें।

मालूम नहीं क्या-क्या लिख गया। मैं स्वस्थ और सानन्द हूँ, संभवतः अगले रविवार को या उसके अगले रविवार को कुछ घण्टों के लिए घर वापस आ पाऊँ। भगवान की कृपा से तुम सब लोग सकुशल रहो।

तुम्हारा ही—शशांक

'हंस' के सम्पादक प्रेमचन्दजी का श्री जैनेन्द्रकुमार के नाम लिखा एक पत्र :

"आदाब अर्ज़! भाई वाह! मानता हूँ। जून गया, जुलाई गया और अगस्त का मैटर भी जानेवाला है। जुलाई बीस तक निकल जायेगा। लेकिन हुज़ूर को याद ही नहीं। क्यों याद आये! बड़े आदमी होने में यही तो ऐब है! रुपये तो अभी कहीं मिले नहीं। लेकिन यश तो मिल ही गया है। और यश के धनी, धन के धनी से क्या कुछ कम मग़रूर और भुलक्कड़ होते हैं!"

एन० सी० सी० शिविर,
कल्याणी
१३–५–६३

प्रिय भाभी,

बड़ी नानी माँ प्रायः कहा करती थीं कि 'बड़ों का बोल और आँवले का स्वाद पीछे पता चलता है।' कल लगा कि बात काफ़ी दूर तक सच है। घर में माँ, भाभी ने इतना कहा कि खाकर जा, पर बिना खाये ही तुम लोगों के साथ विनोबाजी का प्रवचन सुनने चला गया। आते समय तुम लोगों ने कहा, 'चलो रेस्तराँ चलते हैं, थोड़ी ही देर की बात है', किन्तु श्रीमानजी क्यों सुनने लगे, उनके सिर पर तो ठीक समय पर शिविर पहुँचने का भूत सवार था। एक तरह से परोसी थाली को ठुकराकर चला आया, बस अन्न - देवता रूठ गये। रास्ता जाम, बस लेट, पहली ट्रेन छूट गयी, दूसरी ट्रेन लेट। शिविर पहुँचा तो दस बज गये थे और सोने के आदेश का बिगुल बज चुका था। बत्तियाँ बुता दी गयी थीं। पेट में चूहे कूद रहे थे, रसोईघर की बत्तियाँ बुझ चुकी थीं किन्तु जमादार साहब अभी नहीं गये थे। वे बेचारे मुझ पर खास मेहरबान हैं, लगे अफ़सोस करने : 'भोजन तो उठ गया है, बारे थोड़ा-सा दूध बचा था लेकिन उसका दही न जमा दिया गया हो!' कहकर भंडार की ओर दौड़े। भगवान की कृपा से अभी जामन नहीं डाला गया था, अतः डेढ़ पाव दूध मिल गया। आंशिक क्षुधा-निवृत्ति कर अपने क्वार्टर में आया।

१४–५–६३

कल से गर्मी तेज पड़ने लगी है, अर्थात् ट्रेनिंग में जो कसर थी वह पूरी हो गयी है। एक तोला पानी पीता हूँ तो डेढ़ सेर पसीना निकलता है। हवा चले तो भींगी गंजी 'एयरकंडीशन' का मज़ा देती है किन्तु हवा के बन्द रहने पर पसीने के चिटचिटेपन का ऐसा अनुभव कराती है कि तबीयत प्रसन्न हो जाती है। फिर मेरी बुद्धिमत्ता तो है ही; शिविर के अधिकारियों ने भले-चंगे पंखेवाले कमरे में जगह दी थी किन्तु उसमें तीन व्यक्ति थे अतः एकान्त के लोभ से स्वयं श्रीमान जी चले आये पिछवाड़े की रसोईघरनुमा कुठरिया में, जिसमें पंखे के नाम पर ढेर-सा जाला लटका हुआ था। परसों आचार्य विनोबा भावे का प्रवचन सुनने से आत्मिक उन्नति चाहे जितनी हुई हो, भौतिक स्थिति यह जरूर बनी कि पंखा नहीं ला सका। इस चिट्ठी को लिखते समय शरीर से बहती हुई पसीने की धारा बता रही है कि भौतिकता की बिलकुल उपेक्षा नहीं की जा सकती। आजकल में कल्याणी या कचरापाड़ा से एक टेबुल-फैन लाना ही होगा। वैसे एक हाथ-पंखा तो खरीद लाया हूँ किन्तु उसको हाँकने की कसरत करते-करते पहले तो नींद मुश्किल से आती है और फिर नींद आ जाने पर उठते समय तक चादर के ऊपर पसीने की स्याही मेरे शरीर का नक्शा बना देती है। चलो, सैनिक के लिए सर्दी-गर्मी सहना जरूरी होता है, इस दृष्टि से मेरी ट्रेनिंग ज्यादा अच्छी हो रही है।

क़वायद और हथियार चलाने की शिक्षा से ज्यादा कष्टदायक शिक्षा भोजन के समय गला बाँधने की यानी नेकटाई की फाँसी लगाने की है। भला सोचो, इन गर्मी के दिनों में नेकटाई बाँधे बिना भोजन करने से

कौन-सा अनर्थ हो जाता ? लेकिन नहीं, अँग्रेजियत की अन्धी नक़ल अपने देश में (और सेना में तो हद से ज्यादा !) इस प्रकार की जाती है कि लगता है जैसे अब भी देश गुलाम ही हो। मैं तो कपड़े बदलते-बदलते परेशान हो जाता हूँ, सुबह की परेड की पोशाक अलग, दोपहर के भोजन की पोशाक अलग, अपराह्न की परेड की पोशाक अलग, खेल-कूद की पोशाक अलग, रात्रि के भोजन की पोशाक अलग। सो कितना समय कपड़ा बदलने में जाता है, फिर पोशाक लकदक होनी चाहिए नहीं तो "आपका 'टर्नआउट' खराब है, आखिर आप अफ़सर बननेवाले हैं, उसका कुछ तो खयाल रखा कीजिये !" का फ़तवा मिलते देर नहीं होती। 'कुछ तो खयाल....' भगवान जानता है कि इतना खयाल मैंने जिन्दगी में कपड़ों का कभी नहीं रखा; एम० ए० तक बेचारी माँ, भाभी रखती रहीं और उसके बाद तुम्हारी दिरानी आ गयी। यहाँ तो कपड़ा धोते-धोते और धोबी का हिसाब करते-करते ही फुर्सत नहीं मिलती।

> प्रेमचन्दजी का एक और पत्र जो उन्होंने श्री रामशर्मा को लिखा था :
>
> 'हंस' के लिये आपने जो लेख भेजा है, उसके लिये मैं कृतज्ञ हूँ। क्या आप कृपया, अगर संभव हो, घुटनों के बल बैठकर मेरी ओर से चतुर्वेदी जी (बनारसीदासजी) से 'हंस' के लिये एक-दो पृष्ठ लिखने के लिये कह सकेंगे ?

सच, यहाँ आकर जो बात सबसे ज्यादा अखरी है वह शरीर की प्रधानता है। सुबह से रात तक शरीर के स्तर पर ही जीना पड़ता है। तरह-तरह की क़वायद के द्वारा शरीर को साधो, रंग-बिरंगी पोशाक से शरीर को सजाओ, शरीर को आराम दो, अपने शरीर को बचाने और दुश्मनों का शरीरान्त कर सकने के कौशल सीखो, शरीर-ही-शरीर की चिन्ता करते रहो। मस्तिष्क और हृदय की इतनी उपेक्षा इसके पहले कभी नहीं थी। यह सही है कि सैनिक-संगठन, व्यवस्था, मानचित्र-अध्ययन, युद्ध-कौशल आदि के बारे में कुछ व्याख्यान भी होते हैं किन्तु वे इतने प्रारंभिक क़िस्म के, इतने सूखे और मात्र सूचना प्रधान होते हैं कि उनसे चिन्तकमस्तिष्क को कोई उत्तेजना नहीं मिलती। युद्ध-शास्त्र आधुनिक युग में निश्चय ही अत्यन्त जटिल और रोचक शास्त्र है किन्तु हम लोग अभी उसका क, ख, ग, ही पढ़ रहे हैं और जैसे बड़ी उम्र में नयी भाषा सीखते समय उसकी वर्णमाला और प्रारंभिक पुस्तक पढ़ते समय रस नहीं मिलता है वैसे ही इन व्याख्यानों से भी एक प्रकार के भार का अनुभव होता है क्योंकि उन सूखी सूचनाओं को याद करना पड़ेगा। अगले शनिवार को ही लिखित परीक्षा है और इस उम्र में, खासकर इस पद में, लिखित परीक्षा में असफल होना अत्यन्त अपमानजनक होगा।

मस्तिष्क पर कुछ-न-कुछ रगड़ तो पड़ती ही है किन्तु हृदय तो निर्वासित ही हो रहा लगता है। शुरू-शुरू के दिनों में कविताओं और गीतों की गोष्ठियाँ अधिक जमती थीं किन्तु अब तक अधिकांश लोगों का रस सूख चला है। बौद्धिक और भावात्मक पक्ष की उपेक्षा का परिणाम यह है कि सस्ते मनोरंजन की ओर लोग झुक रहे हैं, बातचीत

अत्यन्त निम्न स्तर की होती है। साहित्य, संगीत, दर्शन, वैज्ञानिक प्रगति आदि सुरुचि-पूर्ण विषय बिलकुल तिरस्कृत ही हैं। प्रोफेसरों के शिविर की यह स्थिति दुःखदायी है।

१५–५–६३

देख रही हो भाभी, यह चिट्ठी तीन दिनों में पूरी हो रही है। एक साथ इतना समय नहीं मिल पाता कि मेरे जैसा चिट्ठी-लिक्खाड़ झटपट एक चिट्ठी लिख दे। कल रात को यहाँ काल वैशाखी का भयंकर तूफ़ान आया था, बत्तियाँ फ्यूज हो गयीं, भोजनालय का टीन का छप्पर उड़ गया, फिर ज़ोरों का पानी बरसा तो मेरे कमरे में गंगा-जमुना की बाढ़ आ गयी, सामने की छोटी सड़क नहर और परेड का मैदान झील बन गया। सारा काम-काज दो घंटे के लिए ठप हो गया। फिर नव-जीवन का स्पन्दन शुरू हुआ, मोमबत्ती के क्षीण प्रकाश में एक छोटे-से कमरे में हम लोगों का बूफ़े डिनर हुआ। अँधेरे में ही हम लोग सोये। आज सबेरे कैम्प-कमाण्डेण्ट साहब ने हम लोगों के कल के व्यवहार की प्रशंसा की और तीन पीरियड परेड माफ़ कर दी। उसी समय में यह चिट्ठी समाप्त कर रहा हूँ।

काल वैशाखी का नाम ही सुनता रहा था, कल ही उसका रुद्र रूप देखा। ओह कैसा प्रचण्ड स्वर, कैसा उन्माद, उद्दाम वेग, उथल-पुथल कर देने की कैसी अप्रतिरोध्य शक्ति! सोचता हूँ, नवनिर्माण का स्वप्न लेकर कोई ऐसा ही प्रचण्ड तूफ़ान भारतीय जन-जीवन में भी आये जो चारों तरफ़ फैले क्षुद्रता, संकीर्णता और जड़ता के सूखे पत्तों को उड़ा ले जाये और फिर नये स्वच्छ वातावरण में श्रद्धा और मर्यादा के आधार पर गतिशील जीवन की रचना हो।

अब आज यहीं बस कर दूँ। तुम भला क्यों चिट्ठी लिखने लगीं, जाओ मैं कहता भी नहीं! सस्नेह,

तुम्हारा
शशांक

•

एन० सी० सी० शिविर,
कल्याणी
दि० २०–६–६३

श्रद्धेय शिवस्वरूपजी,

सादर प्रणाम। लगता है, किसी दूसरे लोक से आपको यह पत्र लिख रहा हूँ। देश और काल का व्यवधान संभवतः व्यवधान नहीं बन सकता यदि चेतना और भावना समान स्तर पर हों किन्तु यदि इन्हीं में स्तर-गत अन्तर आ जाये तो समानान्तर रेखाओं की तरह आगे-पीछे बढ़ने पर भी मिलना असंभव है। कभी-कभी सोचता हूँ कि यह सैनिक - शिक्षा मुझमें कुछ योग ही कर रही है या कहीं कुछ बदल भी रही है। लगता है कि यह केवल मात्रात्मक नहीं गुणात्मक परिवर्तन करना चाहती है, और यहीं छोटा-सा खटका पैदा होता है। मेरे जीवन का लक्ष्य साहित्य का अध्ययन-अध्यापन ही है किन्तु चौदहों विद्याओं को समेटने वाली यह पन्द्रहवीं विद्या आधुनिक युद्ध-विद्या को कितनी दूर तक समेट पायेगी....कम-से-कम इस अपात्र में....यह कहना मुश्किल है। सिद्धान्ततः मैं 'शास्त्रैरपि शरैरपि' का विश्वासी हूँ, व्यवहारतः इसे जीवन में उतारना भी चाहता हूँ किन्तु स्वीकार करता

चाहिए, इसके लिए अधिक निष्ठा एवं क्षमता अपेक्षित है।

इस पत्र में संभवतः निराशा या कम-से-कम दुर्बलता की गन्ध लग सकती है, सोच रहा हूँ कि ऐसा क्यों हो रहा है। अपने मन के ज़ोर में कमी नहीं पाता, अढ़ाई महीने के निरन्तर अभ्यास ने शरीर को पर्याप्त कस दिया है, श्रम से मैं नहीं घबराता, भला किसे उम्मीद हो सकती है कि मैं पाँच मील दौड़ सकता हूँ, पन्द्रह मील बिना रुके मार्च कर सकता हूँ। फिर भी स्वर में उत्फुल्लता की जगह भारीपन क्यों है? इस शिविर में अनेक खट्टे-मीठे अनुभव हुए हैं किन्तु सब मिलाकर जो रोकड़ निकलती है वह बहुत अधिक दिल बढ़ानेवाली नहीं है।

प्रेम-पत्र : एक रोचक तथ्य

नेपोलियन जैसे महान विजेता, माइकेल फैरेडे जैसे सृजनात्मक वैज्ञानिक एवं बीथोवन के समान विलक्षण प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने भी अपने प्रेम-पत्रों में एक-सी रोमाण्टिक, अतिशयोक्तिपूर्ण एवं कुछ-कुछ उन्मादपूर्ण बातें लिखी हैं।

हम लोग ९५ प्राध्यापक यहाँ रात-दिन एक साथ रहते हैं। मेरी धारणा थी कि वातावरण में बौद्धिकता, उच्चाशयता एवं संस्कारशीलता परिव्याप्त होगी किन्तु देखा कि चारों तरफ़ क्षुद्रता, जड़ता और निष्प्राण गतानुगतिकता का साम्राज्य है। परेड के अतिरिक्त प्रातःकाल से रात्रि पर्यन्त दयनीय क्रन्दन, अधिकारियों को कोसना, अधिकारियों की ख़ुशामद करना, भोजन के लिए हाय-हाय करना, मनोरंजन के नाम पर गन्दी गालियाँ बकना तथा जुगुप्सापूर्ण यौन-चर्चा करना....यही तो अधिकांश विद्वान् (!) प्राध्यापकों की गौरवपूर्ण दिनचर्या है। देश पर संकट आया हुआ है, हम सबको अधिक त्याग और परिश्रम के लिए सन्नद्ध रहना चाहिए, देश की उन्नति के कौन-कौन से रास्ते हो सकते हैं आदि विषयों पर बात करने की चेष्टा करना—'ज्ञान देना' बनना या सिरफिरापन आदि समझा जाता है।

उस दिन मुझे सचमुच चोट लगी जिस दिन एक प्रोफ़ेसर ने खुल्लमखुल्ला कह दिया कि देश-प्रेम के लिए यहाँ कौन आया है, जो ऐसी बड़ी-बड़ी बातें कहते हैं वे झूठी डींग मारते हैं, आने का उद्देश्य नौकरी स्थायी करना, तरक़्क़ी पाना, ७५) महीना भत्ता पाना तथा भारत सरकार का 'क्लास वन आफ़िसर' बनना है। इस शिविर में आने के बाद मुझे निश्चय हो गया कि बहुत-से लोग जो आज प्राफ़ेसरी कर रहे हैं, वास्तव में प्रोफ़ेसर होने के योग्य नहीं हैं। यह सच है कि यहाँ थोड़े-से निष्ठावान् योग्य और प्रतिभाशाली प्रोफ़ेसर भी हैं और मेरे लिए मरुभूमि में शाद्वल के समान हैं; किन्तु यह भी सच है कि वर्ग की दृष्टि से प्राध्यापकों के प्रति अब मेरी श्रद्धा डगमगा गयी है और यह मेरे लिए जीवन की अत्यन्त दुःखद उपलब्धियों में से एक है।

दूसरी बात जिसने मुझे आन्तरिक कष्ट पहुँचाया है हमारे सैनिक अधिकारियों का असन्तुलित व्यवहार है। काश, उनमें अहम्मन्यता कुछ कम होती और दूरदर्शिता कुछ अधिक। जहाँ मैं उनकी कर्मठता, सद्भावना एवं अनुशासनप्रियता की प्रशंसा करता हूँ, वहीं यह देखकर दुःख का अनुभव करता हूँ कि

हाकिमी शान, अँकड़, रूक्ष-कठोर भाषा और डंडे के ज़ोर से काम कराने की प्रवृत्ति जैसे उनके स्वभाव का अंग बन गयी है। मुझे लगता है कि यह भी अँग्रेज़ी-शासन की एक विकृति के अन्धानुकरण का फल है। गुलाम देश की वेतनभोगी सेना पर रौब जमाने, अपने श्रेष्ठत्व को बलपूर्वक आरोपित करने के लिए जिन कौशलों का प्रयोग अँग्रेज-अफ़सर किया करते थे उन्हीं का ज्ञात या अज्ञात रूप से अनुगमन ये भारतीय अधिकारी अब भी करते हैं। स्वतन्त्र देश की सेना के स्वाभिमान और गौरव-बोध को जगाने के वैचारिक एवं भावात्मक प्रयास की आवश्यकता शायद हमारी सेना के अधिकारियों को प्रतीत नहीं होती। एन० सी० सी० के शिविर में कम-से-कम इसकी कोई झलक नहीं मिली। एक-दो अधिकारी अपने व्यक्तिगत श्रेष्ठ आचरण के द्वारा हम लोगों के श्रद्धेय बन सके, यह अलग बात है, लेकिन यह बात सच है कि अधिकांश अधिकारियों के प्रति स्नेह, सद्भाव और श्रद्धा के स्थान पर रोष, अवज्ञा और आतंक की भावना है। यह एक सुखद आश्चर्य है कि अफसरों की तुलना में सूबेदार, जमादार, हवलदार आदि के प्रति शिविर-वासियों के मन में अधिक सद्भाव है।

फिर भी मैं निराश नहीं हूँ। शायद मेरी अपेक्षाएँ अत्यधिक आदर्शवादी हैं, शायद अपने भावुकतापूर्ण स्वप्न और कठोर वास्तविकता के अन्तर को झेल न पाने के कारण इस समय मैं व्यथित हूँ। किन्तु 'वह एक और मन रहा राम का जो न थका जो नहीं जानता दैन्य' का विश्वासी हूँ। आखिर इस तथ्य की उपेक्षा कौन कर सकता है कि देश भर के प्राध्यापकों की काफ़ी बड़ी संख्या इस समय सैनिक-शिक्षा लेने के लिए आगे बढ़ी है। अपने शिविर के अनुभव पर कह सकता हूँ कि अपने अभ्यस्त आराम-देह जीवन से बहुत भिन्न वातावरण में भी वे काम करते रहे हैं एवं लौटकर अपनी नयी ज़िम्मेदारी को लगन से निभाने के लिए दृढ़ संकल्प हैं। आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि दिन भर के कठोर परिश्रम के बाद भी हम कुछ मित्र रात की निस्तब्धता को कविताओं और गीतों की स्वरलहरी से मुखरित कर देते हैं। मेरी समझ में यह आशाजनक और आस्थाजनक अनुभूति है। बच्चन की ये पंक्तियाँ यहाँ के मेरे इन मित्रों को बहुत प्रिय हैं :

वे दुर्गम पथ के श्रम संकट भी क्या जानें
जो उस पर पाँव बढ़ाते गाते जाते हैं।
जिनके कंठों में गीत नहीं धीमे पड़ते
वे फूल सदृश् पर्वत का बोझ उठाते हैं।



मेरा विश्वास है कि जीवन की समस्त निराशाओं और बाधाओं को रौंदकर आगे बढ़ने की प्रेरणा देनेवाले 'ओज के शंख और आस्था की वंशी के स्वर' भारत के आकाश में सदा गूँजते रहेंगे और भारतीय जनता के अन्तःकरण में अनुगूँज उत्पन्न करते रहेंगे।

अब तो लौटकर शीघ्र ही दर्शन करूँगा।

विनीत
शशांक

जब डाकिये ने कुछ पत्र चुराये!

शान्ति नेहरोत्रा

●

यह देखिये, चुराये हुए पत्रों की बात सुनते ही उन्हें पढ़ने के लिए आपका जी ललचाने लगा न! खैर यह तो तय बात है कि आप इन्हें पढ़े बिना नहीं मानेंगे, लेकिन मैं आपसे यह अनुरोध जरूर करूंगा कि आप इन पत्रों को 'अपने' डाकिये की नज़र से बचाये रखें, अन्यथा कहीं ऐसा न हो कि उसे भी चस्का लग जाए और वह आप ही की डाक सेंसर करना शुरू कर दे!

●

क्यों साहब, आपसे एक बात पूछूँ? अगर आपका दिल साफ़ हो, और नीयत अच्छी हो तो दूसरों के पत्र पढ़ने में क्या बुराई है? कोई बुराई नहीं है न? यही तो मेरा भी कहना है। आखिर जब पोस्टकार्ड पढ़ने का हक़ सारी दुनिया को है, तो लिफ़ाफ़ा क्यों नहीं पढ़ा जा सकता? आप कह सकते हैं कि उसमें पता नहीं कब, किसने, क्या लिखा हो; लेकिन सवाल तो यह है कि किसी को ऐसी बात लिखने का क्या हक़ है जिसे आप दस के सामने खोलकर रख नहीं सकते? हमें तो भाई जब, जिस चिट्ठी पर शक होता है, खोलकर पढ़ लेते हैं। मन बहलाने के लिए नहीं, सिर्फ़ परमार्थ के लिए। समाज में फैले अनाचार को जड़ से मिटाने के लिए। सो भी हाल ही में शुरू किया है; जब से चित्रलेखा के प्रेमी कोमल कुमार के कुछ खत मेरे हाथ लगे। यह कैसे हुआ, इसकी भी एक कहानी है।



इस हलक़े में मैं काफ़ी अर्से से चिट्ठियाँ बाँटता रहा हूँ इसलिए लोगों के चेहरे, नाम और पते काफ़ी जाने-पहिचाने-से हो गये हैं। एक दिन मैं एक हाथ से साइकिल और दूसरे से डाक सम्हाले चला जा रहा था कि चित्रलेखा ने रोककर पूछा, "सुनिये, मेरी कोई चिट्ठी है?"

सतरह-अठारह साल की साधारण-सी लड़की। दुबली-पतली। साँवला रंग। खोई-खोई-सी बड़ी-बड़ी आँखें।

"आपकी कोई चिट्ठी नहीं है। बाबूजी की हैं।" मैंने चिट्ठियाँ निकाल कर उसे पकड़ा दीं। वह कुछ सहमी, फिर झेंपकर बोली, "कल मंगल है। कल आएगी। लेकिन क्या आप मुझ पर एक मेहरबानी कर सकेंगे?"

"क्या?" मैंने आश्चर्य के साथ पूछा।

"मेरे नाम की चिट्ठियाँ आप मेरे ही हाथ में दिया करिये। मैं इसी जगह आपका इन्तज़ार किया करूँगी, लेकिन अगर कभी न आ सकूँ तो चिट्ठी आप अपने पास रख लीजियेगा और फिर मिलने पर दे दीजियेगा। घर पर किसी को मत दीजियेगा।"

कहते-कहते उसने दस का नोट मेरे हाथ में रख दिया और बोली, "तो फिर कल यहीं पर इन्तज़ार करूँगी।"

"अच्छी बात है। आपकी चिट्ठियाँ आपको ही दूँगा।"

वह चली गई। मेरे मन में पचासों सवाल उठने लगे। किसके पत्रों का उसे इतना इन्तज़ार रहता है? उनमें क्या लिखा रहता है? कौन लिखता है? कहाँ से? यह सवाल मुझ पर इतने हावी हो गये कि दूसरे दिन उसका लिफ़ाफ़ा मैं पढ़े बिना नहीं दे सका। तब से धीरे-धीरे यह मेरी आदत हो गई है कि जिस चिट्ठी पर मुझे रोचक होने का शक़ हो जाता है, उसे बिना पढ़े रहा नहीं जाता।

आज की जो डाक मैंने सेन्सर की है उसे आप भी देखेंगे?....यह! खिल गई बत्तीसी! तो लीजिये, देखिये:

सुनो,

तुम्हें क्या कहकर सम्बोधित करूँ? कल से सारा पैड रंग डाला है लेकिन ऐसा कोई शब्द न मिला जो मेरे प्यार का भार सम्भाल पाता, जो मेरे अन्तर के कोमलतम भावों को अभिव्यक्त कर पाता, बाँध पाता।

तुमने लिखा कि तुम मुझसे नाराज़ हो। सच रानी? लेकिन इस ग़रीब पर यह अत्याचार किसलिए? जीवन यों ही तुम्हारे बिना सूना है। समय काटे नहीं कटता। सुबह घंटों चाय का प्याला लिये बैठा रह जाता हूँ। दिन में कालेज जाता हूँ और एटेण्डेन्स देकर लौट आता हूँ। शाम को तुम्हारे बारे में सोचता हुआ वीराने में भटकता रहता हूँ और रात को चाँद के आइने में अपने सपनों की राजकुमारी की छाया खोजता हूँ, बेसुध-सा ताकता रहता हूँ। सच कहता हूँ, जबसे तुम्हें देखा है, नींद बेगानी हो गई, मुस्कान कहानी हो गई। कालेज की किताबों, नोट्स की कापियों, सबमें तुम्हारी मोहक आकृति दिखाई पड़ती है और लिखी-छपी सतरें उसमें डूब जाती हैं। तुमने कैसा जादू कर दिया

है मुझ पर ?

तुमने लिखा है कि तुम्हारे माता-पिता हम दोनों के विवाह के कभी स्वीकृति नहीं देंगे। न दें। प्रेम––व्यक्ति, समाज, धर्म सबसे ऊपर है। हमने एक होने की ठान ली, तो संसार की कोई शक्ति हमें दूर नहीं कर सकती। चलो प्राण, बम्बई भाग चलें। इतना बड़ा शहर है, वहाँ काम की क्या कमी। पढ़ने-लिखने में अब मेरा मन नहीं लगता; वहीं चलकर भाग्य आज़मायें। और कहीं नहीं तो किसी फ़िल्म-कम्पनी में ही सही। मेरी नूतन! कोई तुम्हें मेरी आँखों से देखे! मैं किसी फ़िल्म-कम्पनी का डायरेक्टर होऊँ तो फ़ौरन तुम्हें हीरोइन का रोल दे दूँ और खुद हीरो बन जाऊँ। लेकिन मुश्किल तो यही है कि इस देश में योग्यता और सौन्दर्य की किसी को परख नहीं है!

ख़ैर, हम संघर्ष करके अपने हाथों अपनी राह बनायेंगे। दो प्रेमी संसार की सबसे बड़ी हस्ती हैं। उन्हें किसका भय? उनकी राह कौन रोक सकता है?

मेरे विचार से अगले महीने की दूसरी तारीख़ को हमलोग बाम्बे-मेल से निकल चलें। मैं तुम्हारे उत्तर की प्रतीक्षा करूँगा। मुझे पूरा विश्वास है चित्रा, कि तुम प्रेमियों की प्रतिष्ठा पर आँच नहीं आने दोगी और झूठा मोह तुम्हें कर्त्तव्य-पथ से नहीं डिगा सकेगा।

अपने पत्र में मिलने का स्थान अवश्य तय कर लेना। मेरे विचार से बड़े स्टेशन पर ही मिलो तो अच्छा रहे। आओगी न?

केवल तुम्हारा,
कोमल

●

लाला जगन्नाथ जी को हरी-स्मरण।

आपका कृपापत्र मिला और हालचाल जाना। यहाँ सब कुशल-मंगल है। आपकी कुशलता श्री ठाकुरजी से नेक चाहता हूँ। आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि चि० रमेश के शुभ विवाह की तारीख़ ७ जून निकली है। आपके पण्डितजी की निकाली तिथि हमारे पण्डितजी ने नामंजूर कर दी है।

आगे आपने लड़के के लिए छंदों के समय अपनी ओर से देने के लिए साइकिल ख़रीदने के बारे में मेरी राय पूछी है। आप तो हद करते हैं भाई साहब! अरे लड़का आपका है, जो चाहे सो दीजिए। सलाह पूछकर मुझे नाहक काँटों में क्यों घसीटते हैं? अब तो जो आपकी इज़्ज़त, सो हमारी इज़्ज़त। हम कोई आपसे अलग थोड़े ही हैं। वैसे आप बुरा न मानें तो एक बात कहूँ। मेरा रमेश तो शुरू से ही मोटर का आदी रहा है; साइकिल उसके किस काम आएगी? घर में होगी, तो नौकर-चाकर चढ़कर बाज़ार-हाट जाएँगे और हमें यह देख-देखकर

दुःख होगा कि आपकी दी हुई चीज़ का सही उपयोग नहीं हो पा रहा है। इसकी जगह अगर आप स्कूटर या मोटर साइकिल दें तो आपका नाम भी हो और चीज़ भी काम आ सके।

रही बहू के गहनों की बात। सो हमारे घर में कहती हैं कि चौदह कैरेट के गहने बनवाने से तो यही अच्छा है कि आप नक़द दे दें। इन रुपयों से हम बहू को उसकी पसन्द की कोई चीज़ ले देंगे। गहने घर में बहुत हैं। वैसे यहाँ हमारा-तुम्हारा करने की किसी की आदत नहीं है। जो कुछ है सब उसी का समझिये।

और हाँ, एक बात भूल ही गया। आप मिठाई-पकवान बिल्कुल न बनवाइयेगा। देश पर जब संकट छाया हो तो मिठाइयाँ उड़ाना किसे सुहाता है; मैं सब रिश्तेदारों को समझा दूँगा। इन बचे हुए रुपयों की आप कपड़े रखने की बढ़िया-सी लोहे की आलमारी ख़रीद दें जिसमें सेफ़ भी लगी हुई हो।

शादी गर्मी में हो रही है यह सोचकर आप सिर्फ़ सूती या रेशमी कपड़े ही न बनवा डालियेगा। शादी के फ़ौरन बाद ही रमेश बहू को लेकर पहाड़ चला जायगा अतः यह ज़रूरी है कि आप लड़के-बहू के गर्म कपड़ों पर भी समुचित ध्यान देने की कृपा करें।

इस बात पर मैं आपसे बिलकुल सहमत हूँ कि बारात लम्बी-चौड़ी न आये। यहाँ से सिर्फ़ पौने दो सौ लोग हमारे साथ आ रहे हैं। आशा है, आप ख़ूब अच्छी तरह खातिरदारी करके अपना और अपने समधी दोनों का मान बढ़ायेंगे। बरातियों में कुछ हमारे बुज़ुर्ग सिर्फ़ फलाहारी हैं, कुछ के लिए कच्चे भोजन का प्रबन्ध करना होगा, कुछ कच्चा खाना तो नहीं खायेंगे, हाँ पूरी-कचौड़ी से उन्हें परहेज़ नहीं, और लड़के के दोस्तों में कुछ ऐसे हैं जिनके लिए माँस-मछली का इन्तज़ाम बहुत ज़रूरी है। विश्वास है कि आप इनमें से हर प्रकार के भोजन की संतोषजनक व्यवस्था करवा लेंगे।

अधिक क्या लिखूं। जिसने बेटी दी, उसने सब कुछ दिया! मेरा तो लेने-देने पर कभी विश्वास रहा ही नहीं। केवल प्रेम-भाव के कारण ही आपके घर बेटे का सम्बन्ध करने के लिए इच्छुक

संसार का सबसे लम्बा प्रेम-पत्र

महारानी एलिज़ाबेथ प्रथम के शासनकाल में एक प्रेमी ने अपनी प्रेमिका को संभवतः आज तक का सबसे लम्बा प्रेम-पत्र लिखा था। उसमें कुल चार लाख बीस हज़ार शब्द और ८०० पृष्ठ थे। विश्व का सबसे लम्बा यह प्रेम-पत्र आज भी ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित है।

हूँ और आशा करता हूँ कि वह सदैव बना रहेगा।

उत्तर शीघ्र दीजियेगा। मेरे योग्य कोई सेवा हो तो निस्संकोच लिखियेगा।

आपका शुभचिंतक

राम किशन

●

प्राणनाथ,

आपका पत्र मिला। यह जानकर खुशी हुई कि आप जनवरी में एक महीने की छुट्टी लेके आ रहे हैं। लेकिन मेरे खयाल से अगर आप मार्च में आयें तो ज्यादा अच्छा रहे क्योंकि बच्चे ठीक से पढ़ते-लिखते नहीं हैं। अगर आप इम्तहान के दिनों में उनकी मदद कर देंगे तो शायद पास हो जायेंगे।

सुना है, पिसे हुए मसाले दिल्ली के किसी 'असली मसाला भण्डार' में अच्छे मिलते हैं। आती बार आप नीचे लिखा सामान लेते आइएगा :—

१. धनियाँ—आधा सेर
२. लालमिर्च—पाव भर
३. अमचूर—आधा सेर
४. नमक—सेर भर
५. गरम मसाला—पाव भर
६. तिल का तेल—आधा सेर
७. कमीज के चौकोर बटन—दो दर्जन
८. कपड़े धोने का साबुन—आठ बट्टी
९. खूँटी—एक
१०. मोढ़ा—एक

लेकिन भाव का ध्यान रखिएगा। आप मोल-भाव बिल्कुल नहीं करते, इसी से ठग जाते हैं। अगर दाम यहाँ से ज्यादा हो तो मत लीजियेगा। और हाँ, बस का किराया भी दाम में जोड़कर देख लीजिएगा कि सस्ता पड़ेगा या नहीं।

वह मद्रासी धोती जो आप सात-सात रुपये की लाये थे, इस बार आठ लेते आइएगा। मैंने सबको दस-दस रुपये दाम बताये थे और इन दामों पर कई पड़ोसिनें वह धोतियाँ खरीदना चाहती हैं। बैठे-बैठाये कुछ पैसे बच जायेंगे!

मैंने आपसे पहले भी कहा था कि पत्र आप बच्चों के नाम लिखा करें और उसी में सारा हाल लिख दया करें। बच्चे बड़े हो गए हैं। जब आपका खत आता है तो सब पीछे पड़ जाते हैं कि अम्मा,

संसार का सबसे छोटा प्रेम-पत्र

प्रेम-पत्रों के इतिहास में सबसे छोटा प्रेम-पत्र इंग्लैण्ड के एक भूतपूर्व प्रधान-मंत्री लायडजार्ज ने लिखा था। उन्होंने अपना यह पत्र फ्रांस की एक नर्तकी को भेजा था। इस पत्र में कुल दो ही शब्द थे—'प्रणय-याचना'। और उत्तर में उक्त नर्तकी ने लिखा था—'अफ़सोस!'

दिखाओ बाबू ने क्या लिखा है? मैं हर बार साँझ में पढ़कर थोड़ा-बहुत सुनाकर टाल देती हूँ। इसमें एक और भी फ़ायदा होगा कि पोस्टकार्ड से ही काम चल जायगा।

यहाँ सब लोग अच्छी तरह हैं। मुन्नी के पैर का दर्द अभी वैसा ही है। लल्लू का घाव भर रहा है।

जवाब जल्दी दीजियेगा।

आपकी
कमला

●

पिरान पियारे,

अब तक पाती ना लिखी बहुत दिना गये बीत।
हम जानत है जगत में मुँह देखे की प्रीत।।

खत लिखने की हमारी बेसरमी पर आप हँसेंगे सो हमें पता है पर आप शहर में ऐसे रमे कि हमें बिल्कुल ही बिसरा दिये। हमारी अम्मा रोज डाकिये से खत के लिए पूछती हैं। रोज वोह सिर हिलाकर आगे बढ़ जाता है और हम मन मसोस के रह जाते हैं।

नदी किनारे रूखड़ा पात गये सब सूख।
गोरी सूखे बाप के, तोरी कैसा फूल।।

आपने तो हमसे बड़े-बड़े वायदे किये थे मगर सब के सब झूठे पड़ गये। कल अम्माँ जी के सो जाने पर अकेले में हमें आपकी बड़ी याद आई और हम ताल किनारे उसी नीम के नीचे जाकर खड़े हो गये जहाँ आप हमसे छुप-छुपकर मिला करते थे। पूनो का चन्द्रमा चमचम चमक रहा था। हमें लगा जैसे आप ही हमें देख-देखके हँस रहे हैं। बड़ी बिथा हुई सब सोचकर और बड़ी देर वहीं खड़े रोते रहे। हम आपको कैसे समझायें कि—

जल की सोभा कमल है धन की सोभा दान।
मेरी सोभा आप हैं जैसे मुख में पान।।

आप कहे थे कि जब हमें पहली पगार मिलेगी तो हम तुम्हारे लिए धानी चुनरी भेजेंगे पर साल भर होने को आया और आपने बात तक न पूछी कि हमारा क्या हाल है। हमारी तो यही दसा है कि—

सीसी भरी गुलाब की भेजूँ किसके हाथ।
धड़ हमारा यहाँ पड़ा दिल तुम्हारे साथ।।

आपने जो चाँदी की अँगूठी अपने हाथ से छिउनियाँ में पहनाईं थी सो अब काली-सी पड़ चली है लेकिन इन आँखों में अब भी वह पहले जैसी ही चमकती है। हम उसे इस डर से साफ़ नहीं करते कि वह आपने अपने हाथ से पहनाई

थी। हाय उसे देखते हैं और सोचते हैं—

हरा नगीना दमदमौ उँगली में दुख देय।
ऐसे के पाले पड़ी हँसे न उत्तर देय॥

कल पूरनिमा की बिदा थी। वह चिल्ला-चिल्ला के रो रही थी लेकिन उसके जी में क्या था सो हम अच्छी तरह जानते हैं। इधर साल भर से वोह अपने घरवालों से बड़ी खिची-खिची रहती थी क्योंकि वोह लोग उसका गउना करने में जानबूझ के देर लगा रहे थे। उसने कई चिट्ठी हमसे लिखवाकर अपने घरवाले को डलवाईं। तब कहीं एक गाड़ी से आया और यहाँ बड़ा झगड़ा हुआ। पूरनिमा के जी की आस तो पूरी हुई लेकिन हमारे जी की जी में ही रह गई। खैर हम तो यही मानते हैं कि—

प्रीत करै ऐसी करै जैसो लीला रंग।
थोड़े से छूटे नहीं जाय प्राण के संग॥

अम्माँ एक दिन दुखी होके रोने लगीं। बोलीं, जो हम जानते कि लड़का ऐसा बेपरवाह निकलेगा, तो हम अपनी दुलारी बेटी का हाथ उसे क्यों पकड़ाते। हमने अम्माँ से तो कुछ नहीं कहा क्योंकि उनसे ऐसी बात करते लाज आती है पर आपसे सच्ची कहते हैं कि हमें अपने भाग से कोई सिकाइत नहीं है। जिसका हाथ पकड़ लिया, जनम-जनम के लिए उसी के हो गये। कहा भी है—

प्रीती ऐसी कीजिए जैसे कच्चा सूत।
उलझे तो सुलझे नहीं गाँठ पड़े मजबूत॥

हम आपकी तरह लिखे-पढ़े तो हैं नहीं जो आपको अपना हाल ठीक-ठीक लिख सकें। हाँ, कलेजे में जो हूक उठ रही है उसे जरूर आप तक पहुँचाना चाहते हैं—

कागज थोड़ा हित घना क्योंकर लिखें बनाय।
सागर में पानी घना गागर में न समाय॥

मन भरा बार-बार यही दिलासा देता है कि आप चाहे चिट्ठी-पत्री नहीं भेजते मगर हमारी याद जरूर करते होंगे। हमारी आँखों में आपकी मूरत बसी रहती है। जी का हवाल क्या कहें—

कहन सुनन की है नहीं
लिखी पढ़ी नहीं जात।
अपने जी से पूछिए
मेरे जी की बात॥

इस बखत रात आधी से जियादा बीत चुकी है। चुपके से लालटेन जलाकर हम बरौठे में बैठे आपको खत लिख रहे हैं—

आँख की स्याही को स्याही में मिलाकर
खत लिखा है आपको
पढ़ते बखत आँखें हमारी देख लेंगी आपको।

अगर हमने कुछ गलत लिख दिया हो तो आप क्षमा करना। हम अपने होस में नहीं हैं। क्या लिखा है सो भी धियान नहीं दिया। अब तो—

लिखना था सो लिख दिया लिखना था कुछ और।
कलम हाथ से छुट गया कागज है बेगौर।।

आपका पता ठीक से मालूम नहीं है। इधर-उधर से पूछताछ करके लिख दिया है। मकान का लम्बर नहीं पता चला। न जाने खत आप तक पहुँचेगा भी या नहीं। ईश्वर से यही पिराथना है कि—

चला जा रे लिफाफे कबूतर की चाल।
बता दे उन्हें मेरा कैसा है हाल।।

यहाँ हमारे लिए एक-एक पल काटना मुसकिल हो रहा है। इसलिए खत को तार समझकर फौरन जवाब देना और पहली गाड़ी से आकर हमें लिवा ले जाना।

आपकी दासी

●

पढ़ लीं आपने सब चिट्ठियाँ? लाइये, अब इन्हें चिपकाकर बाँट आऊँ। लेकिन यह बताइये कि कोमल कुमार वाले पत्र के बारे में क्या कहते हैं आप? एक गुमनाम खत चित्रलेखा के पिता को भेजकर इनका रहस्य खोल दूँ? आप सोचकर बताइयेगा जरूर। मैं आपकी सलाह की राह देखूँगा। ● ● ●

सबसे आश्चर्यजनक प्रेम-संदेश लंदन में डॉ० रोबिंसन ने सन् १९२८ में मंगल-ग्रह निवासिनी अपनी प्रेमिका को भेजा था: "हे मंगल-निवासिनी-प्रेयसि, इस पृथ्वीवासी अपने प्रेमी के ये शब्द-प्रसून ग्रहण करो।...."

पोस्टआफिस ने डॉ० राबिंसन से १ शिलिंग ६ पेंस प्रति शब्द शुल्क लेकर इस अदभुत संदेश को मंगल-ग्रह की दिशा में रेडियो द्वारा प्रसारित किया था।

लेकिन जब मंगल-ग्रह-निवासिनी प्रेमिका ने डॉ० राबिंसन को कोई जवाब नहीं दिया, तो उन्होंने कहा कि "उस लड़की की इच्छा-शक्ति बहुत कमजोर है और बेतार के तार के बारे में वह कुछ नहीं जानती।" —स० ना० सिन्हा



दुष्यन्त कुमार

विश्व के नेताओं को
एक पत्र, प्रजा का

विश्व की चार बड़ी शक्तियों,—कैनेडी, ख़ुश्चेव, मैकमिलन और डीगॉल—के नाम एक साधारण आदमी का ख़त; जिसे दुष्यन्त कुमार ने लिखा है।

•

दोस्तो,

मैं जो एकदम बेघरबार - सा इंसान हूँ, एक निहायत अदना-सा इंसान—यानी पढ़े-लिखे के समाज में सबसे कम पढ़ा-लिखा और शोषितों के समाज में सर्वाधिक शोषित—आज तुम्हें यह ख़त लिख रहा हूँ। हालाँकि मैं जानता हूँ कि मुझसे पहले भी ऐसे ख़त लिखे गए हैं, मुझसे पहले भी ऐसी आवाज़ें उठी हैं और कुचली जा चुकी हैं, मगर एक व्यक्ति का अहम् ही तो है कि मैं एक बार फिर कंठ की पूरी शक्ति से चिल्ला पड़ना चाहता हूँ ताकि मेरी आवाज़ें यहाँ से वहाँ, यानी रूस से अमेरिका, अमेरिका से इंग्लैण्ड और इंग्लैण्ड से फ्रांस तक, सभी देशों में अनुगूंज जगाती हुई, तुम्हारे मर्म तक पहुँचे। इसीलिए एक बार फिर यह कोशिश कर रहा हूँ कि तुम लोगों के जिस्म की विचित्र बनावट में

किसी प्रकार हृदय नामक स्थान खोजकर, ठीक वहीं, लक्ष्य-वेधी भाषा में कोई स्वर-वाण फेंक मारूँ। कोई ऐसा वाण, जो एक पल के लिए सही, तुम्हें यह सोचने के लिए विवश करदे कि तुम शासक ही नहीं, इंसान भी हो। और, कि तुम इंसान हो इसलिए दुनिया के सारे इंसानों से तुम्हारा कोई रिश्ता भी है। और उस रिश्ते के नाते तुम्हें कोई हक़ नहीं है कि तुम अपनी साम्राज्य-लिप्सा या सिद्धान्त-लिप्सा या अधिकार-लिप्सा की पूर्त्ति के लिए इंसान और इंसानियत को युद्ध की महाज्वाला में झोंक दो। तुम्हें या किसी को भी यह हक़ नहीं पहुँचता कि वह मानव-अस्तित्व के लहलहाते हुए खेतों से होकर टैंकों तथा तोपों के जाने के मार्ग बनाए और फ़सलें बरबाद करे।

दोस्तो, इंसान अन्ततः इंसान है। वह भी जो करोड़ों की संख्या में सैनिक शक्ति संचित कर रहा है और वह भी जो हाइड्रोजन बमों तथा राकेटों के प्रयोग कर रहा है—एक ही खून के रिश्ते में बँधे हैं। इस रिश्ते से, वह जो विजय का मुकुट पहनता है और वह जो उन बम-विस्फोटों का अभिशाप भोगता है—आपस में एक-दूसरे के कुछ लगते हैं। और इसी रिश्ते से पाबंद होकर जब युगोस्लाविया में भूकंप आता है, तो हिन्दुस्तान की जनता के दिल दहल उठते हैं, जब कोसी में बाढ़ आती है, तो इंग्लैण्ड की जनता की आँखों से पानी के पनाले बह निकलते हैं और जब फ्रांस या रूस में कोई विमान-दुर्घटना होती है, तो दुनिया के और मुल्कों के लोग मातमपुरसी करते हैं। तो यह कोई मामूली रिश्ता नहीं है कि कांगों में रक्तपात हो और सारी दुनिया की आत्मा अपनी हो जाए [illegible] है, इस रिश्ते की डोरी में सब बँधे हैं—वह भी जो लाखों करोड़ों की सम्पत्ति पर अनिश्चय की नींद सोता है और वह भी जो गलियों-बाज़ारों में पेट को बजाता और भूख-भूख चिल्लाता घूमता है। और इसी रिश्ते के औचित्य पर मैं, जो किसी देश का प्रधान-मंत्री नहीं, किसी राष्ट्र का राष्ट्रपति नहीं, किसी राजनैतिक पार्टी का नेता नहीं और किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का प्रधान नहीं, तुम्हें यह पत्र लिखने का दुस्साहस कर रहा हूँ।

हालाँकि मैं यह भी जानता हूँ कि यह रिश्ता केवल प्रजा में चलता है, शासकों में नहीं। मगर यह भी सोचता हूँ कि शासकों का इतिहास अन्ततः प्रजा द्वारा ही रचा जाता है और हो सकता है, तुम्हें इस तथ्य का बोध हो गया हो। तुमने इतिहास उठा कर देखा हो कि अबसे पहले भी बहुत खूँख्वार और बहुत नृशंस शासक हुए, जिन्होंने प्रजा को अपनी लिप्सा, अपनी आकांक्षा और अपनी सनक की पूर्ति का माध्यम बनाया.... और चले गए और प्रजा अब तक उनके नाम पर थू-थू करती है। क्योंकि प्रजा मनुष्य है—चाहे वह किसी देश, किसी रंग और किसी भूखंड की हो।

तुम लोग, जो विश्व की राजनीति और सत्ता के चारों छोर दबाए हुए, युद्ध की निर्धम-अग्नि में यदा-कदा आहुतियाँ डाल देते हो—प्रजा को भूल जाते हो। भूल जाते हो कि हम जो जीवन को एड़ियाँ रगड़-रगड़कर जीते हैं और उसे दोनों हाथों मजबूती से थाम रखने की कोशिश में बार-बार हार जाते हैं, किसी युद्ध के लिए तैयार नहीं हैं। हमारे बच्चे जो अखबारों के

फटे-पुराने टुकड़ों से फूलों और फलों की तस्वीरें काटकर भविष्य की कल्पनाएँ करते हुए स्कूलों में विश्व-बंधुत्व का सबक़ सीख रहे हैं, अपने सपनों को बिखरने देना नहीं चाहते। हमारे बुजुर्ग जो पिछले महायुद्ध से थककर घर के दरवाज़ों पर बैठे, आने-जानेवाले लोगों के चेहरों पर शांति और सकून की लिखावट देखते हुए, पिछली विभीषिका से धीरे-धीरे मुक्त हो रहे हैं फिर यह पसंद नहीं करते कि क़ब्र में पाँव लटकाते समय उनके कानों में बम-वर्षक विमानों की घड़घड़ाहट और विस्फोटों का नाद गूँजे। हमारी औरतें जो कोशिए से छोटे-छोटे फ्रॉकों पर कढ़ाई कर रही हैं, दस्ताने या मोज़े बुन रही हैं और एक बेहतर ज़िन्दगी लाने के प्रयत्नों में योगदान दे रही हैं--हरगिज़-हरगिज़ यह नहीं चाहतीं कि उनके पति-पुत्र या भाई उनसे बिछुड़ जाएँ। हम केवल प्रजा हैं--चाहे अमीर हों या ग़रीब; और हम, यानी कोई प्रजा, यह नहीं चाहती कि उसे ख़ाली हाथों, बेक़सूर, युद्ध की आग में झोंक दिया जाए। उसे ख़ून देने और ख़ून पीने के लिए मजबूर किया जाए। उससे कहा जाए कि तुम लड़ो और इंसानी ज़िंदगी की सारी क़द्रों को बिसरा दो। दरअसल यह युद्ध और इसका भय भी एक सूत्र है, जो आज एक देश को दूसरे देश और दूसरे को तीसरे देश और तीसरे देश को चौथे देश से बाँधे है।

मैं भारत देश का एक साधारण-सा इंसान हूँ, जिसके पेट को पूरा भोजन और शरीर को पूरे कपड़े मुहैया नहीं होते। स्वीकार करता हूँ कि मेरा देश एक ग़रीब देश है। लेकिन क्या तुम्हारे देश में कोई ग़रीब नहीं है? क्या वहाँ लौकिक अभावों का मारा ऐसा समाज नहीं है, जिसे दो जून रोटी पाने की लालसा हो? जिसके सपने और बेहतर संदर्भों के लिए छटपटा रहे हों? जो और सुखद भविष्य की प्रतीक्षा कर रहा हो? इसका नकारात्मक उत्तर हो ही नहीं सकता दोस्तो! क्योंकि कितना ही स्वयंपूर्ण देश क्यों न हो--मुझे मालूम है, जनता और अच्छे भोजन, और बढ़िया कपड़े तथा बेहतर ज़िन्दगी की कल्पना करती ही है। पता नहीं, तुम जनता की आकांक्षाएँ समझते हो या नहीं? पर अगर समझना चाहो तो तुम्हें अपने ही देश में शांति के लिए तड़पती और बेहतर भविष्य के लिए सुदूर अनागत में झाँकती हुई ऐसी करोड़ों दृष्टियाँ मिल जाएँगी जिनमें मेरे प्रश्न का उत्तर लिखा होगा? तब तुम समझोगे कि जितना रुपया युद्ध की तैयारी में ख़र्च किया जा रहा है उतने से पूरी मानव-जाति का इतिहास बदला जा सकता है।

दोस्तो, भूल करना उतना बुरा नहीं है जितना बुरा भूल को पालना है। इसलिए कोशिश करो तो अब भी समझ सकते हो कि एक आदमी की क़ीमत कई विमानों की क़ीमत से ज्यादा होती है, कि किसी पोत का डूब जाना और किसी व्यक्ति का अकाल काल-कवलित हो जाना एक जैसा नहीं होता।

मगर तुम शायद इस सत्य को नहीं समझते। और तब तक समझोगे भी नहीं जब तक अस्तित्व के इस संकट को उसी स्तर पर न भोगो, जिस पर मैं भोगता हूँ या वह आदमी भोगता है जो सुबह से शाम तक काम करने के बाद 'इवनिंग न्यूज़' में,

युद्ध के मँडलाते बादलों और उनके कारण आसमान चूमती हुई क़ीमतों के बारे में पढ़ता है।

शासको ! एक क्षण के लिए कल्पना करो एक बच्चे की जिसे दूध नहीं मिलेगा, एक मरीज़ की जिसे फल नहीं मिलेंगे, एक औरत की, जिसे सुहाग नहीं मिलेगा। मैं तो कल्पना मात्र से सिहर उठता हूँ। पता नहीं, तुम्हें ये कल्पनाएँ क्यों नहीं झिंझोड़तीं ? तुम्हारे अन्तर में यह ज्वार-भाटा क्यों नहीं उठता ? तुमने तो मुझसे अधिक युद्ध देखे हैं न !

पिछले महायुद्ध की मुझे हल्की - सी याद है। हाँ, एक छोटा-सा युद्ध, जो अभी हमारी सीमाओं पर, अपनी साम्राज्यलिप्सा की पूर्त्ति के लिए चीन ने छेड़ दिया था, ज़ख्म की तरह मेरी स्मृति में ताज़ा है। मैं, जो सीमा से हज़ारों मील दूर था, अभी तक उसके अभिशाप से मुक्त नहीं हुआ। दिन-बदिन बढ़ती हुई क़ीमतें, बिखरते हुए मूल्य और उभरता हुआ संशय और चरमराकर टूटते हुए सपनों की मीनारें--सब कुछ ताज़ी लाशों की तरह मेरे सामने पड़ा है! और समूचा दृश्य तेज़ नुकीली कीलों की तरह मेरी आँखों और मेरे दिमाग़ में चुभ रहा है। मैं सोचता हूँ, तुम्हारे देशवासियों ने भी युद्ध देखा है--बल्कि भोगा है, फिर ये कैसे संभव कि उनमें ये भावनाएँ न उठती हों, वे इन प्रश्नों से न जूझते हों, और तुम तक उनकी आवाज़ें न पहुँचती हों ?

मगर हाँ, तुम लोग शासक हो। और राजनीति की भाषा सर्वसाधारण की भाषा से अलग होती है। इसीलिए संभव है, तुम उनकी बात नहीं समझते। संभव है, उनके प्रश्न तुम्हारे कानों से टकराकर लौट जाते हों। संभव है, तुम्हारा मर्म अनबिंधा और अनछुआ रह जाता हो। क्योंकि तुम मनुष्य ही नहीं हो, शासक भी हो। और प्रजा ने हमेशा शासक की भूलों का उत्तरदायित्व वहन किया है। प्रजा, प्रजा है। उसे क्या हक़ है कि वह तर्क-वितर्क करे, शासकीय मामलों में हस्तक्षेप करे और व्यक्ति-स्वातंत्र्य का नारा बुलंद करे! आखिर सारी ज़िम्मेदारी तो तुम शासकों पर है। अगर युद्ध छिड़ता भी है और थोड़ा-बहुत रक्तपात भी हो जाता है, तो इतिहास गवाह है कि देश के लिए हज़ारों-लाखों लोग हँसते-हँसते बलिदान हो जाते हैं।

....मगर आह ! कितना बड़ा कवच है यह शब्द--देश या देश-प्रेम। कितने शासकों ने इसके तले पनाह पाई है। मैं सोचता हूँ, अगर यह शब्द न होता तो जनता युद्ध सुलगाने वाले शासकों को जीवित जला डालती।

मगर दोस्तो ! तुम लोग पिछले शासकों से ज्यादा समझदार हो। क्योंकि तुम उस युग में जी रहे हो, जहाँ गति की सीमा और विनाश की पराकाष्ठा देखी जा सकती है। इसीलिए तुम इंसानी-ज़िंदगी का मूल्य पिछले शासकों से अधिक समझते हो। इसीलिए मुझे विश्वास है कि तुन भी समझोगे कि आज जो अरबों-खरबों रुपया युद्ध की तैयारी पर लगाया जा रहा है--उससे पूरी मानवता का भविष्य बदल सकता है। इति।

एक विश्वास के साथ--

सविनय

एक प्रजा

[पृष्ठ १२२ का शेष : प्यारे लिखूँ या प्रिय ?]

बात बताऊँ—इस शर्त पर कि तुम अभी इसे किसी बुज़ुर्ग साहित्यकार से कहकर उन्हें कष्ट नहीं पहुँचाओगे—मैंने अभी-अभी एक छोटा-सा उपन्यास पूरा किया है, और मुझे भय है [तुम चाहो तो भय की जगह ख़ुशी शब्द भी इस्तेमाल कर सकते हो] कि कहीं यह भी हमारे कुछ बुज़ुर्ग लेखकों के लिए लाल कपड़ा न साबित हो !

राही,

उक्त सतरें आज दो महीनों से लिखी रखी हैं। तुम्हारा पत्र पढ़ते ही मैंने तत्काल जवाब लिखना शुरू कर दिया था, और उक्त सतरें लिख डाली थीं, लेकिन इसके बाद इन पूरे दो महीनों में भी मैं इसे पूरा नहीं कर सका हूँ, कारण यह कि 'बावदौलत' इन दिनों बड़ी दयनीय स्थिति से गुज़र रहे हैं। हमें आजकल रातों को भी नींद नहीं आती, और अगर ज़रा देर को ये निगोड़ी आँखें लगती भी हैं तो सपनों में भी वही सब दिखाई देता है. . . .[नहीं, नहीं, प्यारे, कल्पना के घोड़े न दौड़ाओ, यह इश्क़-विश्क़ का चक्कर नहीं है !] . . . . मालूम, मैं आजकल सपनों में भी क्या देखता हूँ. . . . देखता हूँ सम्पादित और असम्पादित पाण्डुलिपियों के ढेर, इनमें किनके चित्र बन गये हैं और किनके अभी बनने बाक़ी हैं, जिनके बन गये हैं उनका ले-आउट कैसा जाना चाहिए, सम्पादकीय टिप्पणी क्या लिखी जाए, रचना के बीच में 'बाक्स मैटर' कौन-सा दूँ, और colour का ठीक-ठीक shade क्या हो. . . . आजकल, बन्धु, मेरी आँखों के आगे सोते और जागते समय छपे हुए और बिना छपे हुए फर्मों का ढेर नाचता रहता है; इसलिए प्यारे, इस समय तो अपने राम को तुम्हारे इस धर्म और भाषा और साहित्य और संस्कृति और राजनीति और हिन्दी-उर्दू और नयी-पुरानी पीढ़ी आदि से भी ज़्यादा अहम मसला यह मालूम दे रहा है कि अपना यह विशेषांक किस तरह अच्छे ढंग से और समय पर प्रकाशित हो जाए। लिहाज़ा तुम्हें यह अधूरा जवाब ही भेजे दे रहा हूँ।

लेकिन प्यारे, इसे तुम अपने पत्र की सिर्फ़ प्राप्ति-सूचना समझना। असली जवाब के लिए तुम्हें एक महीने [यानी अगले अंक तक] इन्तज़ार करना होगा।

तब तक के लिए, प्यार से,

तुम्हारा

श०

एक बहुत महत्वपूर्ण और विवादास्पद प्रश्न पर एक अधिकारी विद्वान के विचार—सम्पादक के नाम लिखे पत्र की विधा में।

प्रियवर,

मन्दिरों की प्राचीन मूर्त्तियों और आधुनिक शिल्प-कला में श्लीलता-अश्लीलता की समस्या को पत्र के रूप में प्रस्तुत कर पाना मेरी दृष्टि में सहज संभव नहीं, अतएव मैं 'ज्ञानोदय' के प्रणय-अंक (अक्तूबर, १९५८) में प्रकाशित अपने लेख को देख जाने की सलाह दूँगा। आप जैसे इस विषय के वास्तविक जिज्ञासु के लिए इतना कष्ट स्वीकार्य होगा। प्राचीन मंदिर-शिल्पियों द्वारा सैद्धांतिक आधार पर मिथुन-मूर्त्तियों, विशेषतः 'युगनद्ध' मुद्रा की मूर्त्तियों को, जो स्थान खजुराहो, भुवनेश्वर, पुरी और कोणार्क आदि के सुप्रसिद्ध मध्य-कालीन मंदिरों में प्रदान किया गया है वह अनेक प्रकार की व्याख्याओं के बाद भी समस्या ही बना हुआ है। प्रागैतिहासिक काल की कलाकृतियों में भी, जब मनुष्य आधुनिक अर्थ में सभ्यता का विकास नहीं कर सका था और प्रायः नग्न-देह वन्य-जीवन व्यतीत करता था, इस प्रकार का कामभाव, कुछ नगण्य-से अपवादों को छोड़कर, दृष्टिगत नहीं होता। जिस काल में तान्त्रिक गुह्य साधनाएँ, ज्ञान और योग की स्त्री-विरोधी निर्जीव-निस्वाद साधनाओं की प्रतिक्रिया में, भोग और योग को एक साथ सिद्ध करने की साहसिक सैद्धान्तिक स्थापना में व्यस्त थीं उसी काल में इस प्रकार के तथाकथित 'अश्लील' शिल्प का व्यापक समावेश हुआ और तान्त्रिक मत के क्षीण होते-होते उसका बहुत-कुछ लोप भी हो गया। अतएव यदि अन्य प्रकार की जटिलताओं में न उलझा जाय तो यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि सैद्धांतिक आधार इनकी व्याख्या में अत्यन्त प्रमुख है। बिना ऐसी मूर्त्तियों की वैचारिक पृष्ठभूमि को समझे उनके विषय में कोई मत दे देना अनुत्तरदायित्वपूर्ण और अनुचित होगा।

डॉ० जगदीश गुप्त

श्लीलता - अश्लीलता के परिप्रेक्ष्य में : मन्दिरों की प्राचीन मूर्त्तियाँ और आधुनिक शिल्पकला

ऐसी मूर्त्तियाँ उस काल में विनिर्मित हुई हैं जब भारतीय मूर्त्तिकला अपने विकास के एक चरम विन्दु पर पहुँच रही थी अतः इन मूर्त्तियों का कलात्मक आकर्षण स्वयं एक आवरण बन जाता है। इनकी नग्नता और अश्लीलता पर सजग कला-संस्कार से युक्त दर्शक की दृष्टि पहले पड़ती ही नहीं और जब तक पड़ती है, तब तक उसका मन सौन्दर्य के सजीव स्पर्श से इतना अभिभूत हो चुका होता है कि विकार और उत्तेजना का आवेग या तो उठता ही नहीं या उठने पर भी उस प्रभाव का अतिक्रमण नहीं कर पाता। जिन मूर्त्तियों में ऐसा शिल्प-वैभव नहीं होता वे केवल विषय-वस्तु का बाहरी एवं विकृत प्रभाव उत्पन्न करके रह जाती हैं। जिन लोगों ने कुछ वस्तुओं के चित्रण मात्र को अश्लीलता का पर्याय मान लिया है उन्हें वे यदि अश्लील लगती हों तो उनकी प्रतिक्रिया को अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य कहना होगा कि श्लीलता-अश्लीलता की वस्तुमूलक धारणा बहुत उथली और एकांगी है, इतनी कि कला के क्षेत्र में उसके आधार पर वितण्डा खड़ा करनेवालों की स्थिति रोगी जैसी चिन्त्य या पागल जैसी हास्यास्पद लगने लगती है।

इस प्रकार से सोचने वालों के लिए अच्छा होगा कि वे अपना मनोवैज्ञानिक परीक्षण करायें और समय मिले तो कम-से-कम कुछ ऐसे लेख पढ़ जायँ जैसे 'आलोचना' जनवरी'५६ के अंक की परिचर्या; या अश्लीलता की समस्या के सामाजिक विशेषज्ञ डॉ० नामवर सिंह की ज्ञानोदय के फरवरी '६२ के अंक में प्रकाशित उसकी प्रतिक्रिया अथवा डॉ० मोतीचन्द का 'कला में अश्लीलता का प्रश्न' शीर्षक 'आधार' के नवम्बर १९६२ के अंक में प्रकाशित लेख। उन्नीसवीं सदी की सुधारवादी कट्टरता पर व्यंग्य करते हुए वे लिखते हैं:

"कुछ सुधारक तो यहाँ तक आगे बढ़े कि महाकवि कालिदास को भी अश्लील मान बैठे। अगर उनका बस चलता तो वे खजुराहो और उड़ीसा के मन्दिरों को तोपदम करा कर ही दम लेते। वैष्णवों के आराध्य देव राधाकृष्ण भी इसी झपेटे में आ गये।" —**आधार, वर्ष ४, अंक ८, पृ० १३**

यहाँ तक अश्लीलता की चर्चा प्राचीन और मध्यकालीन कला के संदर्भ में हुई है। आधुनिक कला में भी ऐसे अनेक कलाकार और लेखक हैं जिन्होंने सीमाओं का अतिक्रमण किया है। यथार्थवाद और प्रकृत चित्रण के आग्रह से क्या कुछ नहीं लिखा गया। योरोपीय कलाकारों के लिए 'न्यूड पेंटिंग' करना एक नितान्त सहज और साधारण बात रही है और वहाँ के समाज ने कलाकारों पर कोई ऐसा प्रतिबन्ध भी नहीं लगाया कि वे अपनी 'मॉडलों' को सवस्त्र चित्रित करने पर विवश हों। गॉगें, वैन गॉग, तुलूज लान्त्रेक आदि की प्रकाशित जीवनियाँ उनकी कला और उनके जीवन-संघर्ष को जिस रूप में प्रस्तुत

करती हैं उससे लगता है कि योरोपीय वातावरण में यह समस्या नहीं थी कि कलाकार का सम्बन्ध 'मॉडल' बनने वाली तरुणियों से क्यों और कैसा था वरन् मूल वस्तु यह थी कि उसकी मानवीयता और कलागत क्षमता किस प्रकार और किन परिस्थितियों में प्रस्फुटित हुई। आज के सर्वत्र चर्चित्र दिवंगत कलाकार डॉ० वार्ड से सम्बद्ध 'स्कैण्डल' बन जाने वाले 'प्रोफ्यूमो-काण्ड' से भी यही प्रमाणित होता है कि योरोप जीवन को नग्न रूप में देखने का अभ्यस्त रहा है और वह उसको तभी आपत्तिजनक मानता है जब वह किन्हीं अन्य घातक परिणामों या कारणों से युक्त हो जाता है। यूनानी प्रतिमाओं से लेकर बीसवीं शती तक योरोप में नग्न-देह का अंकन कला में विहित माना गया और कुछ धार्मिक आपत्ति-कर्ताओं के अपवाद को छोड़कर समाज में उसे कभी अप्रतिष्ठा नहीं मिली। भले-बुरे का निर्णय कलात्मकता के आधार पर किया गया, इस आधार पर नहीं कि इसमें अमुक अंग या अमुक वस्तु का चित्रण है। आज अमूर्त कला ने सामने आकर ऐसी कृतियों की निर्माण-परम्परा का सूत्रपात किया है जिसमें मूर्त-रूप ही सर्वांश या अर्धांश में तिरोहित हो जाता है अतः उसके दायरे में अश्लीलता का प्रश्न ही नहीं उठता।

साहित्य के क्षेत्र में ऐसा अमूर्तन संभव नहीं है अतः उसके क्षेत्र में अवश्य यह समस्या उठायी जा सकती है। पर अब कोई समझदार आदमी एक सामान्य धारणा से आगे जाकर इस पर आग्रह नहीं करता क्योंकि उसके आगे ऐसे उदाहरण हैं, जिनसे अतिवादिता निरर्थक लगती है। 'लेडी चैटरलीज लवर' नामक औपन्यासिक कृति को एक देश में आपत्तिजनक घोषित किया गया, दूसरे देश में वह निरवरोध पठनीय मानी जाती है। 'लोलिता' के विषय में भी कोई अन्तिम 'वर्डिक्ट' नहीं दिया जा सका और थोड़ी-बहुत हाँ-हूँ करके उसे साहित्यिक कृति के रूप में खुले आम बिकने की सुविधा दे दी गयी। मैंने हाल ही में अलबर्टो मोराविया का एक उपन्यास 'दि एम्प्टी कैनवास' पढ़ा। काम-क्रिया की बारीकियाँ चित्रित करने के क्षेत्र में अद्वितीयता के अधिकारी फ्रांसीसी उपन्यासकार भी उसके आगे पानी भरते-से प्रतीत हुए, परन्तु मैं यह कहूँगा कि मनोविज्ञान की गहरी पकड़ ने सारी सीमाओं के अतिक्रमण के बाद भी उपन्यास को कला-कृति के पद से वंचित होने नहीं दिया। इस प्रकार के जीवन के चित्रण की सार्थकता पर, कोई चाहे तो, प्रश्न-चिह्न अंकित कर सकता है परन्तु कृति की कलात्मकता असंदिग्ध है। जैसे बहुत-से रीतिकालीन नायिकाभेद-परक चित्रण रसात्मकता की स्थिति के कारण अन्ततः ग्राह्य हुए उसी प्रकार ऐसे उपन्यास भी त्याज्य नहीं घोषित किये जा सकते; यह दूसरी बात है कि उनके पढ़ने वालों से आप अधिक उत्तरदायी होने की आशा करें या अनुत्तरदायी हाथों में उन्हें न जाने दें। इस 'इंडस्ट्रियल एज' में ऐसा भी अब कहाँ संभव है। इसलिए मैं यही

कहना चाहूँगा कि जीवन के सत्य में अशिव देखना सही दृष्टि नहीं है, यदि उसमें सौन्दर्य की भी स्थिति हो। मैं यहाँ सत्य-शिव-सौन्दर्य की प्रचलित एकता को अनचाहे ही समर्थित करता हुआ लग रहा हूँ, पर मेरा संकेत जिस रूप में उनके तात्विक स्थिति के प्रति है, उसी रूप में यदि वह ग्रहण किया जाय तो उचित होगा। सौन्दर्य में मैं वह शक्ति स्वयं अंतर्निहित मानता हूँ जो कलाकृति को वस्तु के स्तर से ऊपर उठाकर सजीव मानसिक सम्पृक्ति प्रदान करती है और उसके वस्तुगत विकारों का उपशमन भी करती है। सच्चा कलाकार मनोभावों के किसी भी रूप को चित्रित करने से डरता या कतराता नहीं है, वह उसे अपनी अनुभूति और अभिव्यंजना-शक्ति एवं सुरुचि के अनुसार सौन्दर्य की दिशा में रूपान्तरित (ट्रान्सफार्म) करता है। सारा सत्य चाहे शिव सिद्ध न हो, पर सारा सौंदर्य अवश्य शिवत्व से युक्त होता है ऐसा मैं एक कलाकार के नाते दृढ़तापूर्वक कहता हूँ।

जिस रूप में और जिस सन्दर्भ में यहाँ यह बातें लिख रहा हूँ उसमें इससे अधिक कुछ कहने की गुंजाइश नहीं है। अतएव 'इत्यलम्' शब्द के साथ समाप्त करता हूँ।

एक बात मानें, अगर खजुराहो, कोणार्क आदि के मंदिर न देखे हों तो व्यर्थ की बहस में न पड़कर पहले एक बार देख अवश्य आयें।

भवदीय

जगदीश गुप्त

डॉ० प्रभाकर माचवे के नाम लिखा श्री बनारसीदास चतुर्वेदी का एक पत्र :

फीरोजाबाद
(Agra)

प्रिय माचवे जी,

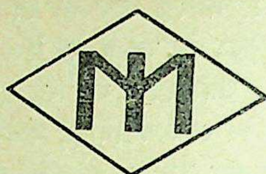
मैं स्वास्थ्य लाभ करने के लिये घर आया हुआ हूँ। दिल्ली के व्यस्त जीवन के कारण मैं निगम बोध घाट की यात्रा करने की जल्दी में नहीं हूँ, वैसे यहाँ भी जमना जी ३ मील की ही दूरी पर हैं। पर आप जानते ही हैं कि यमराज हमारे मामा हैं—जमना मैया के भैया।—इसलिए अपने भानजों पर कुछ तो महरबानी करेंगे ही! और आप जैसे सहृदय व्यक्तियों की सद्भावना तो सदैव रहेगी ही। मेरी रूस की यात्रा आपको कैसी रुची?

हिन्दी जगत का नेतृत्व जिन हाथों में चला गया है, उनसे साहित्य-अकादमी बची रहे, यही कामना है।

'सुमन जी' की पुस्तक के कारण मुझे 'बेहूदा' की उपाधि हिन्दी टाइम्स ने दी थी!

विनीत

बनारसीदास



धनंजय वर्मा

●

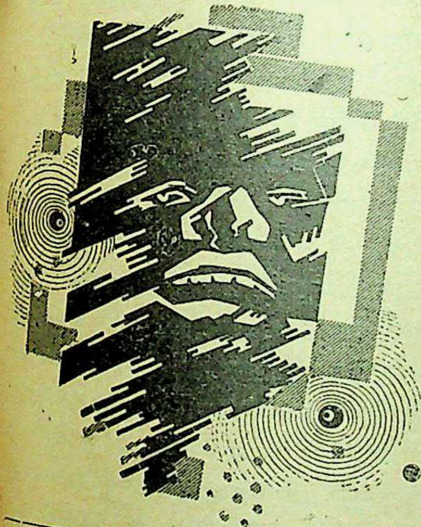
मौत इस सृष्टि का शायद सबसे डरावना शब्द है ! जब यही शब्द साकार रूप धरकर अपने भारी और भयावने पगों की धप-धप आवाज़ के साथ आपकी ओर बढ़ा आ रहा हो, और विशेष बात यह कि उसके क्रमशः इंच-इंच निकट होते क़दमों का आपको पूर्ण अहसास भी हो.... उस समय आपकी क्या स्थिति होगी.... आपकी देह और आपकी आत्मा किन अबूझ, अनजान और अँधेरी घाटियों से गुज़र रही होगी––इसका एक जीवन्त शब्द-चित्र।

●

प्रिय विनय,

सूनी घाटियों में गूँजती-भटकती अपनी ही आवाज़ की प्रतिध्वनि सुनने का कभी बेहद मन करता है, लेकिन जब यही घाटियाँ सिमटकर काली-काली भयावह दीवारों में बदल जाती हैं और आवाज़ों की अनुगूँज उसी सीमित दायरे से टकरा-टकराकर लौट आती हुई भरने लगती है––तब की-सी स्थिति से मैं यह अंतिम पत्र तुम्हें लिख रहा हूँ।

मैं नहीं जानता कि इसके बाद आवाज़ की कोई भटकन तुम तक पहुँचेगी या नहीं, लेकिन निकट आती हुई मौत की पीड़ा, उसके घिरते आते साये जैसी अनुभूति की सिहरन जगाते हैं, उसे मैं तुमसे बँटाना चाहता हूँ। जीवन में कुछ अनुभूतियाँ बड़ी क़ीमती होती हैं––इतनी कि आदमी मरकर भी उन्हें पाना चाहे तो नहीं पा सकता। तुम्हें याद होगा––वह दिन जब अपने प्यारे दोस्त की पत्नी जलकर तिल-तिल चुक रही थी; अस्पताल के वार्ड में पड़ी-पड़ी उसकी स्थिति में मैंने सोचा था––काश, यह अनुभूति मैं कर पाता ! कैसा लगेगा यदि मैं एक उबलते कड़ाह में छोड़ दिया जाऊँ या समाप्त कर देने वाली ऊँचाई से गिर रहा होऊँ या फाँसी के तख्ते पर खड़ा अंतिम आदेश का इंतज़ार कर रहा होऊँ या कोई बेहद तेज़ ज़हर खाऊँ और पल-पल समाप्त होता चलूँ। एक शाश्वत रात उतरे और मुझे समेट ले, एक अन-अस्तित्व की शून्य-



मौत की देहरी से

रिक्त स्थिति आए जिसमें सारी चेतना खो जाए या एक आदमी अपनी ही लाश अपने सामने रखी हुई देखे और तब उस चुप्पी और ख़ामोशी को महसूस करे जो किसी भी प्रयत्न से भंग न हो। एक ऐसा रहस्यमय पर्दा उठे और सृष्टि से अबतक अननुभूत को उजागर कर दे। तब चाहे उसके लिए कोई भी क़ुर्बानी क्यों न देनी पड़े, चाहे सर्पों से भरी अँधेरी गुफाओं में ही क्यों न भटकना पड़े, किसी की हत्या ही क्यों न करना पड़ लेकिन यदि किन्हीं दो प्राणों की आहुति से एसी अनुभूति मिलती है तो तुम्हीं सोचो कि वह फिर भी कितनी सस्ती है ?....जब यह लगे कि यह ज़िन्दगी कितनी 'एब्सर्ड' है और सतह पर उतरानेवाले कार्क से अधिक उसका कोई महत्त्व न हो! इस निरर्थक और हास्यास्पद स्थिति की अनुभूतियाँ तो हम जीवन भर करते ही रहते हैं; शायद मृत्यु के भय की सिहरन भी हम कई बार महसूस कर ही लेते हैं; लेकिन मैं तो उस बोध की बात कर रहा हूँ जो मौत की 'वर्तमान-ता' में जागता है और ऐसा बोध जो आशंकाओं या सम्भावनाओं से जागता है--बोध नहीं होता। वह एक निरर्थक कम्प है और उसकी कल्पना है जो उस क्षण 'एग्ज़िस्ट' नहीं करती। वह कायर और बेईमान संवेदना है जो किसी की--या प्रकारान्तर से अपनी ही--मौत के भय से जागती है।

मैं यह दावा तो नहीं करता कि वह मृत्यु-बोध मैंने प्राप्त कर लिया है लेकिन यह उससे पृथक् है जिसे हम जीवन रहते पाते हैं--जो केवल जीवन की दुहराई जानेवाली ऋचाओं का अन्तिम 'फेडिंग-आउट' स्वर होता है क्योंकि तब हमारे अस्तित्व का केवल एक ही भाग मौत की इस नारकीय यन्त्रणा वाले समुद्र में डूबा होता है और शेष उससे अछूता--और इस निश्चय के साथ कि इस अन्तिम अवरोध के बाद शायद फिर से एक आरोह की स्थिति आने को हो और यह विश्वास कितना मिथ्या है कि वह आदिम चेतना हमें फिर से प्राप्त हो सकती है। वह इस सत्य से--कि हर वस्तु एक असत्य के भ्रम में उलझी हुई है और मौत इस एकाकी अस्तित्व को सदैव के लिए समाप्त कर देती है--दूर है। बोध और अनुभूति तो वह जिसे सम्पूर्ण चेतना डूबकर पाती है, जब उसका एक भी पोर अछूता न रहे; एक-एक रेशा उसका भींग जाय!

●

ज्योंही मैं इस वर्गाकार स्याह कमरे के अन्दर आया, मुझे लगा कि मैं एक ऐसी देहरी पर पैर रख रहा हूँ, जहाँ से चिर यातना और चिरन्तन पीड़ा का घनीभूत अन्धलोक शुरू होता है, जहाँ पहुँचकर मैं सदा के लिए अभिशप्त हो जाऊँगा और कुछ ही घंटों बाद मेरे अतीत का एक भी रेशा शेष न रहेगा, जबकि मैं लौटकर उल्टा कोई भी क़दम न उठा पाऊँगा और जीवन की वे ऋचाएँ कभी भी न दुहराई जा सकेंगी। जहाँ के आकाश पर कोलतार पुता होगा और हवा भय, कराह और पश्चात्ताप की चीखें लिये पागलों-सी सिर धुनती होगी...और एकबारगी ही मैं भय से थरथरा गया। जब यह निश्चय हो गया था कि अपने सारे अतीत-व्यतीत के लिए मुझे यही क़ीमत चुकानी है, तब सचमुच मैं ख़ूब मुक्त होकर हँसा था, कि चलो इस अन्तिम सत्य की अनुभूति मैं ही कर पाऊँगा। इस क्षण वह मुझे निरा दम्भ ही लग रहा है और अब तो सचमुच ही मैं समाप्त हो जाऊँगा।

मैंने अपना माथा झुका लिया, जैसे मेरी गर्दन पर गँडासे का भरपूर प्रहार हुआ हो और मैं फिर कभी सिर उठाकर इस 'सुनहरी' दुनिया को न देख सकूँगा । जरूर मेरा चेहरा सफेद हो गया है और यदि कोई मेरी आँखों को देखे तो उनमें आदिम और शाश्वत घृणा का गहरा रंग पा सकेगा । जैसे मेरी गर्दन पर एक वृत्ताकार आग का घेरा है और वह इतने धीरे सिमट रहा है कि मैं उसकी हर सिकुड़न का कँपाव महसूस कर रहा हूँ और मेरा सारा शरीर सुन्न और जड़ होकर लटक गया है । मैंने अपने दाँत अपनी हथेली में गड़ा दिए हैं और उनकी पकड़ उतनी ही तेज़ और सख्त है, जितना कि मौत के वक़्त दाँत का भींचना; लेकिन मुझे कोई भी दर्द, कोई भी पीड़ा नहीं छूती । मुझे अपना शरीर ही दूसरों का लग रहा है और मैं इस आश्चर्य से लगभग डर ही गया हूँ कि इतने अधिक कसाव और खून के बाद भी कोई क्यों नहीं चीखता...क्यों नहीं कराहता ! शायद शरीर के साथ ही हर संवेदन और सिहरन भी जड़ हो गई है । चेतना का हर स्तर आज सुन्न पड़ गया है ।

शाम के पश्चिमी आकाश में विस्तृत काले बादल घिर आए हैं और अचेतना की लम्बी नींद कभी-कभी ही दुःस्वप्न-सी चेतना के द्वारा क्षण के हज़ारवें अंश के लिए भंग होती है, लेकिन उतने में ही सारी इन्द्रियों से अँधेरे के प्रकाश का एक वृत्त दिखता है, जिसमें अपना ऐंठा हुआ शरीर, पैर का यह पुराना घाव, कमरे की चारों दीवारें, कोने में बिछा टाट, फ़र्श के पुराने गढ़े...और अपने ही शरीर की सड़ाँध की झुरझुरी आती है। बाहर-भीतर का कोई भी स्वर, मीलों से आती हुई आवाज़ों की तरह ही मन्द और अस्पष्ट होता है । लगता है, एक सीमा-रेखा की निषेधात्मक स्थिति पर खड़ा हुआ मैं पूरी तरह न तो इधर की दुनिया में हूँ और न ही उधर की दुनिया का हो पाया हूँ । पहली, छूटी हुई ट्रेन की तरह पीछे रह गई है और दूसरी पर गहरे बादलों का घना अँधेरा है जो निरन्तर घनीभूत होता जा रहा है और दोनों की आवाज़ें एक-दूसरे को आपस में काटती हुई 'ओव्हर लैप' कर रही हैं । फिर एक बर्बर, पैशाचिक और नारकीय पीड़ा की ऐंठन से सब पर एक गहरा काला पर्दा पड़ जाता है ।....

कमरे में बेहद गर्मी है । मेरे पुराने अस्तित्व के एकाकी साथी मेरी कमीज़ और पतलून पसीने से भींग गए हैं, लेकिन मुझे जो झुरझुरी आई है उससे मेरा रोम-रोम काँप गया है--जैसे अचानक बर्फ़ीली क़ब्र में मैं लिटा दिया गया होऊँ । अँधेरे और सर्दी की सिल धीरे-धीरे छत पर से सरकती हुई उतर रही है और सर से पाँव तक मैं उसके भार से दबा हुआ हाथ-पाँव छटपटाता चीखने को मुँह खोलता हूँ लेकिन आवाज़ नहीं निकलती, गले में फँसकर घरघरा जाती है । यदि वे रक्तहीन मांसपेशियाँ घृणा का अनुभव कर विद्रोह कर सकतीं, तो एक-ब-एक अरअराकर टूट जातीं । यदि किसी कल की कल्पना की जा सकती तो अभी भी मैं अपने पुराने अनगिनत पापों की याद कर सकता था लेकिन इस स्थिति में तो मैं बिलकुल 'अजनबी' हूँ और अपने पापों से उतना दूर, पृथक् और असम्पृक्त हूँ जितना कि तुम सब लोग आदिम मनुष्य से । और ऐसा कोई 'मिरेकल' अब नहीं हो सकता कि आज का

समय कल में बदल जाय और शायद कुछ नहीं, 'मिरेकल' ही होगा लेकिन मैं उसे देख नहीं पाऊँगा। मृत्यु निश्चित है और स्वयं मृत्यु क्या एक बड़ा 'मिरेकल' नहीं है? मैं अपनी सारी शक्ति, संवेदना और अनुभूति से जीवन से अचानक कट गया हूँ और अपने सामने की दीवार पर देखता हुआ भी जैसे कुछ नहीं देख पा रहा हूँ। मेरे कान सुन रहे हैं लेकिन मैं नहीं सुन पा रहा हूँ। मैं साँस भी ले रहा हूँ लेकिन ज़िन्दा नहीं हूँ। मैं स्थान और समय से विच्छिन्न हो गया हूँ। ये आयाम अब मेरे लिए नहीं हैं। अब और तब का क्रम मेरे लिए शेष नहीं रह गया है, वे तो 'सेमलटेनियस' हैं और बल्कि यह भी नहीं है। पाप और पश्चाताप की किसी विभाजक रेखा की ही तरह यह स्थिति केवल शून्य की, एक 'नथिंगनेस' की है।

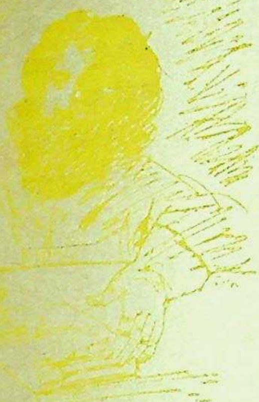
बाहर पत्थरों की फ़र्श पर संतरी के बूटों की आवाज़ गूँज रही है लेकिन लगता है, वे भारी-भारी पैर मेरे ही सर पर घूम रहे हैं और खोखले दिमाग़ की खाली दीवारों से उसकी आवाज़ टकरा-टकराकर गूँज रही है। मैं नहीं कह सकता कि मैं जाग रहा हूँ या सोते-सोते सपना देख रहा हूँ लेकिन यदि मैं सपना भी देख रहा हूँ तो वह नितान्त मेरा ही है जिसमें पुराने सामान्य सपनों की-सी कोई बात नहीं है। इन भयानक सपनों से न तो मेरी धड़कन ही तेज होती है, न सिहरन; न मैं भय से चीख सकता हूँ और न ही इससे मेरी नींद भंग होती है। हालाँकि मेरी आँखों से आँसू बह-बहकर सूखने लगे हैं लेकिन मैं ज़रा भी नहीं रो रहा हूँ। यह तो केवल ज़िन्दा रहते ही हो सकता है.... कि कुछ 'हों' और वह साथ ही साथ 'रहें' भी। हाँ, मेरा पेट ज़रूर पत्थर हो गया है, हृदय ठिठुर कर सूख गया है, शरीर ऐंठकर विकृत होता जा रहा है और मस्तिष्क खोखला होकर चिटख रहा है, और मैं अपने आगे, सारे शरीर और इन्द्रियों पर अदृश्य दैत्यों का निरन्तर नृत्य महसूस कर रहा हूँ।

मौत अब बहुत दूर नहीं है, बल्कि चाहूँ तो हाथ पसारकर उसे छू सकता हूँ और न भी चाहूँ तो क्षण-दो क्षण में स्वयं वह लहर के एक आवर्त्त से सम्पूर्ण मुझे, अपने में समो लेगी। कमरे में बन्द गौरैया की तरह निरन्तर पंख फड़फड़ाती और शोर करती हुई मेरी आत्मा अब तो किसी भी द्वार या झरोखे के खुलने की व्यग्र प्रतीक्षा में है और हर दरवाज़े से जा टकराती है, दीवारों से सिर धुनती और रौशनदानों से भिड़ जाती है। लेकिन मेरे चाहने और न चाहने से कुछ भी नहीं होता अब--बात इससे आगे जा पहुँची है--अब तो मेरे पैर मृत्यु की नदी के जल में डूबे हैं और पानी बढ़ता चला आ रहा है। मेरे सर पर निरन्तर मृत्यु की हिम-वर्षा के ओले पड़ रहे हैं और शीत हवा का दुःसह बहाव मुझे कँपा-कँपा जाता है।

अब तो मेरा दम ही घुटने लगा है। ऐसा न हो कि सबेरे वे मुझे न पाकर मेरी ऐंठी हुई लाश को देखें। स्वयं मेरे शरीर से एक भीषण दुर्गन्ध निकल रही है और मुझे लगता है कि यह इस कमरे से, वातावरण से, सारी दुनिया से उठ रही है। मैं कराहता हूँ पर लगता है, वह क़ब्र में से निकल रही आवाज़ है। लेकिन अब मैं अपने सारे अतीत को दुहरा सकने की स्थिति में आ गया हूँ। क्या यह मौत की अन्तिम स्थिति नहीं है....पर मैं अपने अतीत को दुहराऊँगा नहीं।

ऐसा करके मैं अपनी मौत को तनिक देर के लिए ही सही, झुठलाऊँगा नहीं। मौत के अंधकार में मेरी याद इतनी दूर जा भी नहीं सकती। सम्पूर्ण 'मैं' एक अनन्त विस्मृति की गुफा में चला गया हूँ और अब कोई भी स्मृति की किरण शेष नहीं है। मेरे आगे यह धधकती लौ की तरह भविष्य ही स्पष्ट और उज्ज्वल होकर चमक रहा है। लेकिन वर्त्तमान--यह बीतता जा रहा क्षण कितना दुर्वह है कि मैं इसे ही नहीं जानता। यही मेरे लिए रहस्य है। जरूर यह मेरे प्रायश्चित की घड़ी है लेकिन मुझे तो कुछ भी याद नहीं आता जिसके लिए मुझे पश्चाताप या 'कन्फेश' करना पड़े। इस दुर्निवार वर्त्तमान ने मुझे जकड़ रखा है और अब यही एकमात्र सत्य है। क्या यह कभी ग़ायब हो सकता है? नहीं, इस शून्यता को झुठलाने की शक्ति मुझमें नहीं है और मैं अतीत की खोखली स्मृतियों का आह्वान नहीं कर सकता। मैं पेट के बल रेंगता हुआ सीखचों की ओर बढ़ रहा हूँ, क्योंकि अब मेरे पैर और मेरी रीढ़ की हड्डी जवाब दे चुकी है। एक झिलमिलाते अँधेरे की धुँधली-स्याह ज्योति में, पैशाचिक निजस्वता और क़ब्र की-सी निर्जंतुकता में मैं आँखें फाड़-फाड़कर देख रहा हूँ कि सारे वातावरण में मानवी-कंकालों की कतारें हलचल कर रही हैं।--वे एक-दूसरे से टकराते हैं, चीखते-चिल्लाते और आलिंगन करते हैं। मैं उन्हें आपस में प्रेम और घृणा करते और आनन्द में मुँह खोलकर हँसते और नाचते देख रहा हूँ। मैं नहीं कह सकता कि एक मरणासन्न व्यक्ति की आँखों में कंकालों का यह दृश्य किसलिए उभरा है लेकिन इससे भयानक चीज़ और क्या हो सकती है कि सारी दुनिया इन कंकालों से भरी हो और सूखी-सुफ़ेद हड्डियाँ चलें-फिरें, बोलें-बतियावें! क्या सब कुछ इसी तरह क़ब्रों और श्मशानों में नाचते कंकालों की तरह ही नहीं हो रहा है? केवल एक दुर्निवार समय का पर्दा पड़ा है। मृत्यु की दूरी तक के समय का पर्दा--वह चाहे कितने ही वर्षों का क्यों न हो, जितने वर्षों का कोई जीवन होता है--लेकिन समय की भागती गति में इन इतने लम्बे वर्षों का भी क्या महत्त्व, क्या गिनती? वह सब आइने पर जमी नमी और रात में लगी नींद की ही तरह सूख और भंग हो जाने जैसा है। और सारी दुनिया एक बड़े श्मशान की तरह भयावह है जहाँ क़ब्रों की लम्बी-लम्बी कतारें क्षितिज तक चली गई हैं। लोग इनमें से उठते हैं और कुछ समय तक हलचल करते, खाते-पीते, प्रेम-घृणा करते हैं और फिर इन्हीं में आकर लेट जाते हैं। तुम मुझे क्षमा करना--मृत्यु की देहरी से जीवन के दुःस्वप्न की इस अनधिकृत कल्पना के लिए; पर यह आकस्मिक और अस्वाभाविक नहीं है--कम-से-कम मेरे लिए; और शायद इसीलिए कुछ क्षणों के लिए वह मेरे सामने इतनी तेज़ी और प्रखरता से गुज़र गया है कि अपनी मौत की अन्तिम स्मृति के रूप में इसे तुम तक पहुँचाने में कोई हर्ज़ नहीं है और क्या अतीत, वर्त्तमान और भविष्य की 'सेमलटेनियस'-चेतना का यही परिणाम नहीं होगा? क्या यह एकमात्र सत्य की अस्पष्ट मँडराती, धुँधली छाया नहीं है?

मैं अपने सारे बदन को अकड़ता हुआ महसूस कर रहा हूँ और अब मेरे मुँह से सुफ़ेद-फेन भी बह निकला है....। **तुम्हारा–धनंजय** ●



नम्बर १३६५ के नाम एक पत्र

मार्क ट्वेन

●

मार्क ट्वेन की सर्वतोमुखी प्रतिभा से सभी साहित्य - प्रेमी परिचित हैं। 'टॉम सॉयर', 'हकिलबेरीफ़िन' एवं 'मिसिसिपी के मैदानों में' संसार - प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। निम्नलिखित पत्र ट्वेन ने ५२ वर्ष की अवस्था में लिखा था, जब उनका यश शिखर पर था। किसी नाटक-कम्पनी के संचालक ने 'टॉम सॉयर' का नाट्य रूपान्तर किया और मार्क ट्वेन से उसे खेलने की अनुमति चाही ताकि घोषणा की जा सके। साथ ही उन संचालक महोदय ने उन्हें उस नाटक का एक निःशुल्क प्रवेश-टिकट भी देने की कृपा की। इस पर मार्क ट्वेन का उत्तर देखिये :

●

हार्टफोर्ड
८ सितम्बर, १८८७

प्रिय महोदय,
आखिर बात आप तक भी आ ही पहुँची और आपने भी 'दुस्साहस' कर ही डाला। जी, आप १३६५वें हैं। जब तेरह सौ चौंसठ आपसे बेहतर और प्रियतर व्यक्तियों ने, जिनमें लेखकों की भी गणना है, टॉम सॉयर को नाट्य रूप देने की कोशिश की और असफल रहे तब आप जनाब स्वयं को क्या समझते हैं—कोई करिश्मा कर दिखायेंगे क्या? महाशय जी, यह पुस्तक अभिनय के योग्य नहीं है। यूं तो किसी भी छोटे-से गीत का नाटक बना लीजिये। टॉम सॉयर तो एक नन्हा-सा पवित्र गीत है जिसे व्यवहारिक बनाने के हेतु गद्य का स्वरूप दे दिया गया है।

अपने पत्र के तीसरे वाक्य में आपने एक संशय प्रकट किया है, सो घबराइये मत, आपकी चीज़ पवन-गति से चलेगी। प्रथम रात्रि को ही वह नाट्यशाला के पार्श्वद्वार से हवा हो जायेगी। पिछले १३६४ के साथ ठीक यही हुआ और १३६५ वें के साथ भी यही अवश्यंभावी है। इन सबमें से किसी को भी सत्यानाश का क्या कोई और सरल उपाय नहीं सूझा? इससे तो सीधे चूल्हे में जाकर सिर दे देना अधिक आसान था। आह! तनिक-सी दूरदर्शिता से काम लेते तो इस द्राविड़ी प्राणायाम के कष्ट से मुक्ति पा जाते। भविष्य में मेरे इस मंत्र को याद रखियेगा।

'टॉम सॉयर' के क्रियाकर्म में आपने मुझे निमंत्रित किया, धन्यवाद। हज़ारों ऐसे क्रियाकर्म मैंने देखे हैं। यहाँ की विभिन्न नाट्य-संस्थाओं में मैं टॉम-सॉयर के अवशेष देख चुका हूँ। आप चाहें भी तो कोई परिवर्तन नहीं ला सकते। आपने मुझे समस्त व्यय देने का निश्चय किया है; आशा है, आपने इस बात पर भली प्रकार सोच-विचार लिया होगा। ऐसी निष्काम यात्राओं पर मेरी फ़ीस सौ डॉलर प्रति मील है। आपने यह भी सोच लिया होगा कि यहाँ से सस्क्वाहना ४३२ मील है, क्या आपको सुविधाजनक होगा कि आप मुझे पहले ही ४३२००० डॉलर भिजवा दें ताकि मैं उन्हें रास्ते भर गिनता आऊँ–रेल की यात्रा एक संवेदनशील आत्मा के लिए बड़ी उबाऊ चीज़ होती है।

जैसा कि मुझे ज्ञात हुआ, मेरे प्रिय एवं महान १३६५वें जनाब,आप मेरे टॉम सॉयर को नाट्यरूपी नवनिर्माण दे रहे हैं और प्रकट रूप में मुझे अपनी इस संदिग्ध संतान का पिता बनाने का अनचाहा आदर दे रहे हैं। तो श्रीमान्, क्या आप जानते हैं कि इस प्रकार के आदर की अतिसीमा किस तरह और कैसे किसी को नष्ट कर चुकी है? तो सुनिए एक भुक्तभोगी से :

"चौबीस वर्ष पूर्व मैं एक अत्यन्त सुन्दर युवक था और उस सौंदर्य के अवशेष समय के थपेड़ों के पश्चात् भी आज तक वर्तमान हैं। मैं इतना ख़ूबसूरत था कि मुझ पर दृष्टि पड़ते ही सारी मानवीय गति में यति आ जाती थी। यहाँ तक कि प्राणहीन वस्तुएँ भी मोहविष्ट होकर रुक जाती थीं –– एंजिन और ज़िले की पत्रवाहक गाड़ियाँ आदि तक। सैन-फ्रैंसिस्को में तो वर्षाकाल में लोग मुझे सुहावने मौसम का प्रतीक मानते थे। एक बार मैं सोनोरा प्रदेश की यात्रा कर रहा था। बीच में स्वयं को और घोड़े को विश्राम देने के लिए मैं एक घंटा रुका, बस, सारा शहर मुझे देखने के लिए उमड़ पड़ा और एक सुन्दर युवती ने अपने नन्हें बच्चे का नाम 'मार्क' रख दिया। मुझे इस अभिनन्दन ने अभिभूत-सा कर दिया।

और भी कई क़िस्म की प्रशंसाएँ मुझ पर व्यय की जाती थीं। सोनोरा

यूनिवर्सिटी के प्रेसीडेंट ने मुझे 'नैतिक-संस्कृति एवं सैद्धांतिक मानवता' के प्रोफेसर होने का सम्मान दिया जिसे मैंने आभारपूर्वक स्वीकारा और अपना कर्तव्य-पालन प्रारम्भ किया। यह सम्मान भी अधिक दिनों नहीं चला क्योंकि इंडियनों को मेरा नाम इतना अधिक पसन्द आया कि वे मेरे प्रति अपूर्व सद्भाव प्रदर्शित करने की चेष्टा में अपने बच्चों के नाम 'मार्क ट्वेन' ही रखते गये। मैंने उन्हें रोकने का प्रयत्न किया किन्तु उन भोले जीवों की समझ में नहीं आया कि मैं उस महान आदर को क्यों ठुकराने की चेष्टा कर रहा हूँ। यह चीज़ इतनी बढ़ गई और इतने बच्चे मेरे हमनाम हो गये कि मुझे एक विचित्र तरह की झेंप-सी लगने लगी। यूनिवर्सिटी कुछ वर्ष तक तो सहन करती रही किन्तु कालेज की सुविधा के लिए उन्हें इस पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा, यद्यपि समस्त शिक्षण-संस्था की सहानुभूति मेरे पक्ष में थी। स्वयं प्रेसीडेंट साहब ने मुझसे कहा, "मुझे बहुत दुःख है, यदि मुझे कहीं भी आशा दिखती तो मैं आपका ही पक्ष लेता, किन्तु आप ही देखिये, १३२ मार्क ट्वेन कालेज में हैं और १४ मार्क ट्वेनों के आवेदन-पत्र आ चुके हैं। परिस्थितियों ने आपके नाम को ऐसा विचित्र प्रसार एवं यश दिया है, और इस पर काफ़ी टीका-टिप्पणी होती है—यह कहना भी अत्योक्ति नहीं है। इन आलोचनाओं में कुछ तो सहानुभूतिपूर्ण हैं किन्तु कुछ कटु भी। कुछ सत्य से अनजान व्यक्ति, जिन्हें पूरी कथा तो मालूम नहीं, बस आँकड़े भर ज्ञात हैं, क्रूर भाव से आपकी आलोचना करते हैं। ९ छात्र कालेज छोड़कर चले गये हैं। पिछले कुछ महीनों से कालेज के प्रबन्धक आपके नाम की प्रसिद्धि के मारे अधिक परेशान होते जा रहे हैं और मैं आपसे नहीं छुपाऊँगा कि कई बार आपका पद किसी अन्य को देने का भी संकेत कर चुके हैं। कल के 'अल्टा' (एक पत्रिका) में निर्मम संपादकीय व्यंग्य पढ़ने के बाद—जिसका शीर्षक था 'नैतिक जादूगर, कुछ विश्राम भी तो लो'—आपकी कहानी चरम-बिन्दु पर पहुँच गई। परिणामस्वरूप, मुझे आपका त्यागपत्र स्वीकार करने का कटु कर्तव्य निभाना पड़ रहा है।"

प्रिय १३६५वें श्रीमान्‌जी, मुझे पता है कि आप मेरे साथ पूरा सद्भाव रखते हैं किन्तु जैसा कि आपने उपरोक्त घटना पढ़कर जाना होगा इससे बढ़कर और कोई ग़लती नहीं होगी। कृपया अपने नाटक को मेरा 'नामराशि' न बनाइयेगा।

विनीत आपका,
मार्क ट्वेन

यह पत्र मार्क ट्वेन ने लिखा अवश्य पर वह पोस्ट नहीं किया गया। इसके बजाय उन्होंने ८ सितम्बर १८८७ में न्यूयार्क से नाट्य-संस्था के उसी मैनेजर को यह पत्र भेजा :

प्रिय महोदय,

यह सत्य है कि मैं आपके ऐसे विचित्र प्रस्ताव का अनुमोदन नहीं कर सकता और मैं समझता हूँ कि आपको पहले ही से सूचित करना उचित होगा कि यदि यह नाटक आपने प्रदर्शित किया तो मुझे क़ानूनी कार्यवाही करनी पड़ेगी।

भवदीय,
एस. एल. क्लीमेंस

तेरह वर्ष पश्चात् श्री कैस्टर ने 'टॉम सॉयर' का नाट्य-रूप प्रस्तुत करने की अनुमति चाही तो उन्हें लेखक से निम्न उत्तर मिला :

मैं 'टॉम सॉयर' को अभिनीत देखना पसंद करूँगा। मेरे अनुमोदन के लिए आपको नाटक की प्रतिलिपि भिजवाने की भी आवश्यकता नहीं है.... आप पुस्तक को जैसे चाहें उलट-पुलटकर सकते हैं। आपकी इच्छा हो तो आप पात्र, घटनाएँ, नैतिक या अनैतिक सन्दर्भ अथवा और कुछ भी मनचाहा जोड़ सकते हैं। मेरा साहित्यिक दर्प भिड़ चुका है और जो कुछ भी मैंने लिखा वह अब मेरे लिए पवित्र नहीं है। एस० एल० क्लीमेंस

[प्रतिभा द्वारा अनूदित]

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के नाम लिखा आचार्य शिवपूजन सहाय का एक पत्र

मान्यवर,

सादर प्रणाम।



[जन्मभूमि की रक्षा के लिए हिमालय की उपत्यका पर बलिदान हुए एक भारतीय योद्धा की रक्तस्नात वर्दी की जेब से निकाला हुआ एक पत्र, जिसे थोड़े दिन पूर्व ही उसकी वीर पत्नी ने लिखा था। खोज करने वाले एक दल के नेता ने इस पत्र का जो सार सुनाया था, उसे कवि ने अपनी कविता में इस प्रकार व्यक्त किया है :]

सुधामयी सुधि के संबोधन ! अभिनन्दन स्वीकारो।
प्राणों में तुम बसे सुरभि से, फिर भी मुझे पुकारो॥
स्नेहसिक्त लेखनी रुक रही, आँसू रोक न पाती।
विरह-ज्वाल में जलती जाये शब्दों की मृदु छाती॥

तुम प्रतिध्वनि - से गूँज रहे हो, इन साँसों में खोये।
फिर भी मेरी मर्म-बाँसुरी, बेसुध स्वर में रोये॥
पदध्वनि आती मिलन-तटों तक, दूर-दूर फिर जाये।
प्रणय-गीत के अधर पिपासे, कौन राग फिर गाये ??

जाने यह पाती तुम तक पहुँचेगी या खोयेगी।
अगर न उत्तर आया तो स्मृति पतझर-सी रोयेगी॥
विवश बहुत हूँ आज, अन्यथा युद्धभूमि में आती !
भारत-रमणी कैसी होती, यह अरि को दिखलाती !!

अंगारों की सेज से लिखी प्रणय-पाती

गरज रहा है रक्त नसों में, हृदय-सिंधु अँगड़ाये !
काश, आज मेरे हाथों से, रक्तबीज कट जाये !!
कालरात्रि बन पी सकती हूँ रक्त शत्रु का सारा !
क्योंकि आततायी ने मेरा अन्तर्बल ललकारा !!

दहक रही अंगार सरीखी, देह आज यौवन की !
विरह पूछता कैसे तुमको, लिखूँ बात मैं मन की !!
बीते कितने दिवस-मास, तुम चले गये प्रिय मेरे !
नयनों को प्रतीति कैसे हो, दरस किये बिन तेरे !!

मन लगता है नहीं, कोष पीड़ा का खुल-खुल जाये।
लपट उठाती सेज सुहागिन, नींद नहीं अब आये ॥
तुम इतनी दूरी पर जाने, कैसा युद्ध रचाते !
जाने कैसे अरि-मस्तक को, काट-काट बढ़ जाते !!

यहाँ तुम्हारे बल-विक्रम के जब संदेशे आते !
स्मृतियों के निस्तब्ध-लोक में, कोटि दीप जल जाते !!
प्रणय-सिन्धु की लहरें आन्दोलन कर-कर रह जातीं।
मन की पीड़ाएँ अँगड़ाकर, तन से हैं टकरातीं।

किन्तु हृदय में बैठी आशा यह कह दीप जलाये—
"अपने रंग में रँग दूँगी यदि कभी अचानक आये !"
इन कोमल बाँहों में कसकर, बँधा कवच तोड़ूँगी !
फिर मन भरकर आलिंगन कर, मुश्किल से छोड़ूँगी !!

आँखों की सारी सुर्खी को, पहले मैं पी लूँगी !
है जितना भी मादक मुझमें, प्रिय तुमको फिर दूँगी !!
किन्तु आज से इन्हीं कल्पनाओं में खो मत जाना।
तुम्हें युद्ध-पल की विभीषिकाओं से है टकराना ॥

देश तुम्हारा, आस तुम्हारी लेकर अब जीता है।
हर विश्वास तुम्हारी स्मृति के आँसू ले पीता है॥
राजनीति के कुत्सित पथ पर, वीर नहीं हैं जाते।
या तो वे मर जाते या फिर शत्रु मारकर आते॥

जन्म-भूमि के लिए मृत्यु का आलिंगन ही प्यारा।
उस आलिंगन-सुख के आगे, मेरा यौवन हारा॥
प्रियतम! हार गये तो फिर अपना मुँह नहीं दिखाना!
इससे तो अच्छा है युद्ध-भूमि में ही मर जाना!!

हारी हुई जिन्दगी जीकर जो मनुष्य इतराते!
उनका मुँह देखे से सदियों पर कलंक लग जाते!!
माँ का दूध लजाकर जो फिरते हैं फूले-फूले!
भले नहीं सुबह के हैं वे, संध्या के भी भूले!!

इस धरती की मिट्टी के कण-कण की यही कहानी।
जायें प्राण, न जाये लेकिन स्वाभिमान का पानी॥
हिम-शिखरों पर शुभ्र मेघ कहते हैं तुमपर झुककर।
ऐसी मिट्टी की रक्षा का भार तुम्हारे ऊपर॥

यहाँ दूर बैठी मैं तुमको भेज रही हूँ पाती।
याद तुम्हारी कर-कर मेरी छाती भर-भर आती॥
लेकिन मैं निज स्वार्थ छोड़कर, तुम्हें यही लिखती हूँ।
मैं कायर तो कभी नहीं, यद्यपि अबला दिखती हूँ॥

मेरे मन में शक्तिज्वार है जिसको तुमने पाया।
उसी ज्वार का वेग आज इस पाती में भर आया॥
अंतिम बार और कहती हूँ पिया! विजयश्री लाना!
अगर हार है गले लगाना, तो चाहे मत आना!!

●



शरद जोशी

•

बड़ी ही मीठी खुशबू होती है पराये पत्रों की...बड़ी ही प्यारी... बड़ी ही............

•

कितनी अच्छी आदत है दूसरों के पत्र पढ़ लेना कि जैसे राह चलते किसी खिड़की से झाँक लेना और बाल सँवारती सुन्दरी की पीठ निहार लेना या कि बाग़ में घुस जाना और अधपके फलों पर अधिकार करना और माली के आने तक सहज अवस्था प्राप्त कर लेना। कुछ ऐसे कि दूसरे की प्रेमिका को मुस्करा कर मोहित करने का असफल प्रयास कर लिया और उसे एक क्षण अपने साथ समझ व्यर्थ में सुधबुध खो बैठे। दूसरों के पत्र जो उन्हें तीसरे के द्वारा लिखे होते हैं सचमुच कितने 'थ्रिलिंग' होते हैं, रहस्य के कैसे-कैसे परदों को हटाने का अवसर मिलता है कि क्या कहिये! काश, हम तेरे 'केअर आफ़' होते और तू हमें लिखता।

मैंने कुछ ऐसे पत्र पढ़े हैं, और भी मिल जाएँ तो पढ़ने की हविस है। दूसरों की ज़िन्दगी के यथार्थ को पढ़ने का ऐसा शार्टकट और कुछ नहीं हो सकता कि उसका लिफ़ाफ़ा ही खोल लिया। देखिये ना, ये लिफ़ाफ़े और इन्लेण्ड और कार्ड होते भी तो कैसे हैं कि चाहे कोई पढ़ ले। और ख़ासकर पोस्टकार्ड तो कुछ पूछिये मत, जैसे गुदना कराये स्त्री का उघड़ा शरीर हो, देख लीजिए कौन-सी डिज़ाइन बनी है---तुलसी का पौधा, या गुलाब का फूल या भगवान कृष्ण मुरली बजाते हुए। पोस्टकार्ड से सुन्दर और क्या आविष्कार होता काग़ज़ के कोरे क्षेत्र में। शब्द जैसे हवा में आगे बढ़ते हैं वैसे ही चन्द वाक्य एक प्रदेश से दूसरे

पराये पत्रों की सुगंध

प्रदेश सरकते हुए चले जा रहे हैं—मेंहदी रचे हाथों से नाख़ून काटते हाथों तक। मगर इन हाथों और उन हाथों के बीच इस जिज्ञासु की दो आँखों का एक कोमल कस्टम नाका है जहाँ सारे शब्द पूरी खोजबीन के साथ पढ़े जाते हैं, एक ठंडी आह में रसीद-सी कटती है और वह पोस्टकार्ड आगे बढ़ जाता है। इनलैण्ड कुछ कष्ट देते हैं और तराशने की कला का उपयोग करना पड़ता है, लिफ़ाफ़ा खोलना तो नाजुक काम है बहुत—पर जहाँ चाह है वहाँ राह है और इन्सान कोशिश करे तो क्या नहीं हो सकता।

हर पत्र अपने-आपमें एक लाटरी है। काँटा डालिये, मछली आई और न भी आई। कभी यों होता है कि पत्र है जहाँगीर का नूरजहाँ के नाम कि बानो, मेरी उन कबूतरों का क्या हुआ जो मैं तुम्हें सौंपकर गया था? अरी वह तो मेरे प्यार की पहली निशानी थी—'पीस डोव', क्योंकि विश्व-शांति का गहरा सम्बन्ध है तुम्हारे-मेरे सुखी जीवन से। कहीं जंग हुआ और मारा गया तो क्या होगा हमारे सपनों का। मेरी नूर-जहाँ, वे कबूतर मैंने छुपाकर, सँभालकर रखने को दिये थे! क्या तुमने उन्हें उड़ा दिया या तुम्हारे पिताजी ने उन्हें बेच दिया बाज़ार में? मुझे लौटती डाक से जवाब दो!—तुम्हारा जहाँगीर, एम० ए० प्रीवि-यस। और कभी यों होता है कि पत्र लिखा है जहाँगीर के नाम सिराज मियाँ कबूतर वाले ने कि जहाँगीर भाई साहब, सलाम, अर्ज़ यह है कि बहुत दिनों से आप दुकान की तरफ़ तशरीफ़ नहीं लाये। इधर आप उस रोज़ दो कबूतर ख़रीद कर ले गये थे जिनका रुपया आपने नहीं चुकाया था। इस वक़्त ज़रा मैं तंगदस्ती में चल रहा हूँ और रुपयों की सख्त ज़रूरत है। बड़ी मेहरबानी होगी अगर कबूतर के दाम जल्दी भिजवा दें। उम्मीद है, आपके दीदार का जल्दी मौक़ा मिलेगा। आपके वालिद अकबर साहब को सलाम फरमाइये—आपका सिराज, परींदा-मर्चेन्ट।

दूसरा पत्र हालाँकि बेकार है मगर वह कहानी बनाता है। अब इसके आगे लेखक को चाहिये कि अपनी कला दिखाए और वह यों कि कबूतर के पंखों की कोमलता से नूरजहाँ के हाथों की तुलना करे, उसकी उड़ान से सपनों की उड़ान तोले, और चख-चख करवा दे जहाँगीर की उसके बाप से जो उसे बराबर हाथख़र्च नहीं देता और कबूतर बेचनेवाले तक के बुरे बोल जहाँगीर को सुनने पड़ रहे हैं, बानो को दुपट्टा प्रेजेंट करना तो गया भाड़ में। अकबर की फ़र्म कलकत्ता-स्थित एजेंट का लड़का शेर-अफ़गन इधर हेड-आफिस में काम सीखने आता है और नूरजहाँ से सिर्फ़ इस दम पर कि उसकी तनख्वाह बड़ी है और वह चाहे जितने कबूतर ख़रीद सकता है, सिलसिला बढ़ाता है। नूरजहाँ की शादी शेर अफ़गन के साथ हो जाती है और जहाँगीर मन मारकर बैठ जाता है क्योंकि सवाल विश्व-शांति का था और हर कबूतर की अपनी इज्ज़त है। अकबर के बाद जहाँगीर फ़र्म का मालिक बनता है और शेर अफ़गन पर, जो अब कलकत्ता में एजेंट है, रुपये खाने का चार्ज लगा उसे जेल में डलवा देता है। नूरजहाँ जहाँगीर के पास आ जाती है और शादी कर लेती है। सबूत के रूप में रखूँगा मैं जहाँगीर के पास आया

श्रीमती नूरजहाँ अफ़गन का एक्सप्रेस-डिलीवरी-पत्र जो अभी-अभी मैंने चुपके-से पढ़ा है : डियर जहाँगीर, मैं २७ को मेल से पहुँच रही हूँ। उम्मीद है, प्लेटफार्म पर वक़्त से मिल जाओगे। अभी मैरज अनाउन्स मत करना क्योंकि कुछ दिनों हमें अलग रहना शो करना पड़ेगा। मेरे ठहरने का अरेन्जमेण्ट कहीं अलग करना फ़िलहाल। तुम्हारा जुकाम कैसा है? इसमें कबूतर बड़ा मुफ़ीद होता है। बहुत-बहुत प्यार। तुम्हारी—नूरजहाँ।

मैं पत्र फिर से बंद कर जहाँगीर साहब की तरफ़ भिजवा देता हूँ। जानता हूँ, आज बॉस बहुत ख़ुश है। मैं वेतन बढ़ाने का अपना आवेदन लेकर उसके कमरे में जाता हूँ और वह अकेला अपनी कुर्सी पर झूलता मेरा वेतन दस रुपया बढ़ा देता है। मुबारक हो उसे उसकी नूरजहाँ और दाद दीजिये मेरी ख़त चुराकर पढ़ने की आदत को।

पोस्ट-आफिस मुझे किसी रहस्य-लोक से कम नहीं लगता। सोचता हूँ कि अगर मैं पोस्टमैन होता तो अपना ईमान कैसे क़ायम रखता? क्या-क्या न समेटता इस छोटे से मन में। यह दुनिया एक तिलस्म है और उसकी कुंजी मुझे मिल जाती तो क्या पाप मन में नहीं उठता! मुझे सब पता होता कि रुक्मिणी अपने कृष्ण के साथ किस दिन किस मुक़ाम से जावेगी। मैं उस गली में तब चक्कर काटता, उस घटना का चश्मदीद गवाह बनता और सबको सुनाता। संयोगिता के स्वयंवर में पृथ्वीराज किस वेष में आवेगा, मुझे पता होता। मुझे मालूम रहता कि नल को फिर से प्राप्त करने के लिए दमयन्ती के बाप की फ़र्म किस पोस्ट-बाक्स नंबर से विज्ञापन दे रही है और क्यों वे ही क्वालिफ़िकेशन माँग रही है जो सिर्फ़ नल में है। मुझे सब पता रहता। द्रौपदी पाँच कार्बन लगाकर अपना प्रेम-पत्र टाइप करती है, आफ़िस-कॉपी रखकर पाँच पते पर भेजती है। मैं जानता हूँ कि पाँचों के पते क्या हैं। अर्जुन किस ब्रिगेड में है? युधिष्ठिर सिविल-जज कहाँ है? भीम कौन-सी रेस्तराँ चलाता है? नकुल कहाँ बी० डी० ओ० है और सहदेव कहाँ लेक्चरर है?

मैंने पढ़े हैं पत्र। वे जो भावुकमना पाठकों ने मेरे नगर की कवयित्रियों को लिखे थे। वे जो किसी दूर के श्रोता ने एक सितारवादिका को भेजे थे। वे जो किसी भूतपूर्व मरीज़ ने एक नर्स को लिखे थे। मैंने पढ़े हैं वे पत्र जो गर्मी की उदास छुट्टियों में बरसात के पहिले लड़कियाँ लड़कियों को लिखती है। मैंने पढ़े हैं वे पत्र जो किसी छात्रा ने अपने मित्र को इसलिए भेजे कि अर्थशास्त्र के पर्चे में मार्क्स बढ़वाने की कोशिश करना था; और इस स्वार्थी संदर्भ को प्यार के वायदे के तान-बान से ऐसा बुना था कि जो बुद्धू न बने वह पत्थर है और उसे स्वयं को युवक कहने का अधिकार नहीं है।

युवक कहने का अधिकार उसे भी नहीं है जो दूसरों के पत्र नहीं पढ़ता। हाँ, उसे अपने को शरीफ़ कहने का अधिकार है। ऐसा शरीफ़ जिसे हमेशा ज़ुकाम रहता है और उसे क़रीब के बाग़ के फूलों की सुगंध नहीं आती। मुझे ज़ुकाम नहीं है और मैं मजबूर हूँ।

●

हिन्दी के [illegible] आलोचक और दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डॉ० नगेन्द्र का ज्ञानोदय-सम्पादक के नाम लिखा पत्र जो स्वयं उनके शब्दों में उनका पहला अन्तरंग पत्र है।

•

मेरा पहला अन्तरंग पत्र

डॉ० नगेन्द्र

•

दिनांक : २६-८-६३

प्रियवर,

आपका कृपा-पत्र समय पर मिल गया था। तभी से उत्तर लिखने की सोच रहा हूँ। किन्तु, आपने तो माँग की है पत्र की। यों तो पत्र रोज़ ही लिखता हूँ, और अपने अधिकांश सहकर्मियों की अपेक्षा अधिक नियमित रूप से भी लिखता हूँ, किन्तु इन पत्रों से तो आपका काम चलेगा नहीं। आप चाहते हैं ऐसा पत्र जो मेरे किसी रहस्य को प्रकाश में लाए।....मेरे चरित्र के किसी अज्ञात गुण-दोष का प्रकाशन करे। ऐसा पत्र तो मेरे पास है नहीं, न अपना, न किसी दूसरे का। इस प्रकार का पत्र लिखकर जीवन में दो बार धोखा खा चुका हूँ : एक बार जबकि मैं स्कूल में आठवीं कक्षा का विद्यार्थी था और दूसरी बार जब मैं अपना शोध-प्रबन्ध लिख रहा था। दोनों बार मुझे इतने परिताप और इतनी ग्लानि का विष पीना पड़ा कि तब से 'शतं वद, मा लिख' मेरे लिए ब्रह्म-वाक्य ही बन गया है और ऐसा कोई पत्र मैं नहीं लिखता जिसके प्रकाशन से कभी किसी भी रूप में मेरे स्वाभिमान के आहत होने की आशंका हो। अर्थात् एक सीमा से आगे मैं पत्र के द्वारा अपने राग-द्वेष को व्यक्त नहीं करता क्योंकि राग और द्वेष दोनों का ही अभिलेख वास्तव में मन की दुर्बलता का अभिलेख होता है। राग की असंयत अभिव्यक्ति भी स्वाभिमान को उतना ही आहत कर सकती है जितना कि द्वेष का उद्गार। वास्तव में स्वाभिमान की रक्षा के लिए द्वेष की अपेक्षा राग का गोपन अधिक आवश्यक होता है। द्वेष का गोपन जहाँ सौजन्य मात्र है, वहाँ राग का गोपन आत्मबल का प्रमाण है। जीवन की

गति बड़ी विचित्र है, आज जिसके प्रति मन में अमृत का उत्स उमड़ता हो, कल उसके प्रति घृणा का विष भी आविर्भूत हो सकता है। जिस व्यक्ति से आज मैं घृणा करता हूँ, वह यदि मेरा कोई ऐसा पत्र मेरे या किसी दूसरे के सामने पेश कर दे जिसमें असीम स्नेह या श्रद्धा का उद्गीथ हो--तो मुझे कैसा लगेगा ? इस प्रकार की स्थिति किसी भी मनस्वी को दयनीय बना सकती है और मैं इसके प्रति अत्यंत सतर्क रहता हूँ। अतः मैंने कोई ऐसा पत्र नहीं लिखा जो आपके काम का हो--मेरा कोई मित्र या शत्रु भी ऐसा पत्र प्रकाशनार्थ भेजकर आपके इस रोचक आयोजन में योगदान नहीं कर सकता। आप कह सकते हैं कि मुझे ही किसी ने ऐसा पत्र लिखा हो तो भेज दूँ। किन्तु मेरे सम्पादक-मित्र ! इस रूप में भी मैं आपकी सेवा नहीं कर सकता। इस व्यस्त जीवन में मेरे पास केवल तीन प्रकार के पत्र आते हैं--प्रशासनिक-व्यावसायिक पत्र, विद्यार्थियों के पत्र और गुमनाम पत्र। प्रशासनिक पत्रों में कामकाज की बातें होती हैं--इनमें कई पत्र ऐसे भी होते हैं जो बुद्धि को उत्तेजना देते हैं, पर वे आपके किस काम के ? विद्यार्थियों के पत्रों में प्रसंग के अनुकूल अनुनय-विनय, रीझ-खीज रहती है जिसके प्रकाशन का अधिकार संतान को माता-पिता के प्रति और शिष्य को गुरु के प्रति सहज ही प्राप्त है। गुमनाम पत्रों की संख्या पहले कुछ अधिक रहती थी, अब कम हो गई है--इनका भी एक मौसम होता है : जुलाई, अगस्त, जबकि नियुक्तियाँ होती हैं; विशेष नियुक्ति के समय किसी दूसरे महीने में भी यह बहार लौट आती है। इनमें दूसरों की--प्रायः अनाम लेखकों के प्रतियोगियों की निन्दा रहती है, मेरे सहयोगियों की भर्त्सना रहती है और कुछ-एक में (ऐसा प्रायः निर्वाचन हो जाने के बाद होता है) मेरी अपनी निज की भर्त्सना रहती है जिसमें कभी-कभी धमकी भी मिली होती है। इन सभी पत्रों को फाड़कर फेंक देता हूँ और यदि ऐसा न भी करता तो भी वे प्रकाशन के योग्य न होते। ऐसी स्थिति में मुझे खेद है कि मैं आपकी सेवा नहीं कर सकता।

...आपके नाम पहली बार यह अंतरंग पत्र लिख रहा हूँ जिसमें पत्राचार के विषय में मेरे दृष्टिकोण की निर्मुक्त स्वीकृति है। आप चाहें तो इसे ही प्रकाशित कर दें।

स्नेही,
नगेन्द्र



डी० एच० लारेंस

कैथरीन मैंसफील्ड न्यूजीलैण्ड में १८८८ में जन्मी और १९२३ में ३५ वर्ष की अवस्था में मरी। वह एक पत्रकार और प्रसिद्ध कहानी-लेखिका थी। इस पत्र के लिखे जाने के कुछ ही दिनों बाद जॉन मिडल्टन मरे से उसका विवाह हो गया था।

कैथरीन एक बड़े धनपति की पुत्री थी और मरे एक पत्र का साहित्य-संपादक और आलोचक। कैथरीन ने उसके अखबार में कहानियाँ और आलोचनाएँ लिखना प्रारम्भ किया, फिर दोनों में प्रेम हो गया। शादी के बाद मरे उसके व्यक्तिगत नाम से जमा धन को छूना भी नहीं चाहता था और इस सम्बन्ध में उसने अपने मित्र लारेंस का परामर्श माँगा था। इसी संदर्भ में मरे को लिखा डी० एच० लारेंस का पत्र :

प्रिय मरे,

मैं तुम्हारे पत्र का उत्तर तत्काल साफ़-साफ़ शब्दों में दे रहा हूँ। जब तुम कहते हो कि तुम कैथरीन का धन नहीं लोगे तो इसका मतलब यह होता है कि तुम्हें उसके प्रेम पर विश्वास नहीं है। जब तुम यह कहते हो कि उसे श्रृंगार-सामग्री की बहुत कम आवश्यकता है और तुम उसे उससे वंचित रखना सहन नहीं कर सकते तो इसका अभिप्राय यह होता है कि तुम अपना ही या फिर उसका पर्याप्त सम्मान नहीं करते।

मुझे ऐसा लगता है कि तुम दोनों एक-दूसरे के निकट आने की बजाय उस कड़ी को ही तोड़नें लगे हो जिसने तुम दोनों को एकसूत्र में बाँध रखा है। मैं चाहता हूँ कि तुम दोनों अपना-अपना हृदय ईमानदारी से टटोलो।

उसे इस पर ग़ौर करना चाहिये कि क्या वह तुम्हारे साथ इटली की एक

नारी चाहती है प्रेम—धन नहीं

छोटी-सी जगह में अकेली रह सकती है और अभावों में भी अपने को सुखी महसूस कर सकती है। यदि वह ऐसा कर सकती हो तो तुम उसका धन ले सकते हो। अगर वह नहीं चाहती तो ऐसा प्रयत्न मत करना।

शायद वह तुमसे असंतुष्ट होने लगी है। तुम उसे केवल निस्वार्थी बनकर ही संतुष्ट नहीं कर सकते। तुम्हें सोचना चाहिये कि तुम किस तरह खूब स्वस्थ, मज़बूत रह सकते हो और अपने को तथा उसको संतोष दे सकते हो। क्या आलसी बनकर ? तो छः महीने तक निष्क्रिय-आलसी बने रहो—और उसका धन ले लो। कोई हर्ज़ नहीं, उसे कुछ शृंगार-साधनों से वंचित होने दो, वह मर नहीं जायगी। अगर वह अपना संपूर्ण जीवन और प्राण तुम पर निछावर नहीं करना चाहती तो तुम कुछ समय के लिए अकेले विदेश चले जाओ। मैं चेतावनी देता हूँ—यह तुम्हारे लिए अत्यन्त नारकीय होगा।

तुम बहुत समय तक बिना काम के रहने की कल्पना नहीं कर सकते। क्या तुम वेस्ट मिस्टर से ऐसी व्यवस्था नहीं कर सकते कि वह तुमको प्रति सप्ताह दो कॉलम दे दे। तुम्हें प्रयत्न करना चाहिये। तुम्हें आलोचनाओं के प्रति दृढ़ रहना चाहिये। कोई किताब लिखने की योजना बनानी चाहिये, किसी साहित्यिक विषय पर या किसी व्यक्ति पर। मैं अँग्रेज़ी नायिकाओं पर एक पुस्तक लिखना चाहता हूँ। तुम्हें भी कुछ ऐसा ही करना चाहिए, पर इतना हल्के स्तर का नहीं। उपन्यास लिखने का प्रयत्न मत करो—निबन्ध लिखो—वाल्टर पेटर या वैसी ही किसी शैली में। तुम उस दिशा में कुछ अच्छा काम कर सकते हो—जिसका सम्बन्ध जीवन की बजाय साहित्य से अधिक हो।

....मुझे खेद है कि तुम अपने मार्ग से भटक गये हो। लगता है कि कहीं, किसी माने में तुम पूरी तरह पुरुष नहीं हो—तुम्हारे अपने आत्मसम्मान को चोट नहीं लगी कि तुमने उसे अभिमान महसूस करने का अवकाश दिया! पुरुष जब तक स्वयं मज़बूत और दृढ़ निश्चयी न हो— और जब तक कि वह नारी से प्रेम प्राप्त करने के लिए अपने प्राणों के अलावा और भी किसी चीज़ पर निर्भर न हो तब तक वह नारी को संतुष्ट नहीं कर सकता। तुमने कैथरीन को उस सबसे संतुष्ट करना चाहा है जो तुम उसके लिए कमा सकते हो, और वह केवल उस सबसे ही संतुष्ट होगी जो तुम स्वयं हो।

पर तुम नहीं जानते कि तुम क्या हो ? न तुमने कभी यह जानने की कोशिश ही की। तुम मूर्ख हो जो इतनी कड़ी मेहनत करते हो। कैथरीन इसीलिए तुमसे नफ़रत करती है—और वह बिल्कुल ठीक है। पहले तुम्हें अपने-आपको और अपने आत्मसम्मान को बचाना चाहिए। इसके लिए तुम कैथरीन का सारा धन खींच लो।

उसकी हीन भावनाओं को मत भड़काओ—अपने पर दृढ़ रहो—जो तुम

करना चाहते हो करो--उसका विचार मत करो। उसे इस बात से घृणा है कि तुम उसका विचार करो। तुम यह कहकर कि तुम उसका धन नहीं लोगे, उसका अपमान करते हो।

तुम कायर मत बनो। पहले तुम्हारा अपने प्रति कर्त्तव्य है। और तुम कैथरीन का, उसके धन का और उसकी हर चीज़ का अपने-आपको फिर से स्वस्थ करने में उपयोग करसकते हो।

आराम करो। अगर इच्छा न हो तो कुछ मत करो। हालाँकि मैं ऐसी परिस्थिति में भी कुछ करना पसन्द करूँगा। पहले अच्छे हो जाओ--और वह काम करो जो तुम्हें पसन्द हो। इसके लिए किसी के भी धन का उपयोग कर लो। अपने आपको स्वस्थ करो। कैथरीन को तुम्हारी यह हालत देखकर तकलीफ़ होती है।

दस पौण्ड का एक नोट २५३ लीयर के बराबर होता है। एक बढ़िया कमरा मय बड़े-से बगीचे के ८० लीयर प्रतिमास में मिल सकता है। अपने-आपको बर्बाद मत करो—मूर्ख मत बनो। तुम जानते हो, तुम क्या कर सकते हो। तुम लिख सकते हो और इसके लिए अपने-आपको तैयार करो। पहले कैथरीन को शान्ति दो--तुम्हारे प्रेम से उसे शान्ति मिलेगी। उससे कहो कि तुम निश्चय रूप से यह कर सकते हो--उसे तुमसे यह सुनकर राहत मिलेगी। बचपना मत करो। हर चीज़ को अलग करके कहो कि अब तुम अपनी भलाई के लिए सब कुछ करोगे। [घनश्याम देवड़ा द्वारा अनूदित]

●

पत्र : एक विशिष्ट दृष्टिकोण

मेरे लिए जीवन में सबसे अधिक भय की वस्तु है—पत्र विष से कहीं अधिक हत्या की सम्भावनाएं पत्रों में निहित होती हैं। मेरे विचार में पत्र उसी व्यक्ति को लिखना चाहिए जो निकट ही रहता हो, और जिसे हम अवश्य ही देख सकें। पत्र यदि वर्तमान की विस्तार-व्याख्या हो तब तो ठीक है पर यदि वह अनुपस्थित का वर्णन मात्र हो, तो असह्य हो जाता है।

एलिजाबेथ बाउवेन

यशपाल



सन्दर्भ : ज्ञानोदय के सितम्बर अंक में 'जयदेवपुरी का ख़त यशपाल के नाम' शीर्षक रचना छपी थी जिसके लेखक हंसराज रहबर थे । इस अंक में 'झूठा-सच' के लेखक यशपाल का उत्तर पढ़ें ।

जयदेवपुरी को यशपाल का उत्तर

प्रिय पुरी,

'ज्ञानोदय' के सितम्बर अंक में अपने नाम तुम्हारा पत्र देखा। तुम्हारा तकाज़ा है कि 'झूठा सच' के एक नायक के रूप में तुम्हारे निर्माण का उत्तरदायित्व मुझ पर है। इसलिए, तुम जैसे भी, जो कुछ भी बन सके वह मेरी ज़िम्मेदारी है। पाठकों को तुम्हारे व्यक्तित्व और चरित्र में जो भी निर्बलताएँ और न्यूनताएँ दिखाई पड़ती हैं उनके लिए तुम मुझसे ही शिकायत कर सकते हो। पुरी; तुम्हें यह तो नहीं भूलना चाहिए कि मैंने तुम्हारे व्यक्तित्व में कुछ निर्बलताएँ रखने के बावजूद तुम्हें अच्छी ख़ासी साहित्यिक परख और प्रतिभा दी थी।

क्या तुम सन्देह कर सकते हो कि तुम्हारे व्यक्तित्व के सृजन में मेरा प्रयोजन 'झूठा सच' को सफल उपन्यास बना सकना ही नहीं था। तुम्हारे ऐसे ही व्यक्तित्व से 'झूठा सच' इस योग्य बन सका कि तुम्हें भड़काने वाले भी इस उपन्यास को दिलचस्प और शाहकार अर्थात् कला की दृष्टि से सफल मानते हैं! अर्थात् इसकी सफलता का लोहा मानने के लिए बाध्य हैं। उपन्यास-जगत में तुम्हें इसी बात से अपने व्यक्तित्व की सार्थकता और सफलता समझकर संतुष्ट होना चाहिए था। परन्तु तुममें तो मार्क्सवादी हीरो बनने की महत्वाकांक्षा जगा दी गयी है।

पुरी, तुम्हारे इस पत्र में मुझे तुम्हारा रूप, विचार और भाषा ठीक वैसे नहीं दिखाई दे रहे हैं जैसीकि मैंने तुम्हारी सृष्टि की थी। मैं तुम्हारा निर्माता हूँ, तुम्हारे विचार और तुम्हारी भाषा पहचानने में मुझसे चूक नहीं हो सकती। स्पष्ट है, तुम्हें शिखण्डी बनाकर तुम्हारी आड़ से मार्क्सवाद का कोई अल्हड़ वकील तर्क के तीर मार रहा है। अल्हड़ इसलिए कहूँगा कि उसे मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति सहानुभूति उत्पन्न की जाने की अपेक्षा मार्क्सवाद का दम्भ करने वाले व्यक्तियों के अहंकार की चिन्ता ही अधिक है। तुम मानते हो कि मैंने तुम्हें साम्यवाद अथवा कम्युनिज्म की विचारधारा से सहानुभूति रखनेवाला बनाया था, कम्युनिस्ट नहीं इसलिए जब तुम्हारी वर्ग संघर्ष की बात पर रतन ने आपत्ति की "तुम हर बात में कम्युनिज्म अड़ा देते हो' तो तुमने अपने लिए स्वाभाविक उत्तर दिया था--"मैं कम्युनिस्ट नहीं हूँ, दिस इज़ हिस्ट्री।" आज तुम शिकायत कर रहे हो कि मैंने तुमसे कम्युनिस्ट होना स्वीकार क्यों नहीं कराया। भले आदमी, तुम अपने द्वारा दिये गये उत्तर की ध्वनि को नहीं समझ सकते? जब मार्क्सवादी होने का दावा करने वाला व्यक्ति कम्युनिस्टों के कार्यक्रम का समर्थन करता है, तो पाठक उस विचार को किस दृष्टि से देखेंगे और जब मार्क्सवादी होने से इन्कार करनेवाला व्यक्ति कम्युनिस्ट नीति का समर्थन उसे ऐतिहासिक सत्य बताकर करता है तो पाठक उसे किस दृष्टि से देखेंगे! तुम्हे मैंने चतुर व्यक्ति बनाया था। तुम इतना नहीं समझ सकते कि सर्वसाधारण लोग पहली स्थिति को अपने दल का समर्थन मात्र कहेंगे और दूसरी स्थिति को निष्पक्ष तथा विरोधी व्यक्ति द्वारा भी ऐतिहासिक सत्य को स्वीकार करने की मजबूरी कहेंगे। कम्युनिस्ट दृष्टिकोण की तुम इससे बड़ी क्या सहायता कर सकते थे? तुम जैसा समझदार व्यक्ति ऐसी बात नहीं कर सकता था। इन अल्हड़ मार्क्सवादियों का मुझसे पुराना तक़ाज़ा रहा है कि मेरे कथानकों के सभी पात्र कम्युनिस्ट होने चाहिएँ और कम्युनिस्ट भी ऐसे जिनमें कोई भी परिस्थितिजन्य मानवीय दुर्बलता न हो। मेकेनिकली परफेक्ट, परन्तु मैं सामर्थ्य भर अपने पात्रों को सामाजिक यथार्थ के तत्वों से बनाना चाहता हूँ। उन्हें कम्युनिस्ट भी बनाता हूँ तो उन कम्युनिस्टों जैसा जिन्हें मैं पचासों की संख्या में व्यक्तिगत और आत्मीयता के अनुभव से जानता हूँ। मुझ पर तुम्हारी आड़ से किया गया यह आक्षेप नया नहीं है।

तुम्हें भड़कानेवाले ने तुम्हारी आड़ से अपने विचार में मुझपर धराशायी प्रहार किया है कि क्या मैं मार्क्स द्वारा की गयी इतिहास की व्याख्या को ग़लत समझता हूँ? मुझे यह कहने में कोई भय नहीं है कि मैं इतिहास की मार्क्स द्वारा की गयी व्याख्या को अधिकांश में विश्वासयोग्य मानता हूँ परन्तु यह नहीं मानता कि मार्क्स ने समाज और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के भविष्य के सम्बन्ध में

जो स्थापनाएँ की थीं उन पर पुनर्विचार की आवश्यकता नहीं है। मैं मार्क्सवाद की माओ द्वारा की गयी व्याख्या की अपेक्षा ख़ुश्चेव द्वारा की गयी व्याख्या को ही तर्कसंगत मानता हूँ। तुम किस संगति में जा पड़े हो! याद रखो, नादान की दोस्ती जी का जंजाल होती है।

पुरी, यह ठीक है कि आरम्भिक अवस्था में तुम आदर्श से प्रेरित थे। परन्तु उस समय भी तुम्हारी आर्थिक महत्वाकांक्षाएँ और हीन-भावना प्रकट होती रहती थी। तुम अपने चरित्र विकास के उत्तरार्ध में प्रलोभन सामने आने पर उन हीन भावनाओं और प्रवृत्तियों के शिकार होने से बच नहीं सके। 'झूठा सच' के कथानक में इस परिणति को तुम स्वाभाविक मानकर भी उसे आदर्शों का प्रोत्साहक नहीं मान सकते। परन्तु मैंने उपन्यास के उत्तरार्द्ध में तुम्हें अनुकरणीय बनाया ही नहीं।

अब तुम्हें शिकायत है कि यदि तुम्हारा व्यक्तित्व कुछ दुर्बलताओं से मुक्त होता तो तुम और कनक दोनों ही कुछ आदर्शों के अधिक पूरक हो सकते थे। तुम्हारी यह महत्वाकांक्षा और हीन-भावना स्वाभाविक है। जिन लोगों में ऐसी प्रवृत्तियाँ होती हैं क़दम-क़दम पर फूटती ही रहती हैं। तुम क्यों चाहते हो कि तुम्हें ही आदर्श का पद दिया जाता? आदर्शों की ओर संकेत करनेवाले उपन्यास में अन्य माध्यम मौजूद हैं। आज तुमसे जैसी शिकायत करवायी जा रही है यदि उसके लिहाज़ से तुम्हारा व्यक्तित्व बनाया जाता तो तुम और तुम्हारे जैसे पात्र कुछ आदर्शों की ओर संकेत करने वाली मशीनें ही बन जाते, जैसा कि तुम्हें पट्टी पढ़ाने वाले अल्हड़ मार्क्सवादी चाहते हैं।

पुरी, तुमसे कहलाया गया है, कि तुम्हारी 'जिस्मानी नालायक़ी' को भी तलाक़ की वजह में शामिल कर लेने की वजह से कहानी में रस की मात्रा ज़रूर बढ़ी है। परन्तु इससे कनक के और लेखक के आदर्शों को भी धक्का लगा है। तुम्हारी यह धारणा ग़लत है। तलाक़ के कारणों में तुम्हारी 'जिस्मानी नालायक़ी' भी शामिल होने से लेखक के और कनक के आदर्शों को कोई धक्का नहीं लगा। इस प्रसंग से कनक के चरित्र की निष्कपटता और साहस ही प्रकट हुआ और लेखक यह दिखा सका है कि प्रकट में अच्छे भले गार्हस्थ्य जीवन को किस प्रकार के घुन भीतर से पोला कर देते हैं। पोल को छिपाना मैं आदर्श नहीं मान सकता, यह तुम अब भी स्वीकार करते हो कि तुम्हें दी गयी इस ग्रंथि ने कहानी की रस-वृद्धि में सहयोग दिया है। एक अदीब (साहित्यिक) की हैसियत से तुम्हें इस रस-वृद्धि की क़द्र करनी चाहिए। जानते हो, 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' साहित्य का तो गुण ही रस है। जिस आदर्श अथवा जिन अन्तर्विरोधों की ओर संकेत करना मेरा प्रयोजन था उसके लिए मैं तुम्हारा उपयोग ठीक-ठीक कर सका हूँ यह तुम स्वीकार करते हो और असंतुष्ट भी हो। तुम

मेरा काम तो पूरा कर चुके हो, अब मार्क्सवादी बनना चाहते हो, तो बनो, परन्तु नादान मार्क्सवादी मत बनो।

पुरी, तुम्हें शिकायत है कि तुम्हारे व्यक्तित्व को दी गयी कमज़ोरियों का नतीजा यह है कि शुरू में तुम उपन्यास के हीरो हो और महेन्द्रनाथ नैयर विलेन है। लेकिन आखिर में नैयर इतना ज़ोरदार कैरेक्टर बन पड़ा है और तुमसे इतना बुलन्द उठ गया है कि वह हीरो और तुम विलेन बन गये हो। तुम पूछते हो "यह क्यों ?" भले आदमी, स्वयं ही तुम स्वीकार करते हो कि तुममें कमज़ोरियाँ थीं और नैयर के व्यक्तित्व का एक उदात्त पहलू था। इसलिए, ऐसी परिणति स्वाभाविक थी। तुम्हें यह कला की हत्या जान पड़ी है। तुम अपने अहं को ही कला समझते हो ? तुमने इसे कला की हत्या तो कह दिया परन्तु यह नहीं संकेत किया कि तुम्हारे विलेन बन जाने और नैयर के हीरो बन जाने के विकासक्रम में तुम्हें कहानी किस स्थान पर उखड़ी हुई और अस्वाभाविक लगी ? और यदि उपन्यास में इस विकास की प्रक्रिया को तुम स्वाभाविक, जमा हुआ और रसमय मानने के लिए मजबूर हो तो इसे कला की हत्या न कहकर इसे कला का कौशल क्यों नहीं मानते ? क्या तुम इसे लेखक की परिस्थितियों का प्रभाव दिखाने की सफलता नहीं कह सकते ?

पुरी, तुमने समझदार और अदीब होकर भी हीन-भावना के कारण अपने पत्र में क्या असंगत बात लिख दी है। तुम कहते हो "जिसे आपने हक़ीक़त बनाकर पेश किया है वह अफ़राद की व्यक्ति की--हक़ीक़त तो है---पर ज़िन्दगी की हक़ीत नहीं हैं।" तुम बताओ, क्या व्यक्ति का सत्य जीवन का सत्य नहीं होता ? क्या व्यक्तियों का जीवन नहीं होता, समाज का ही जीवन होता है ? क्या व्यक्तियों के अभाव से समाज के जीवन और सत्य की कल्पना कर सकते हो ? क्या व्यक्ति को नगण्य मानना ही मार्क्सवाद और समाजवाद है ? तो फिर नाज़ीज्म और फासीज्म क्या होगा ? बेटा, व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के जीवन के सत्य का समुच्चय ही समाज और सामूहिक जीवन का सत्य होता है। समाजवाद का लक्ष्य भी अन्ततः व्यक्तियों का उन्नयन होना चाहिए।

पुरी, तुम्हें न जाने किस नादान मार्क्सवादी ने बहका दिया है कि 'झूठा सच' की कहानी से ज़िन्दगी को बढ़ाने का समाजवादी आदर्श पूरा नहीं हुआ। 'झूठा सच' की कहानी में ज़िन्दगी को बढ़ाने के दृष्टिकोण का आधार मानवीय न्याय की भावना है। मानवीय न्याय की भावना और समाजवादी आदर्शों में क्या विरोध हो सकता है ? तुम्हें सही मार्क्सवादी बनना है तो सही ढंग से सोचना भी सीखो। तुम्हें उत्तेजना देने वाले नादान लोग ही मार्क्सवादी नहीं हैं, अन्य लोग भी मार्क्सवादी हैं और उन लोगों ने 'झूठा सच' में अपने आदर्शों का विरोध नहीं देखा। दृष्टिकोण सही होने पर तुम 'दिव्या' और 'देश द्रोही' के

पात्रों को भी यथार्थ के परिवेश में देख सकोगे। शायद तुम्हें मालूम होगा कि केरल में भी मार्क्सवादी हैं और उन लोगों ने 'दिव्या', 'देशद्रोही' और 'झूठा सच' से आकर्षित और संतुष्ट होकर इन पुस्तकों के अनुवाद मलयालम भाषा में प्रकाशित किये हैं। शायद सोवियत भूमि में भी मार्क्सवाद को समझने वाले कुछ लोग होंगे। मुझे कई मास पूर्व मास्को और लेनिनग्राद से पत्रों द्वारा सूचना मिली थी कि 'झूठा सच' के दोनों भागों का अनुवाद रूसी भाषा में हो गया है और पुस्तक छप रही है। रूसी अनुवाद की भूमिका-लेखक श्री चैलीशेव ने इस उपन्यास की तुलना रूस के आधुनिक प्रमुख उपन्यास-लेखक शोलोखोव के डान नदी के तट के जीवन से सम्बन्धित उपन्यासों से की है और 'झूठा सच' को सोशलिस्ट रीयलिज्म का जीवन्त उदाहरण बताया है।

तुम या तुम्हें शिखण्डी बनाने वाले व्यक्ति जब भी चाहें मेरे यहाँ आकर लेनिनग्राद और मास्को से प्राप्त पत्रों को देख सकते हैं। बताओ, तुम्हें ऐसे मार्क्सवादियों की परख और परामर्श पर भरोसा करना चाहिए? तुम्हारा

यशपाल

प्रियदर्शिनी इन्दिरा को उसके तेरहवें जन्म-दिवस पर

केन्द्रीय जेल, नैनी अक्टूबर २६, १९३०

[illegible] के इस महासमर में हम अपने को कैसे प्रस्तुत करेंगे ? मैं कह नहीं सकता कि हमारे हिस्से में क्या आयेगा, किन्तु जो कुछ भी वह हो, हम यह याद रखें कि हम कोई भी ऐसा कार्य नहीं कर सकते हैं, जो हमारे प्रयोजन के लिये अपयश और हमारे देश के लिये अपमान का कारण हो। यदि हम भारत के सैनिक बनने जा रहे हैं तो भारत का सम्मान हमारे हाथ में है, और यह सम्मान एक पवित्र धरोहर है। प्रायः हम इस उलझन में पड़ सकते हैं कि क्या करें ? उचितानुचित का निश्चय [illegible] सरल भी तो नहीं है। जब कभी तुम इस तरह की उलझन में फंस जाओ एक छोटी-सी कसौटी के प्रयोग करने की मैं तुम्हें सलाह दूंगा—यह कसौटी तुम्हें उलझन से निकालने में सहायक हो सकती है। कोई भी कार्य परोक्ष में या गुप्त रूप से मत करो या कोई भी कार्य ऐसा मत करो जिसे कि तुम छिपाना चाहो। क्योंकि किसी कार्य को छिपाने की इच्छा का तात्पर्य है कि तुम डरती हो, और डरना एक खराब चीज है, और तुम्हारे योग्य नहीं है। साहसी बनो, और सब कुछ अपने आप ठीक हो जायगा। यदि तुम साहसी होओगी, तो तुम भयभीत नहीं होओगी और कोई भी कार्य ऐसा नहीं करोगी जिसके लिये तुम्हें लज्जित होना पड़े। तुम तो जानती ही हो कि [illegible] के नेतृत्व में चल रहे हमारे इस महान् स्वतन्त्रता-संग्राम में गोपनीयता के लिये कोई स्थान नहीं है। यही रास्ता हमें अपने व्यक्तिगत जीवन में भी अपनाना चाहिए। यदि तुम ऐसा करोगी, मेरी लाडली बिटिया, दिन के प्रकाश की तरह तुम हर स्थिति में निडर और पवित्र और निर्विघ्न रहोगी।

—जवाहरलाल

ग्लिम्प्सेज आफ वर्ल्ड हिस्ट्री से शोभा अग्रवाल द्वारा अनूदित

४६ वें जन्म - दिवस पर एक अन्तरंग पत्र

भँवरमल सिंघी

●

ओबेराय पैलेस होटल, कमरा नं० ...
श्रीनगर, काश्मीर, ९ अगस्त, '६...

प्रिय शीले,

नौ अगस्त है ! ज़िन्दगी के पूरे ४६ वर्ष पार कर ४७वें वर्ष के प्रथम प्र... की प्रथम किरणें होटल के कमरे में प्रवेश कर रही हैं। मैं हूँ, बेड है और ... अभी रख गया है बैरा पास ही बेड-टी; इसके अलावा जो कुछ है, अन्दर ... अन्दर। ४६ वर्षों के पन्नों पर मेरा अन्दर दौड़ लगा रहा है। कहीं आह्ला... के दो क्षणों में ठहर जाता हूँ और जो होकर चला गया है––आज नहीं है, उसे ... recreate कर रहा हूँ––और सिहर उठता हूँ उन क्षणों के सामने जो ... और वेदना को लिये आज भी सोये हैं। सोया आह्लाद, सोई व्यथा।

तो, तुम्हें प्यार, आज की सुबह का। व्यथा और आह्लाद का घुला-मि... प्यार। उन क्षणों का प्यार जिनमें मैंने अपने को सृजन किया है, उन क्षणों ... प्यार जिनमें तुमने अपने को सृजन किया है, और उन क्षणों का प्यार जिनमें तु... और मैंने जीवन का सृजन-पुनर्सृजन किया है। आज का––९ अगस्त का हव... जहाज़ तुम तक मुझे नहीं ले जायगा––मेरे इस ख़त को ले जायगा––ख़त ले जाय... मेरी स्मृतियों का सृजन-पुनर्सृजन, मेरी कल्पानाओं-आशा-आकांक्षाओं ... नव सृजन। और जानता हूँ, तुम भी इसी सृजन-पुनर्सृजन में लगी हो... और शाम को दिल्ली पहुँचते ही होटल में पूछूँगा––बेयरा से पूछूँगा––... पत्र है ! वह पत्र तुम्हारा होगा ––होगा न ?

शीले, पुरानी बातें हम दोनों की अलग-अलग हैं––उनमें अपने-अपने ढंग ... मीठा-कड़वा है, पर १४ वर्ष, ३ महीने और २४ दिन हम लोगों ने एक साथ, ... होकर बिताये हैं। एक-से-एक उल्लास के, विभोर कर देने वाले क्षण, ... एक-से-एक व्यथा भर देने वाले क्षण भी। दोनों, हाँ दोनों। और इसी में जीव... का वास्तविक तारतम्य है। पेपर सेट करते वक़्त पिछले वर्षों में जितनी बा... बैठा हूँ––पंत की एक कविता सामने आती है––सुख-दुख। 'जीवन भारी अ... सुख से रे, जीवन भारी अति दुख से रे'––अति से विरक्ति चाहिये। एकपक्षी... जीवन की गति नहीं, अगति है। व्यथा से आक्रान्त जीवन भागने को होता है...

प्रिय से प्रिय, कड़ुवा और तीखा लगने लगता है--उससे भी विरक्ति होती है, जीवन ही काटने लगता है--और तभी सुख भी दूर नहीं दिखाई देता। फिर, सुख-ही-सुख जब पागल बनाने लगता है और मानव-मन को उबाने लगता है, तो व्यथा अपना वरदान लाती है। कवि ने कहा है--"सुख-दुख की आँख मिचौनी रे यह जीवन.... उषा निशा का मिलन।' ज़िन्दगियों का यही क्रम चलता रहता है और हमारी ज़िन्दगी भी इसी क्रम में है। क्रम तो क्रम है--हर क्षण दूसरे क्षण से जुड़ा हुआ है--कठिनाई होती है जब हम एक क्षण को दूसरे से काटकर देखने लगते हैं। वह देखना अपूर्ण है--वह एक पक्ष है जो पूरा नहीं है, उस पर से हमारे जो विचार, जो कल्पनाएँ बनेंगी, वे कटी हुई ही रहेंगी।

आज मैं यहाँ दूर--सबसे दूर, प्रिय-अप्रिय सबसे दूर (बात करने के लिए भी कोई नहीं है) बैठा अपने जीवन के धागे उलझा-सुलझा रहा हूँ। सफलताएँ कम नहीं, और असफलताएँ उससे ज़्यादा। लोग ईर्ष्या करते हैं सफलताओं से, नाम और कीर्त्ति की उपलब्धि से, और असफलताएँ किसी दूसरे की नहीं, मेरी अपनी होकर रह जाती हैं--वे कचोटती हैं। ज़िन्दगी का यह अपूर्ण चित्र, जो सम्पूर्ण हुआ दीखता है। कविता के छोर से मैंने वेदना को खूब गाया और अब कभी-कभी लगता है कि वेदना मुझे गा रही है। कलकत्ता से आते समय रेल में 'सुहाग के नूपुर' पढ़ रहा था। उसमें कहीं एक पंक्ति है--'मनुष्य अपने ही जादू से तैयार की हुई दुनिया में क़ैद है।" और, तब से मैं अपनी जादू की कहानी को याद कर रहा हूँ--सचमुच अपने ही जादूघर में क़ैद हूँ आज। जादू-घर की दीवारें ऐसी बन गई है कि ज़िन्दगी का हर निमंत्रण वहाँ आकर खुद फँस जाता है। लेने आता है, खुद रह जाता है। और, जादू यह दूसरों पर भी हावी होना चाहता है। जो निकट है, प्रिय है, उस पर सबसे ज़्यादा। स्कूल, कालेज, यूनिवर्सिटी के अल्हड़ दिन (नहीं, अल्हड़ कहना ग़लत होगा, यह कम्बख्त जादू तो उसी वक़्त सवार हो गया था) नियमों की, व्यवस्था की, मर्यादा की संघर्ष की कहानी है--और फिर घर, कुटुम्ब, समाज और देश--सबसे ऊपर बुद्धिवाद को लिये ऐसे कर्तव्य ओढ़ लिये कि और कुछ के लिए जीवन में कोई द्वार खुला नहीं रह गया। मैं एक कर्तव्य और उत्तरदायित्व भर रह गया--इसमें 'बाहर' मेरा फैला--बड़ा हुआ और जो कुछ हो सकता था, वह हुआ पर भीतर का संकोच बढ़ा। बाहर की तृप्ति तो बढ़ी, भीतर केवल भूख बनकर रह गया।

मेरी बाहर की दुनिया में हज़ारों-हज़ारों व्यक्ति आये, और हैं, पर भीतर....? बाहर में चमक है--साधन और सुविधा का योग है। पर भीतर तो मैं कुंठित हूँ--जल रहा हूँ--उस जलन में क्यों कोई अपने को जलायेगा ? जलन की तपिश तेज़ होती है तो जलन को समझने की कोशिश करनेवाला व्यक्ति भी भागता है, भाग सकता है। मैं अपने आस-पास की ज़िन्दगियों को इससे काफ़ी भिन्न पाता हूँ। एक बार बहुत अच्छा लगता है, उनसे ईर्ष्या होती है। तभी मेरा जादू फिर सिर पर सवार होकर मुझे ऐसा बाँध देता है कि मैं बन्धन की बात ही कहता-करता रहता हूँ। तुम्हारे साथ मेरे व्यवहार में भी यही अक्सर हो जाता है। मेरा जादू मुझे ही नहीं, तुम्हें भी बाँध रखना चाहता है--शायद यह जादू आन्तरिक ईर्ष्या ही हो बाहर से। तब लगता है--बार-बार लगता है कि मैं दूसरों को ठीक नहीं समझता या कि दूसरे ही मुझे ग़लत समझते हैं। मैं आज दूसरों को सामान्य की भूमि पर ठीक-ठीक समझने की कोशिश करता हूँ, दूसरे मुझे मेरे 'बाहर' के बिना समझने से मानो इन्कार कर रहे हैं। तुम अक्सर कहती हो कि मैंने तुम्हें नहीं समझा। यह ठीक नहीं। समझने की ही बात है तो कहूँगा कि तुम मुझे नहीं समझ पाईं। यों इतनी बात साफ़ है कि मेरे जादू की दीवारें जो मुझे बाँधे रखना चाहती हैं, तुम पर भी हावी होना चाहती हैं। सचमुच मैं इन दीवारों को तोड़ना चाहता हूँ क्योंकि, देख रहा हूँ, इन दीवारों ने मुझे तोड़ दिया है। कोई भी इन दीवारों के इधर नहीं आ पाता और मैं जीवन से कटा रह जाता हूँ। मैं निकलने की कोशिश करूँ या कोई साहस कर दीवारों के भीतर पैर रखे तो दीवारें शोर मचा उठती हैं और मैं दीवारों के शोर में डूब जाता हूँ। तुम इन दीवारों के इस पार--जिधर मैं हूँ--आ चुकी हो, पर ये दीवारें तुम्हारे जीवन में सहज नहीं हैं। हों भी क्यों ? मैं ही क्या इनमें सुखी हूँ-संतुष्ट हूँ ? तुमने एक सामान्य जीवन जिया है। आज एक असामान्य जीवन में घिरी हुई हो। असामान्य को सामान्य बनाने--कम-से-कम सामान्य बनाने की कोशिश में हो। मैं असामान्य पर से असामान्य को लेकर चला और असामान्य ही मैं हो गया--रह गया। अब जब सामान्य की ओर देखकर मैं कुछ हल्कापन अनुभव करने लगता हूँ और उसे पकड़ रखना चाहता हूँ तो मेरा जादू फिर मुझे आ घेरता है और मैं उसे पकड़ने से वंचित रह जाता हूँ। मैं मेरे जादू की पकड़ में हूँ, मेरी पकड़ में कोई नहीं।

बेड है, बेड-टी है और मैं। यानी कि आज तो बाहर भी वैसा ही हूँ--जैसा अन्दर। मुक्त बाहर, मुक्त अन्दर। क्या आज के ये क्षण जीयेंगे ? सातवाँ पन्ना शुरू करूँ ? चाहे जितना लिख सकता हूँ----मुक्त लेखनी, मुक्त मन, पर हवाई जहाज़ पकड़ना है--छोड़ूँ !

तुम्हारा,

भँवरमल

● आज के युग में पाठक महज निष्क्रिय पाठक नहीं, बहुत बड़ी शक्ति है—बशर्ते कि स्वयं पाठक अपनी इस शक्ति के प्रति जागरूक हो।

●

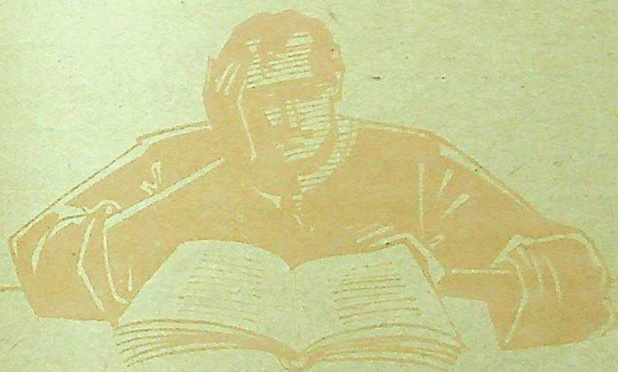
प्रिय भाई सुरेश जी,

नमस्कार लें।

आपका पत्र मिला। आपका प्रश्न मार्मिक है कि लेखक तो लेख लिखकर और विचारक विचार प्रकट करके राष्ट्रीय निर्माण में योग दिया करते हैं, पर पाठक, जो रचना कर सकते ही नहीं, किस प्रकार योग दे सकते हैं?

१९३२ में मैं कांग्रेस-कार्यकर्ता के रूप में फैजाबाद जेल में था। भावुक कवि श्री बालकृष्ण शर्मा नवीन भी वहीं थे। तब तक उन्होंने विवाह नहीं किया था। मेरी पत्नी मुझसे मिलने को जेल में आई, तो वह नवीन जी से भी मिली। उसके जाने के बाद नवीन जी ने जब मेरी पत्नी की बहुत तारीफ़ की, तो मैंने हँसी में कहा, "देखिये, मेरी पत्नी को देखकर आपको ईर्ष्या हो रही है। इसीलिए तो कहता हूँ कि विवाह कर लें। मैं जल्दी ही जेल से छूटनेवाला हूँ और आपके छूटने में अभी देर है, तो बताइये, आप कैसी पत्नी चाहते हैं? मैं लड़की तलाश कर रखूँगा, आप आकर विवाह कर लें।"

नवीन जी गम्भीर हो गये, कुछ बोले नहीं, तो मैंने कहा, "आप ऐसी पत्नी चाहते होंगे, जो कविता लिखती हो?"



पाठक क्या कर सकता है

बोले--"अरे मित्तर, कविताएँ तो मैं ही बहुत लिख दूँगा, पर वह ऐसी हो कि कविताएँ लिखवा सके।" उनका आशय यह था कि उसमें प्रेरणा देने की शक्ति हो।

जीवन-शास्त्र के अनुसार नारी प्रेरणा है, पुरुष संघर्ष! वही बात पाठक और लेखक-विचारक की है। अच्छा पाठक लेखक को प्रेरणा दे सकता है और उसका मन बढ़ा सकता है कि वह और लिखे, और अच्छा लिखे! विदेशों में एक अच्छी प्रथा है कि पाठक को यदि कोई लेखादि अच्छा लगता है, तो वह उसे धन्यवाद का पत्र लिखता है और यदि कोई बात उसे पसंद नहीं आती, तो वह उसका भी ज़िक्र करता है। इससे लेखक को बल भी मिलता है और सुझाव भी। हर अच्छे काम पर वहाँ पत्र लिखने की उत्तम प्रथा है।

१९२७ में कर्नल लिंडवर्ग ने ३२ घंटे विमान उड़ाकर अटलांटिक महासागर पार किया था और न्यूयार्क से पेरिस पहुँचे थे। तब यह असाधारण काम था। इस उपलक्ष में कर्नल को एक लाख तार, पैंतीस लाख चिट्ठियाँ और चौदह हज़ार पार्सल मिले थे।

पिछली लड़ाई में एक प्रसिद्ध पत्रकार स्वयंसेवक बनकर गया। दुर्भाग्य से वहाँ उसका दाहिना हाथ कट गया। पत्रों में समाचार छपा कि उसे उसके घर भेजा जा रहा है। युद्ध-क्षेत्र से दस दिन बाद जब वह घर पहुँचा, तो डाकखाने में चालीस हज़ार रुपये के मनिआर्डर उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। इन मनिआर्डरों में चार-चार आने के ही कई हज़ार थे! मतलब यह कि उस विमान के प्रति अपना आदर-भाव प्रकट करने में उसके देश के ग़रीब से-ग़रीब आदमी ने हिस्सा लिया था।

लिंडवर्ग को पत्र भेजने वाले और घायल पत्रकार को मनिआर्डर भेजने वाले ये सब लोग अखबारों के पाठक ही तो थे। क्या नवीन जी की चाह के अनुसार ये वही न थे, जो कवि से कविता और लेखक से लेख ही नहीं लिखा सकते, वीरों को देश के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करने की भी प्रेरणा दे सकते हैं? यह सोचना कि पाठक का राष्ट्रनिर्माण में कोई महत्त्व नहीं, एक भूल है।

हमारे यहाँ कहा जाता है कि अच्छे सिनेमा मुश्किल से तीन दिन चल पाते हैं, पर गंदे फ़िल्म तीन सप्ताह ही नहीं, तीस सप्ताह चलते हैं। यह किसके कारण है स्थिति? दर्शकों के कारण ही तो!

अच्छे ग्रंथों का १००० प्रतियों का संस्करण वर्षों नहीं बिकता और गन्दी पुस्तकें लाखों बिक जाती हैं। यह किसके कारण है स्थिति? पाठकों के कारण ही तो! अच्छे विचार देनेवाले पत्र घाटे में चलते हैं, बन्द हो जाते हैं, पर नंगी तस्वीरें और नंगे विचार छापने वाले पत्र मालामाल हो जाते हैं। यह किसके कारण है स्थिति? ग्राहकों के कारण ही तो!

एक शहर के एक मुहल्ले में एक स्त्री बहुत फ़ैशनेबिल थी। वह वेश्याओं जैसा चटक-मटक शृंगार कर और अधनंगा वेश धारण कर निकलती। सब चर्चा करते, निन्दा करते, पर कोई रोक न पाता। एक सुधारवादी युवक ने उसे एक दिन एक कार्ड लिखा--"बहन, मर्यादा बड़ी चीज़ है।"

इसके बाद भी एक दिन वह उसी तरह बाहर निकली। उस युवक ने उसे फिर कार्ड लिखा— "बहन, लाज से बड़ा कोई भूषण नहीं।" और इसके बाद उस युवक ने प्रति-दिन उसे एक पत्र लिखा, कई दिन तक। उस महिला ने अपना रंग-ढंग बदल लिया। यह पाठक, दर्शक, ग्राहक, यानी एक साधारण नागरिक की शक्ति है। क्या यह शक्ति प्रभावपूर्ण नहीं है? उपयोगी नहीं है? यह महत्वपूर्ण नहीं है? पाठक यदि पत्रों-पुस्तकों में पढ़ी रचनाओं पर अपनी स्पष्ट सम्मति देने की आदत बना लें, तो वे समाज के श्रेष्ठ प्रहरी सिद्ध हो सकते हैं।

पंजाब में एक स्कूल के पास म्युनिसिपैलिटी ने कूड़ाघर बनवा दिया। यह बहुत अनुचित बात थी। सम्वाददाता ने इसका समाचार एक पत्र में छपा दिया, पर म्युनिसिपैलिटी ने ध्यान नहीं दिया। कुछ दिन बाद सम्वाददाता ने दूसरा समाचार छपाया। इसे पढ़कर पत्र के एक जागरूक पाठक ने म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन को एक पत्र लिखा और उस कूड़ाघर को हटाने का अनुरोध किया और प्रति दिन एक पत्र लिखने का नियम बना लिया। इस तरह तीन महीने में उस पाठक ने चेयरमैन को ९२——आठ कम सौ——पत्र लिखे। चेयरमैन परेशान हो गया और उसने कूड़ाघर हटवा दिया। कहना चाहिये, उस पाठक ने यह पत्र-आन्दोलन किया। विचारणीय बात यह है कि यह एक अकेले आदमी का आन्दोलन था; इसीलिए उसे ९२ पत्र लिखने पड़े।

यदि ९ नगरों के ९ पाठक इस आन्दोलन में भागीदार होते, तो एक-एक को दस-दस ही पत्र लिखने पड़ते और ९० नगरों-ग्रामों के ९० पाठक भागीदार होते, तो सब को एक-एक ही पत्र लिखना पड़ता। इस तरह जागरूक पाठक बिना किसी संस्था का संगठन किए और पोस्टर छपाए बुराइयों के विरुद्ध शक्तिशाली आन्दोलन कर सकते हैं। पाठक जागरूक हों, तो कोई बुरा पत्र एक दिन भी नहीं चल सकता क्योंकि ताक़तवर से ताक़तवर संपादक-व्यवस्थापक इस झटके को नहीं झेल सकता कि उसके पाठक पोस्टमैन से उस पत्र की डिलीवरी लेने से इंकार कर दें——उसे वापस करा दें। ये वापस आये हुए पत्र किसी भी सम्पादक की होश ठिकाने लगा सकते हैं और उसे अपनी गंदी नीति से दूर रहने के लिए मजबूर कर सकते हैं।

दूसरे देशों में पाठक-मतदान की उत्तम प्रणाली है कि सम्पादक एक विषय छाप देता है और पाठकों से पक्ष-विपक्ष में सम्मति देने की प्रार्थना करता है। वहाँ के पाठक जागरूक हैं और ये राष्ट्रीय प्रश्नों पर सम्मति देना अपना कर्तव्य समझते हैं। इन सम्मतियों का विवरण, पत्र में प्रकाशित होता है और उसे लोकमत का उत्तम प्रतिनिधित्व माना जाता है।

१८वीं सदी के एक फ्रांसीसी विचारक ने पत्रकारों के लिए कहा था——"सफ़र यौरसेल्फ टू बि ब्लेम्ड, इम्प्रिजण्ड, कंडेम्ड, सफर योरसेल्फ इवैन टू बि हैंग्ड, बट पब्लिश योर ओपीनियन्स, इटिज़ नाट आनली ए राइट, बट इटिज़ ड्यूटी।" इसका अर्थ है——तुम्हें कलंकित होने का कष्ट उठाना पड़े, जेल जाना पड़े, निन्दित होना पड़े, ——

यहाँ तक कि फाँसी चढ़ना पड़े, पर अपनी राय ज़रूर प्रकाशित करो---यह एक अधिकार ही नहीं है, एक कर्तव्य भी है।

विचारक शापेन हावर की एक सूक्ति है--"दुनिया में बुराइयों की अधिकता इस लिए है कि बुरे आदमी ज्यादा बोलते हैं, यह बात सही नहीं है। सही बात तो यह है कि भले आदमी समय पर चुप रह जाते हैं, सही बात नहीं कहते हैं, इसीलिए बुराइयाँ अधिक हैं।"

एक पत्रकार के रूप में इन दोनों सूक्तियों से मैं जीवन-भर प्रभावित रहा हूँ और इन्हें मार्गदर्शक मानता रहा हूँ, पर प्रश्न यह है कि क्या ये सूक्तियाँ हरेक जागरूक पाठक का भी जीवनसूत्र नहीं हैं? ज़रूर हैं और इससे स्पष्ट है कि एक पत्रकार, लेखक, विचारक की तरह एक पाठक भी अपनी स्पष्ट सम्मति से अच्छाइयों को प्रोत्साहन दे सकता है और बुराइयों की बाढ़ को रोक सकता है।

बस इस प्रसंग में एक ही प्रश्न और-- क्या पाठक की ज़िम्मेदारी दूसरों के ही प्रति है, अपने प्रति नहीं? इस पर हाँ, नहीं कही जा सकती, तो पाठक को यह भी करना चाहिए जो कुछ वह अच्छा पढ़े, उसे आचरण में ग्रहण करे और जिन बुराइयों के विरुद्ध वह पढ़े, उन्हें यदि वह भी बुराई मानता है, तो उन बुराइयों का त्याग करे, यदि वे उसमें हैं!

एक बुद्धिमान से किसी ने पूछा--"आप इतने बुद्धिमान कैसे हो गए?" उसने उत्तर दिया--"मूर्खों की जो बात मुझे बुरी लगी, उसे-उसे छोड़ता गया और बुद्धिमान हो गया।"

तो एक पाठक अच्छे विचारों का समर्थन करे, बुरे विचारों का अवरोध करे, बुराइयों से बचकर अच्छाइयों को अपने आचरण में ढाले और इस तरह अच्छे देश का अच्छा नागरिक बने। क्या इतना करनेवाले पाठक का कार्य महत्वपूर्ण नहीं है?

सदैव साथी

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

बापू का पत्र : वल्लभभाई के नाम

बात सन् १९४१ ईसवी के ३१ अक्तूबर की है। बापू को अकस्मात् जब इस बात का ध्यान आया कि आज सरदार वल्लभभाई पटेल का जन्मदिवस है, तो उनका मन स्नेह से पुलकित हो उठा। उन्होंने अविलम्ब एक पत्र लिखा और उसे सरदार के पास भिजवा दिया :

'भाई वल्लभभाई!

सुना है, आज आपका जन्मदिवस है। इसलिए सेवा के वर्षों में से एक वर्ष तो गया। यह कामना करना कि ऐसे और अनेक वर्ष जायँ, यह कहने के बराबर है कि, आप दीर्घायु हों। देखना, हमें स्वराज्य लेकर ही जाना है।

--बापू।'



नेमिचन्द्र जैन

हिन्दी के एक [illegible] नाट्य-निर्देशक का पत्र—हिन्दी नाटककारों के नाम। आगामी अंक में आप इसका उत्तर पढ़ेंगे हिन्दी के एक शीर्षक नाटककार के शब्दों में

प्रिय बन्धु,

आखिरकार माजरा क्या है? अब तो पानी गले से ऊपर पहुँच चला, और कब तक इंतज़ार करवाएगा? क्या हुआ आपका नया नाटक? कब तक पाने की आशा करूँ? अब तो और देरी की गुंजाइश नहीं बची।

मैं अभी-अभी अपनी नाट्यमंडली की नाट्य-पाठ गोष्ठी से लौटा हूँ और वहाँ जो कुछ मुझ पर बीती है उसके बाद उसी उत्तेजना की अवस्था में आपको यह पत्र लिखने बैठ गया हूँ। इसलिए यदि इसमें कोई बात आपको अप्रिय और तीखी लगे तो उसका बुरा न मानिएगा, उत्तेजनाजन्य ही समझकर क्षमा कर दीजिएगा। आपसे नाटक लिखने की माँग करते समय पिछली बार मैंने अपने अनुरोध की पूरी पृष्ठभूमि आपको नहीं बताई थी। पर अब उसे बताए बिना कोई उपाय नहीं।

बात यह है कि दिल्ली में हर भाषा की--हिंदी की भी--नाटक संस्थाओं की भरमार है, पर उनमें कभी हिन्दी का कोई गम्भीर साहित्यिक नाटक नहीं खेला जाता। इसलिए यहाँ के कुछेक उत्साही अभिनेता और रंगकर्मियों ने यह निश्चय किया कि हिन्दी के श्रेष्ठ कलात्मक साहित्यिक नाटकों के लिए कोई स्थायी संगठन बनाया जाय। हमारी मंडली इसी निश्चय की उपज है और उसमें बड़े जोश-खरोश के साथ इसी 'सीज़न' में दो नाटक खेलने का निर्णय हुआ--एक कोई गंभीर दुखांतमूलक और एक उत्तम कोटि का सुखांत नाटक, कोई

हमें अभिनेय नाटक दो!

कामदी। आवश्यक अर्थ संग्रह, नाटकघर का चुनाव, अभिनेता-अभिनेत्रियों का सहयोग, सबका कार्यक्रम बनाया गया। अब प्रश्न उठा कि सबसे पहले नाटक कौन-से चुने जाएँ। हम सबके मन में भावना यह थी कि दिल्लीवासियों को, विशेषकर अँग्रेज़ी नाटक खेलने और देखनेवालों को, दिखा दें कि वे ही सब कुछ नहीं हैं। इसलिए हमने तै किया कि टक्कर के नाटक चुनने के लिए सदस्यों की एक विशेष गोष्ठी हो जिसमें उपर्युक्त नाटकों के विषय में वे अपने-अपने सुझाव लेकर आएँ। आज उसी गोष्ठी की बैठक थी पर उसमें जिस स्थिति से सामना हुआ उसका बयान मुश्किल है।

यहाँ अपनी मंडली के बारे में एक बात कह दूँ। आप तो बहुतों से परिचित हैं। ये सभी लोग बड़े ईमानदार और सहृदय रसिक व्यक्ति हैं जिन्हें नाटक से बड़ा लगाव है और उसके विभिन्न पक्षों की गहरी समझ और जानकारी है। उन पर ग़ैर-ज़िम्मेदार होने का आरोप नहीं लगाया जा सकता और न नाटक साहित्य अथवा अभिनय-प्रदर्शन कला की समझ न होने का। उनमें से अधिकांश ने देश-विदेश के बहुत-से श्रेष्ठ नाटक पढ़ रक्खे हैं; कई एक ने उच्च कोटि के प्रदर्शन, शेक्सपियर, इब्सन से लगाकर इओनेस्को, आनुइ, बेकेट, मिलर, विलियम्स, पिरांडेलो तक के नाटक, विदेशी रंगमंच पर देखे हैं; कई ने स्वयं उत्तम अँग्रेज़ी नाटकों में अभिनय-निर्देशन कार्य किया है। एक प्रकार से रंगमंच को श्रेष्ठतम कलात्मक अभिव्यक्ति माध्यम मानने के कारण और उस दृष्टि से हिन्दी नाटक और रंगमंच को समृद्ध कर सकने के लिए ही यह मंडली बनी है। इसीलिए उन लोगों के मानदंड भी कुछ कड़े हैं; उन्हें चाहे जैसे अतिनाटकीय, अस्वाभाविक, तथा रूप और गठन की दृष्टि से दुर्बल नाटक पसंद नहीं आते, क्योंकि उनका उद्देश्य आत्मप्रदर्शन नहीं, किसी-न-किसी प्रकार रंगमंच पर उतरना मात्र नहीं, बल्कि रंगमंच के माध्यम से अनुभूति को, किसी सार्थक महत्त्वपूर्ण जीवन-दर्शन को, अभिव्यक्त करना है।

मुझे आपको यह लिखते हुए सचमुच लज्जा है कि बहुत कम मौजूदा हिन्दी नाटक इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। हमारी मंडली की वह बैठक बहुत देर तक इस प्रश्न से उलझती रही कि कम से कम हमारे पहले दो प्रदर्शन तो ऐसे हों जो एक समुचित साहित्यिक-कलात्मक स्तर स्थापित कर सकें, जिनके द्वारा अभिनेता और निर्देशक तथा उनके साथ ही दर्शक-वर्ग एक गहन नाट्यानुभूति के भागीदार हो सकें। सबसे पहली बात तो हम सभी को यह लगी कि ऐसे नाटक-बहुत कम ही हैं जिन्हें नाटक भी कहा जा सके और साहित्य भी। अर्थात् अधिकांश नाटक घटिया दर्जे के संवादात्मक उपन्यास हैं जिनमें या तो विषय-वस्तु की, भावों-विचारों की गहराई नहीं, या चरित्र अत्यन्त अस्वाभाविक, बनावटी और सतही हैं। बहुतों के घटना-क्रम में कोई एकसूत्रता नहीं, अन्विति नहीं;

कुछ में आंतरिक विकास और नाटकीय परिपाक नहीं, या चरमोत्कर्ष का ही पता ही नहीं चलता। अधिकांश की भाषा भारी-भरकम, साहित्यिक प्रकार की, विश्लेषणात्मक है, उसमें बोलने की भाषा का सहज प्रवाह या चमक या मुहाविरा नहीं है। काव्यात्मकता कहीं-कहीं मिलती है पर उसके पीछे भावों की समृद्धि नहीं, निरा वाक्जाल अधिक होता है। अधिकांश नाटकों के संवादों में या तो गहन भावों की अभिव्यंजना का अभाव है या फिर चुस्ती का, संक्षिप्तता का। संवादों की गठन भी प्राय: बोलने के उपयुक्त नहीं होती और उनमें चरित्रों के अनुरूप विविधता और संगीतात्मकता नहीं मिलती। अधिकांश संवाद या तो एकदम फीके और सौष्ठवहीन हैं या साहित्यकारों की कृत्रिम औपचारिक गोष्ठियों के विवेचन के अधिक उपयुक्त हैं।

खैर, किसी तरह राम-राम करके हम लोगों ने आपके दस-बारह नाटक ऐसे निकाले जिनमें साहित्यिक गुण और रंगमंचीयता दोनों हैं। किन्तु इनमें से अधिकांश पिछले ऐतिहासिक युगों से संबद्ध निकले, जैसे 'स्कंदगुप्त' या 'ध्रुव स्वामिनी'। आप तो समझते हैं कि ऐसे नाटकों को ठीक-ठीक सम्हालना एक शौकिया संस्था के साधनों के बाहर हो जाता है : उनकी वेशभूषा, परिवेश तथा वातावरण आदि के लिए बहुत धन चाहिए; उनके पात्रों के चरित्रों को समझने, रूपायित और अभिव्यक्त करने के लिए अधिक पूर्वाभ्यास, समय आदि की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त नाटक आज की जीवन्त अनुभूति से संबद्ध हो तो दर्शकवर्ग के साथ उसका भाव-विनिमय सहज होता है, अभिनेता भी अपनी सीमित क्षमता, प्रशिक्षण और समय में उनके पात्रों के साथ तादात्म्य स्थापित कर पाते हैं और नाटककार की अनुभूति सहज ही अभिनेताओं और दर्शकों की अनुभति बन जाती है। ऐतिहासिक अथवा इतिहास के किसी पूर्ववर्ती युग से सम्बद्ध नाटकों द्वारा भी यह सब निस्संदेह संभव है, पर वह कहीं अधिक कठिन है, और उन्हें कुछ बाद में ही किसी मंडली को हाथ में लेना चाहिए। इन्हीं सब कारणों से ऐसे नाटकों को हमें छोड़ ही देना पड़ा। यों यह निश्चय इसलिए भी करना पड़ा कि उनमें से दो-तीन—'शारदीया', 'आषाढ़ का एक दिन' 'ध्रुवस्वामिनी'—हाल ही में यहाँ बाहर की या स्थानीय मंडलियों द्वारा खेले भी जा चुके थे; 'स्कंदगुप्त' में पात्रों की संख्या बहुत अधिक थी और 'कोणार्क' में तो कोई स्त्री-पात्र ही नहीं है।

आपके आधुनिक जीवन से सम्बन्धित नाटकों में बहुत से पाठ्य अधिक हैं, अभिनेय कम, जैसे 'राजयोग' 'मुक्ति का रहस्य', 'राक्षस का मंदिर' आदि। कुछेक नाटक तो ऐसे हैं कि उनका नाट्य रूपांतर किए बिना उन्हें नाटक कहना कठिन है! अधिकांश नाटक हलकी-फुलकी बाहरी-ऊपरी समस्याओं को प्रस्तुत करते हैं, उनमें गहरी मानवीय संवेदनाओं का, अपने आपसे उलझते

मनुष्यों के अंतर्द्वन्द्व का, गरजती-उमड़ती वासनाओं-कामनाओं के विक्षोभ का, अदम्य आदिम वृत्तियों की टकराहट का एकदम अभाव है। उनकी अधिकांश स्थितियाँ क्षुद्र भावों और व्यक्तियों को अभिव्यक्त करती हैं, उनमें कोई बहुआयामी व्यापकता तथा विस्तार नहीं। इसलिए उनका मूल नाटकीय कार्य-व्यापार बड़ा सतही और छिछला रह जाता है, जिससे किसी अच्छे अभिनेता को तृप्ति नहीं मिलती। अधिकांश नाटकों के अधिकांश पात्र 'टाइप' अधिक हैं, व्यक्ति कम। अभिनेता उनके द्वारा किसी बड़े मार्मिक चरित्र की सृष्टि नहीं कर सकता। आपके 'अलग-अलग रास्ते', 'छठा बेटा', 'अंजोदीदी', 'उड़ान' आदि नाटकों में प्रायः यही कठिनाई है। उनके घटना-विधान में, नाट्य-स्थितियों में प्रायः न तो वह आंतरिक तर्क-संगति मिलती है जिसके बिना यथार्थवादी नाटक टिक नहीं सकता, और न कोई ऐसी गहरी और सूक्ष्म सांकेतिकता जिसके बिना भी नाटक में गहराई नहीं आती। यह नहीं कि उनको मंच पर उतारा नहीं जा सकता, पर उस कार्य में सार्थक कलात्मक श्रम नहीं, मन-बहलाव भले ही उससे हो जाय। शायद 'क़ैद' में सांकेतिकता तो है पर उसकी स्थितियों में आंतरिक विश्वसनीयता कम है और उसके आधार में ही एक प्रकार की ऐसी कृत्रिमता है कि बड़ी कठिनाई होती है। आपके 'मादा कैक्टस', 'तीन आँखों वाली मछली', 'नाटक तोता-मैना', 'सूखा सरोवर', 'रक्त कमल' 'रात रानी' आदि नाटकों में विषयवस्तु महत्त्वपूर्ण लगती है; उसमें नवीनता तथा शिल्प के चमत्कार भी कई हैं; और वे लिखे भी रंगमंच के

हिन्दी के नये लेखक श्री [illegible] [illegible] को लिखा प्रसिद्ध कवि श्री रामधारी सिंह दिनकर का एक पत्र :

आर्यकुमार रोड, पटना, ४.
१३-४-६३

प्रियवर,

कविता मिली। पढ़कर बड़ा मज़ा आया। मुझे आपने जो गालियाँ दी होंगी, उन्हें मैंने नहीं देखा, न आज से पहले यह बात मुझे मालूम थी। लेकिन अच्छा हुआ कि आपने स्वयं अपना मार्जन कर लिया। यह शुद्ध हृदय का लक्षण है, यह इस बात का संकेत है कि आप वैयक्तिक मालिन्य से ऊपर रहना चाहते हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चरित्र ही प्रधान है।

'परशुराम की प्रतीक्षा' से दो प्रकार के लोग बहुत नाराज़ हैं। एक वे जो यह समझते हैं कि चीनी आक्रमण के विरुद्ध जगने वाला क्रोध जल्दी शान्त हो जाय, नहीं तो यह क्रोध देश की प्रगतिशील प्रवृत्तियों के विरुद्ध पड़ेगा। दूसरे वे लोग जो यह समझते हैं कि युद्ध का जवाब युद्ध से न देने की भावना यदि बढ़ी तो वह गाँधी-धर्म के प्रतिकूल जायगी।

मेरे जानते दोनों के दोनों गलती पर हैं। भारत साम्यवादी हो जाय तब भी चीन से उसकी खटपट चलती रहेगी जैसे रूस के साथ चल रही है। और गाँधी धर्म को भी मैं एक दूसरे रूप में समझता हूँ। गाँधी जी कहते थे, कायरता सबसे बुरी चीज़ है, उनके बहुत से शिष्य ऐसे हैं, जो केवल यह मानते हैं कि अहिंसा सबसे अच्छी चीज़ है। लेकिन जो कायर भी नहीं है और अहिंसक भी नहीं, वह क्या करे? इस सवाल का जवाब गाँधीजी के पास था लेकिन, सर्वोदय वालों के पास नहीं है। इसीलिए उनमें से कुछ लोग मुझे हिंसावादी मानकर मेरी निन्दा करते हैं।

लिए ही गए हैं। पर साधारणतः उनमें भावुकता बहुत है और स्थितियों में अतिरंजना है, तथा पूर्वापरता की पर्याप्त कसावट नहीं रहती। इसलिए अंत तक पहुँचते-पहुँचते वे बिखर जाते हैं। उनमें प्रायः अनावश्यक अवांतर प्रसंग, परिस्थितियाँ, घटनाएँ, पात्र और उनकी प्रतिक्रियाएँ बहुत हैं, जिनसे प्रभाव की समग्रता कम हो जाती है। 'डाक्टर' की विषयवस्तु की तीव्रता और तीक्ष्णता पर्याप्त नहीं और परिणति में बड़ी आकस्मिकता और यांत्रिकता है। 'सुबह के घंटे' प्रायः पाठ्य अधिक है और 'खंडित यात्राएँ' के गठन और चरित्रों में बड़ा गोलमाल है। एक नवीन नाटक 'अधूरी आवाज' पहले अंक के बाद जाने किस लोक में खो जाता है। 'नया समाज' या 'नए हाथ' जैसे सुखांत नाटकों में हलकापन बहुत है और गठन अथवा चरित्र-निर्माण की दृष्टि से उनमें इतने बड़े-बड़े छिद्र हैं कि कुशल-से-कुशल निर्देशक भी उन्हें भर नहीं पाता। 'अंधा युग' में अवश्य गहरी नाटकीय संभावना है, पर उसकी पृष्ठभूमि पौराणिक युग की है और वह काव्य-नाटक है जिसकी प्रेषणीयता बहुत ही सीमित दर्शकवर्ग के लिए ही हो सकती है।

पिछले १५ वर्षों में देश कहाँ से कहाँ पहुँचा है, यह बात मेरे प्रसंग में भी देखी जा सकती है। १९४६ में कुरुक्षेत्र निकला था। उसी में यह पंक्ति थी "जिनको सहारा नहीं भुज के प्रताप का है, बैठते भरोसा किए वे ही आत्मबल का।" लेकिन कुरुक्षेत्र पर द्वेष के उतने तीखे बाण नहीं बरसे थे जितने परशुराम पर बरस रहे हैं। २७ साल की अहिंसा-साधना का नतीजा यह निकला कि छह लाख हिन्दू और मुसलमान पाप की तलवार से काटे गये। यदि देश की निर्वीर्यता नहीं टूटी, तो वह कितना बलिदान लेगी, यह कवि और चिन्तक समझ सकते हैं। बाक़ी लोगों की समझ में यह बात तब आयेगी जब दुर्घटना घटित हो चुकेगी। कितना लिखूँ? केवल आपको धन्यवाद देता हूँ। आप बड़े अच्छे हैं।

आपका—दिनकर

इन सबके अतिरिक्त ऐसे भी बहुत-से नाटक हैं जो पृथ्वी थियेटर्स के प्रभाव में लिखे गए हैं। उनकी न तो विषयवस्तु और न उनका शिल्प किसी बड़े कलात्मक प्रयत्न के लिए पर्याप्त है। वास्तव में आज के हिन्दी नाट्य साहित्य की मुख्य दुर्बलता यही है कि न तो वह उच्च कोटि के कलात्मक रंगमंच के लिए उपयुक्त है, न सर्वथा व्यावसायिक प्रकार के रंगमंच के लिए। जैसे बँगला में व्यवसायी रंगमंच के लिए उपयोगी ऐसे नाटकों का अभाव नहीं जिनमें नुस्खे के अनुसार बहुत-सा रोमांस, काफ़ी करुणा और भावुकता, थोड़ी-सी सामाजिक आलोचना, उचित मात्रा में हास्य, यथास्थान गीत और नृत्य, तथा थोड़े-बहुत रंगमंचीय चमत्कार दिखाने के उपयुक्त स्थलों का आवश्यक सम्मिश्रण सहज ही मिलता है। नियमित व्यवसायी रंगमंच के अभाव में हिन्दी में ऐसे नाटक भी नहीं हैं और कलात्मक नाटक भी बहुत कम हैं; जो हैं वे प्रायः शिथिल और किसी-न-किसी घातक दुर्बलता से जकड़े हुए हैं।

हमारी मंडली की गोष्ठी में इन्हीं सब दृष्टियों से बहुत-से नाटकों की जाँच-पड़ताल, आलोचना-प्रत्यालोचना हुई। पर हम कोई

दो नाटक पूरे आत्मविश्वास के साथ न चुन सके। पता नहीं, आपको इस बात से सहानुभूति होगी या नहीं कि बहस के इस परिणाम ने हमें बेहद ग्लानि से भर दिया। हमें सचमुच इस बात का अनुमान न था कि हमारा नाटक-साहित्य रंगमंच की दृष्टि से इतना कम और इतना सीमित और इतना अपर्याप्त है। हिन्दी में रचनात्मक प्रतिभा की तो इतनी कमी नहीं। फिर नाटक ऐसा उपेक्षित क्यों ?

जो हो, इस कठिनाई से उबरने के लिए गोष्ठी में कुछ सदस्यों ने हारकर यह प्रस्ताव किया कि अपने ही देश की प्रादेशिक भाषाओं के नाटकों के अनुवाद या विख्यात विदेशी नाटकों के हिन्दी रूपांतर क्यों न देखे जाएँ। हममें से कोई इसे बहुत उचित नहीं समझता, यद्यपि हमारी स्थिति हमें यही मार्ग अपनाने को लाचार कर सकती है। बहुत-से रंग-संगठन ऐसे ही सब कारणों से विदेशी नाटकों के हिन्दी रूपांतर अभिनीत करते रहते हैं। और यद्यपि किसी-न-किसी रूप में इससे भी हिन्दी का नाट्य साहित्य समृद्ध होता है और रंगमंच को भी गति मिलती है, फिर भी विदेशी नाटकों के रूपांतरों पर कोई जीवन्त और सार्थक और महत्वपूर्ण रंगमंच नहीं चल सकता। और यदि हमें हिन्दी में वास्तविक कलात्मक रंगमंच स्थापित और विकसित करना है, तो इस स्थिति को बदलना ही होगा।

दूसरे शब्दों में, आपको ही हमारा साथ देना होगा। हिन्दी के रंगमंच के विकास में, उसकी समृद्धि और सर्वांगीण परिपुष्टता में आपका भी उतना ही हित है जितना हमारा। और अब वह क्षण आ गया है जब कुछ और आत्मीयता और गंभीरता के साथ आप हमारी ओर ध्यान दें। मैं स्वीकार करता हूँ कि मेरे बहुत से सहधर्मी नाटककार की उपेक्षा करते हैं; वे सस्ते मनोरंजन और प्रहसनों की तलाश में रहते हैं; उन्हें अच्छे नाटक की परख नहीं; उनमें न तो कलात्मक विवेक है न ऐसा साहस कि अपने दर्शकों की रुचि बदलने के लिए प्रयत्नशील हों; बहुतों को गंभीर नाटक पढ़ने का धीरज नहीं; न उन्हें और उनके अभिनेताओं को परिश्रमपूर्वक, लगन और कलात्मक संयम के साथ पूर्वाभ्यास की आवश्यकता का ध्यान है। इस बात से भी मेरा सिर शर्म से नीचा होता है कि बहुत से निर्देशक और अभिनेता हिन्दी के नाटकों को पढ़े बिना ही बुरा बताते हैं और जो थोड़े-से अभिनय-प्रदर्शन के उपयुक्त नाटक हिन्दी में हैं भी उनसे भी परिचित नहीं। उन्हें हिन्दी भाषा, उसकी शक्ति और सीमा तथा साहित्य की कोई जानकारी नहीं और न उसके प्रति कोई आदर ही। राष्ट्रभाषा बनाए जाने की राजनैतिक आवश्यकता के दबाव में हिन्दी तो वैसे भी 'ग़रीब की जोरू सबकी भाभी' हो गई है। हर आदमी, अपढ़-से-अपढ़ तक, अपने को उसका माहिर भी समझता है और उसके साहित्य को और साहित्यकार को भला-बुरा

कहना अपने बौद्धिक जागरण का, अपने आधुनिक होने का लक्षण मानता है। कई रंगकर्मी भी हिन्दी के प्रति इस सामान्य व्याधिपूर्ण दृष्टि के दोषी हैं और उनसे आपकी ऐसी सभी शिकायतें सही हैं। पर फिर भी अब आपको हमारी बात सुननी ही होगी और हमारे लिए ऐसे नाटक लिखने होंगे जिन्हें अभिनीत करके हम न केवल अपनी भाषा को, अपने रंगमंच को, आपको और अपने काम को, गौरव दिला सकें, बल्कि अपने दर्शकों को एक वास्तविक कलात्मक अनुभूति में साझेदार कर सकें।

विश्वास कीजिए, हमारी माँग आकाश-कुसुम की नहीं। हम चाहते हैं कि हमें ऐसे नाटक मिलें जिनमें आज के इंसान का भीतरी और बाहरी संघर्ष भी भावुकता बिना, पूरी ईमानदारी और निर्ममता के साथ चित्रित हो—कल्पित नहीं वास्तविक संघर्ष—और संघर्ष ही, जो व्यक्तियों को विचलित और विक्षुब्ध करता है और उन्हें निष्क्रिय निरपेक्ष, गतिहीन, नहीं रहने देता। हम ऐसा ही कार्य-व्यापार चाहते हैं जिसे हम मंच पर मूर्त करके दिखा सकें; अचल गतिहीन स्थितियाँ नहीं, बल्कि गतिमान जीवन-संघर्ष। इससे यह न समझिए कि हम बाह्य धर-पकड़, उठापटक और सनसनीखेज घटनाओं की माँग करते हैं। हम नाटकों में चाहते हैं सक्रिय इंसान, बाह्य और आंतरिक परिस्थितियों के दबाव में स्वयं बदलते हुए और अपने संकल्प से परिस्थितियों को, परिवेश को तथा अन्य व्यक्तियों को बदलते हुए। घटनाएँ नहीं, हमें जीवित गतिशील चरित्र चाहिए। और चाहिए उनके लिए विश्वसनीय, आंतरिक संगतियुक्त परिवेश, इच्छित-कल्पित नहीं, आरोपित और तर्कशून्य नहीं। इससे हमारा अभिप्राय यथार्थवादिता या जीवन की दर्पणवत् अनुकृति से नहीं, न नीरस समस्या-परकता से है, बल्कि वास्तव में हमें ऐसे नाटक चाहिए जिनमें काव्य हो, भावों का काव्य, नाटकीय काव्य-कार्य-व्यापार का काव्य, केवल शाब्दिक कविता नहीं। हमें कल्पनाशीलता से भय नहीं, नाटक तो है ही कल्पना का खेल, पर कल्पना की भी अपनी आंतरिक संगति तो होती ही है। वही हमें चाहिए, निरा यथार्थ नहीं, निरी कल्पना नहीं, यथार्थ और कल्पना की खिचड़ी नहीं, उनका कलात्मक-भावात्मक समन्वय, उनकी अन्विति।

गठन और शिल्प की दृष्टि से भी नाटकों में अवांतर और अनावश्यक के निष्कासन की बड़ी आवश्यकता है। व्यक्तियों और स्थितियों को उनकी स्वाभाविक परिणति तक पहुँचने देने की उदारता और आत्मसंयम चाहिए। अन्य कलाकृतियों की, विशेषकर साहित्यिक रचनाओं की, सहज-स्वाभाविक अन्विति चाहिए, किसी कृत्रिम नाटकीयता या आरोपित चरमोत्कर्ष की आवश्यकता नहीं। मुख्य बात है संयम, अनावश्यक का बहिष्कार, संक्षेप और सुस्पष्टता। रंगमंच का घनिष्ट परिचय नाटक रचना के लिए, उसके शिल्प पर अधिकार पाने के लिए

निस्संदेह सहायक होता है। पर वह कोई रहस्य की बात नहीं, न उसका कोई हौवा खड़ा करना आवश्यक है। रंगशिल्प के नियम भी अन्य कला-कृतियों के नियमों से मौलिक रूप में भिन्न नहीं। आवश्यकता मौलिक कलाबोध की है और उसी के साथ-साथ रंग-माध्यम की विशिष्टताओं को पहचानने-समझने की। रंगमंच रूपायन का माध्यम है, और नाटक में हर भाव और विचार, व्यक्ति और परिस्थिति, इस प्रकार प्रस्तुत होना चाहिए कि उसे रूपाकार दिया जा सके, मंचन में मूर्त किया जा सके। पर यह सब कोई असाध्य कार्य नहीं और न वह किसी अन्य वास्तविक सर्जनात्मक कार्य से भिन्न है। कविता या कहानी घटिया हो या श्रेष्ठ, पाठक तक सीधे पहुँच जाती है। पर नाटक और दर्शकवर्ग के बीच एक अन्य कलाविधा मौजूद है—अभिनय-प्रदर्शन की। यह मध्यवर्ती विधा एक तरह की छलनी है जिसमें से छन-निकलकर नाटक दर्शक तक पहुँच सके, इसके लिए नाटककार का बड़ा सतर्क रहना आवश्यक है।

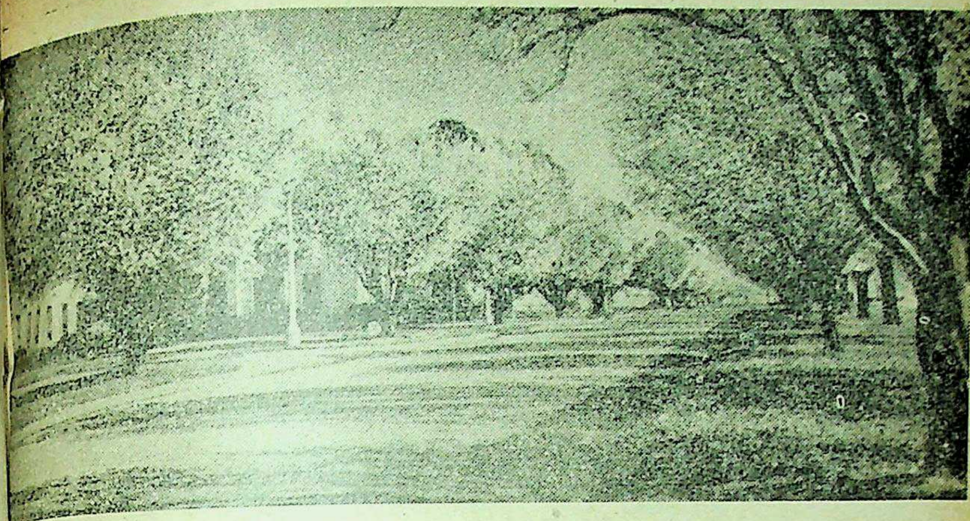
एक बात भाषा के विषय में और कहनी है। हिन्दी के नाटककारों ने नाटक की भाषा को एक ओर तो बहुत शब्द-बहुल बना रक्खा है और दूसरी ओर अत्यन्त काव्यहीन। हमें ऐसे नाटक चाहिए जिनमें कम-से-कम शब्दों में भाव और विचारों की अधिक-से-अधिक काव्यात्मक अभिव्यक्ति हो, जिसमें ऐसी भाषा हो जो बोली जा सके और सुनने में अटपटी, ऊबड़-खाबड़, फीकी या बनावटी न लगे। पर साथ ही वह काव्यात्मक भी हो; रसात्मक हो, संगीत-पूर्ण हो, चित्रमय हो। उसमें एकरसता न हो, बल्कि वह पात्रों के अनुसार विविधतापूर्ण और व्यक्तित्वपूर्ण हो। भोंड़े यथार्थवादी ढंग से नहीं कि बंगाली पात्र अनिवार्य रूप से 'नोमोश्कार' कहे और मद्रासी पात्र 'अइयइ यो' के बिना बात ही न करे, या उसमें विभिन्न बोलियों की झड़ी लगा दी जाय; बल्कि सर्जनात्मक रूप से, पूरे नाटक की शैली के साथ समन्वित रूप में, संतुलन के साथ। नाटक की भाषा मूलतः उसके चरित्रों के आंतरिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होनी चाहिए, केवल उनकी बाहरी-ऊपरी आदतों या अभ्यासों की अनुकृति मात्र नहीं।

पर अब बन्द करूँ। सचमुच उत्तेजनावश बहुत कुछ लिख गया। कहने तो यही बैठा था कि हमारी मंडली को आपके नाटक की बड़ी सख्त ज़रूरत है और जो आप लिख रहे थे उसको शीघ्र ही पूरा कर डालिए। पर बात कहाँ से कहाँ पहुँच गई!

खैर। प्रार्थना यही है कि नाटक तुरंत भेजिए। वरना यह मंडली बैठ जायगी और हमलोग किसी को मुँह दिखाने के क़ाबिल न रहेंगे। मँझधार में न डुबाइएगा।

आशा है आप सानन्द हैं।

साभिवादन—आपका
नेमिचन्द्र जैन



कैनब्रा की एक छायादार सड़क

इन्दु जैन

पत्र बहन के नाम रवीन्द्र का—
कैनब्रा पर !

एक बहुत - बहुत सूना महादेश !
शाम का ढलता सूरज जो पहाड़ियों को
बर्फ़ीला बनाता है।
काली, सर्द हवाएँ चलने से पहले का वक़्त;
और सड़कों का——
बहुतेरी शाम और अँधेरे के बीच जली
बत्तियों का——
सफ़ेद - सा, पीला - सा प्रकाश......

भैया का पत्र : बहन का उत्तर

यानी अब सारी ऊपरी गर्मियाँ छोड़
कैनब्रा धीरे-धीरे ठंडी साँसें लेता है।
अजब 'मूडी' है--बिल्कुल 'सिनिकल'--
न, बिल्कुल नहीं फबता !
लकड़ी की इमारतों में पढ़े-लिखों का जमघट
क्योंकि वो उतने 'सिनिकल' अब भी नहीं
जितना कैनब्रा--
उदास घाटियों में आँसू भरे बादल !
खुली रोशनी में नन्हीं लाल इमारतें !
अरे, और क्या कहूँ
बहन, यही लो--
कैनब्रा का 'एबोरिजनल' नाम !!
* 'यारालुमला' और *'मनूका' का ध्वनिक-माधुर्य !!!

दोस्त, छोड़ दो न मुझे--
फ़िज़ूल उलझते हो !
न हो, साफ़-साफ़ ज़रा सोचो,
देखना चाहो
तो
उलट लो मेरा कार्ड
और भर लो आँखों में
'कैनब्रा का ऑटम'।
(टैराकोटा-सा आधातपा)

पहचान लो--
'सिनिक' होने के नाते
न फबने वाले कैनब्रा के प्रति
मेरा प्यार--
तब कहो;
बड़ा 'इन्टलेक्चुअल'--मैं या तुम ?

---

* कैनब्रा की दो बस्तियाँ

उत्तर भैया के नाम—इन्दु का

सूने महादेश के उत्तर में
कोलाहल भरा नगर भेजती हूँ।
घनी आबादी से बसा हुआ,
बादलों के एस्बेस्टस से पटा आसमान–
और बस
जब बरसता है तो बरसता ही जाता है।

लेकिन गमलों में कोंपल उगती हैं,
लम्बे हो आते हैं पौधे।
सपनों में लगता है
जैसे
ये पौधे ही
'छायादार जंगली रस्ते' बनाते हैं।

और
यहाँ 'सिनिक' घर-गाँव नहीं मिलते :
मिलते हैं 'सिनिक' व्यक्ति
जिन्हें देख
मन उदास हो जाता है।
वो
जो अभी तक
बीस बरस पुरानी दुनिया की बातों को
सोच-सोच दुहराते,
अपनी बताते हैं।

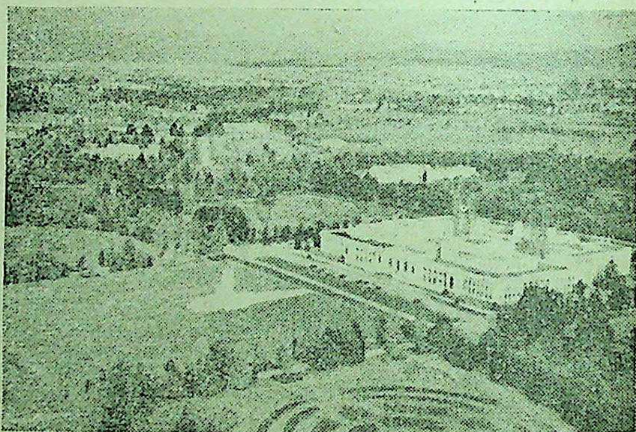
शायद
मैं भी उन्हीं में हूँ—
सिनिक और सीमित और स्वार्थी!
तेरे कैनबरा के पेड़ों को चूमकर
वाहियात लिखती हूँ—
जहर उगलती हूँ।

--क्योंकि
किसी पत्र ने कविताएँ
सधन्यवाद वापिस भेजी हैं--

और फिर
अपने ही जहर को
'बूज़' समझती हूँ,
पीती हूँ।

और
अपना ही
'गज़ीबो' बनाती हूँ
'मक़बरा बन जाए राहत मिल सके मुझको'......
वग़ैरह, वग़ैरह.......

यार,
'यारालुमला' की बातें क्यों करते हो ?
हम तुम्हारी कविता का
लुक़मा बना गए,
हज़म......नहीं - नहीं......
आत्मसात् कर गए !



कनब्रा--एक विहंगम दृष्टि



गोपीकृष्ण गोपेश

श्री पत्री जोग लिखी सोची-नगर से

गस्तीनित्सा-प्रीमोर्सकाया,[1]
सोची-कफ़काज
७ अगस्त, '६०

आदरणीय डॉक्टर साहब,[2]
प्रणाम ।

एक कार्ड लिख चुका हूँ । मिला होगा । आज ही दूसरा पत्र लिख रहा हूँ, क्योंकि पानी बरस रहा है, और यहाँ तमाम लोग होटलों और अपने-अपने घरों में बन्द हैं । समुद्र-तट वीरान है, वरना अब तक 'ज़ाग्राच' यानी साँवले पड़ने के शौक़ीन बच्चे, जवान, बूढ़े, मर्द-औरतें वहाँ कभी की जमा हो जातीं । यहाँ इसका बड़ा शौक़ है । पुरुष तो कम, पर स्त्रियाँ बड़े ही चाव से हर शाम को

१—होटल-सागरतट; सोची-काला—सागर के किनारे स्थित सुरम्य विरामस्थली, कफ़काज—कॉकेशस ।
२—सुप्रसिद्ध कविवर डॉक्टर बच्चन ।

एक-दूसरे से मिलती हैं तो किसी अनजाने मापदंड से सँवराई नापकर आपस में ही फैसला कर लेती हैं कि किसका दक्षिण आना कितना सफल रहा। देखिये, हमारा बस चले, और पूरा भरोसा हो तो हम भारतीय गोरे होने के लिए वैसे ही कहीं चले जाया करें, जैसे सम्भव होने पर, पूरे भरोसे के सहारे, मास्को और लेनिनग्राद और ऐसे ही दूसरे शहरों के लोग खुली धूप में छः-छः और सात-सात घंटे लेटकर साँवले होने के लिए यहाँ चले आते हैं।....

एक बात की बड़ी तकलीफ़ है....यहाँ लोग भारतीय नहीं समझते मुझे। वे समझते हैं 'ग्रुज़ीन' यानी जॉर्जियाई या आज़रबैजानी। कारण यह है कि जॉर्जिया और आज़रबैजानी लोग हमारे बहुत क़रीब हैं--रंग में, बनावट में, नाक-नक्शे में। मूँछें हमारे यहाँ के लोगों की तरह ही प्रायः हो रखते हैं। गोकि मैं तो मूँछ नहीं रखता, मगर रूसी उन्हीं की तरह 'एक्सेंटेड' ढंग से बोलता हूँ। साफ़ है कि रूसी न ग्रुज़ीन--'कलसों' की मातृभाषा है और न मेरी। पुराने सांस्कृतिक और ऐतिहासिक सामीप्य के आधार पर लगता है कि उच्चारण अवयव भी शायद कहीं एक ही ढंग से काम करते हैं।....

यानी, एक आदमी यहाँ ऐसा नहीं मिला, जिसे मेरे भारत के होने का भ्रम भी हुआ हो, जब कि मास्को में प्रायः लोग खट से बतला देते हैं कि आप भारतीय हैं। गौरव होता है जब वे कहते हैं 'चोरनी इन्दुस' यानी 'काला भारतीय'--मगर इस 'काला' विशेषण का प्रयोग वे पहिले के हमारे अँग्रेज़-हुक्मरानों या दक्षिणी-अमरीका की सरकार चलाने वालों की तरह नहीं करते। वे तो तारीफ़ करते हैं कि अहा, यह साँवले हैं!...हमारे यहाँ भी तो कहते हैं कि

सब रंग कच्चा,
सँवरिया रंग पक्का

तो, सोचता हूँ कि काश कि रंग ज़रा मेरा और साँवला होता तो क्या बात थी! मैंने एक बार 'राजा-भैया'* को लिखा था-यार, क्या मौत है कि अपन भारत के लिए गोरे न हुये और यहाँ के लिए साँवले न हुये गेहुँआ रंग ने बड़ा मारा; खैर....

भाषा का भी यहाँ अजीब मज़ा है। रूसी ग़लत-सही अटक-अटककर भी बोलने लगिये तो संकोच त्याग दीजिये, धड़ल्ले से शब्दों के प्रयोग कीजिये और जागरूक रहकर ज़बान सँवारते जाइये। यहाँ के लोग तो अपनी भाषा को इतना प्यार करते हैं कि किसी अन्य भाषा-भाषी के मुँह से अपनी ज़ुबान सुनकर खिल-खिला उठते हैं--'काक ख़राशो आप गवारित पो रुसकी'--रूसी भाषा यह कितनी अच्छी बोलता है!

यों रूसी भाषा फ्रेंच की तरह मधुर न होने पर भी बड़ी जानदार है और अलग-अलग मनःस्थितियों, क्षणों और भावनाओं का बड़ी ही ख़ूबसूरती से वहन करती है। बोलचाल, लोक-गीत और लोक-साहित्य और शुद्ध साहित्य की भाषा के बीच उतनी बड़ी दीवार नहीं है--रसिकों के कंठों से उभरे हुए स्वरों को जन-मानस कुछ इसी उमंग से ग्रहण करता है।

अभी कल की ही बात है कि गया रीत्सा... रीत्सा इस इलाक़े की बड़ी ही ख़ूबसूरत जगह

* प्रयाग के साहित्य-भवन, लिमिटेड के सर्वेसर्वा श्री पुरुषोत्तम दास टंडन उर्फ़ राजा भैया।

मानी जाती है। सोची से कोई ५०–५५ मील दूर है। बसें बराबर जाती हैं। सीट पहिले से बुक करा लेनी पड़ती है। ३० या ४० लोगों के लायक़ खुली स्टेशन-वैगन-टाइप गाड़ियाँ होती हैं। रास्ता तो जैसे मालूम ही नहीं पड़ा। एक ओर कॉकेशस के पहाड़ों की दीवारें....हरे-भरे गझिन पेड़ों से भरी....दूर की ओर, नीचे ठाठें मारता हुआ काला-सागर .... यहाँ से वहाँ तक अनन्त, कि एक किनारा है तो दूसरा ग़ायब....बीच में पक्की सड़कों के साँपों के फनों को दबाते हुए बढ़ती हुई मोटर....रफ़्तार काफ़ी तेज़ !

सो, सहसा ही कोई ३०–३२ वर्ष की महिला या तेज़-सी जवान लड़की ने स्वर छेड़ा—'चोरनी मोरे मयो'—यह काला-सागर मेरा है।.... फिर, तो एक साथ सभी स्वर उमड़ पड़े। जैसे कि इतने बड़े सोवियत-संघ के अलग-अलग हिस्सों के लोग पहिले से प्लान करके, गीत रटकर आये थे कि सब लोग एक साथ गायेंगे, कि एक ही स्ट्रेन, एक ही लय....कोई भी स्वर बेसुरा नहीं....फिर तो बाईं ओर के पेड़ों का पत्ता-पत्ता और दाईं ओर की सागर की लहर-लहर जैसे इस माधुरी से बेहोश होने लगी—अनबूड़े बूड़ने लगे....

एक गीत समाप्त हुआ कि दूसरा शुरू हो गया—'चिमादान्चिक'—सन्दूकची—यानी, वह संदूकची जो यहाँ प्रायः दफ़्तर-कारख़ाने या कहीं और काम पर जाते स्त्रियों और पुरुषों के हाथों में होती है। गीत कुछ मज़ाकिया-सा लगा। परन्तु, फिर वही बात, वही तैयारी।

फिर मास्को के कुछ लोगों की अपनी 'देशभक्ति' बनाम 'नगरभक्ति' जागी और वे 'पोद मास्कोवनीये वेचरा' गाने लगे। फ़िज़ा गमक उठी—

पोद मास्कोवनीये वेचरा—
एसली इज़नाली वी,
काक मीनिया दोरगी
पोद मास्कोवनीये वेचरा—

(मास्को के आसपास की शाम—
काश कि आप जानते कि
कितनी प्रिय है मुझे
मास्को के आसपास की शाम !)

यह गीत तो इतना लोकप्रिय है, जितना राष्ट्रगीत, अनुशासन और शासन के आदेश के बाद भी अक्सर नहीं होता। शायद ही कोई पार्टी हो, कोई दावत हो, कोई समारोह हो, जहाँ आपको यह न सुन पड़े। इसका लेखक अपने जीवन - काल में ही अमर हो गया है। ....

इस तरह सोची के बाद अदलर आया—लोग मोटर से उतरे; खाने की चीज़ें बाज़ार से ख़रीदीं—हरएक के हाथ में 'वीनाग्राद' यानी अंगूर और याबलकी यानी सेब नज़र आये... फिर गागरा आया...फिर रास्ते के किनारे पहाड़ों से उतरती, कंकड़ों-पत्थरों के बीच लड़खड़ाती नदी की धारा सामने दीखी। यहाँ लोगों ने 'चाचा' यानी जॉर्जियन वोदका पी और उबले हुए भुट्टे खाये....फिर मोटर चली तो सामने दो पहाड़ियों का एक बंद द्वार समझ पड़ा। पर, पास आते ही दरवाज़ा वैसे ही खुल गया जैसे फ़िनलैण्ड की राजधानी हेलसिंकी के सिटी-एयर टरमिनस का बिजली का फाटक, कि आप नियराये कि खुला और

आप अन्दर पहुँचे कि बंद ।....

हम रीत्सा पहुँचे। पहाड़ियों से घिरी एक झील है, बहुत ही रमणीक, बहुत ही प्यारी। 'जेनीवा माइनस हाफ़ आल्प्स' का आधे से ज्यादा मजा आ जाता है।....

तो, डॉक्टर साहब, इस सफ़र के इन गीतों ने मन बड़ा कुरेदा। बड़े-बड़े सवाल दिमाग में उठे। 'कला कला के लिए' का पुराना विवाद इस समय ज़ेहन में ताज़ा हो उठा। यहाँ इस नारे का ऐसा साधारणीकरण किया गया है कि क्या कहिये ! प्रसिद्ध सोवियत बैले 'स्वान-लेक' यानी 'मानसरोवर' के साथ मास्को की 'त्रेतेकोव गैलेरी' और लेनिनग्राद के 'हरमीताज'-संग्रहालयों के अनगिनती कला-चित्र मेरी इस बात पर मुहर मारते हैं। पिकासो के इस 'एब्स्ट्रैक्ट-आर्ट' को हमारे मित्र डॉक्टर जगदीश गुप्त जैसे लोग ही समझते और सराहते हैं, मगर इस कला के संस्पर्श में तो हज़ारों ग़ैर-रूसी और ग़ैर-सोवियत लोग भी डूब-डूब जाते हैं। मुझे 'नेवेस्ता' यानी 'नव-वधु' शीर्षक चित्र कभी नहीं भूलेगा—कलाकृति में गाड़ी पर सवार है एक जवान नव-वधु....चेहरे पर संतोष, सुख, तरुणाई और जिन्दगी का ऐसा अंकन है कि जैसे कोई कला की चाँदनीं में, अंतर्दृष्टि और साधना का गुलाब घोल दे।....

फिर, ख़याल आया कि 'रियलिज़्म' जैसे इस सारी 'कला कला के लिए' का भी मेरुदंड है। मेरी एक सालगिरह पर मास्को के विदेशी-भाषा-प्रकाशन-गृह के उर्दू के सह-योगी और मेरे जिगरी दोस्त मोहम्मद नूह फ़ारुकी ने मुझे एक कला-अंकन भेंट किया था—एक ओर पहाड़, पहाड़ों पर बर्फ़ की चाँदी, अपने शरीर पर से बर्फ़ झाड़ती हुई पेड़ों की शाखें ....एक ओर साफ़ मैदान .... मैदान में बर्फ़....बर्फ़ तक सह-पचा जाने वाले योल्का के पेड़, बीच में रेल की पटरी, पटरी पर गाड़ी....गाड़ी के एंजिन से उठता हुआ धुआँ, जो माइनस २० तापमान के कारण ठिठुर-ठिठुर जा रहा हो। ...

....बीच-बीच में ख़याल आया कि इन गीतों में, इन कलाकृतियों में, उस लोक-स्वर में कम्युनिज़्म और मार्क्सइज़्म के सिद्धांत क्यों नहीं हैं ? होने तो चाहिये, क्योंकि हमें या दूसरों को बाहर इम्प्रेशन यों दिया जाता है जैसे कि आज भी 'लौह-दीवार' यहाँ हर जगह है, जैसे कि आज भी यहाँ का हर लोक-गीतकार, कवि और साहित्यकार किसी शिकंजे में जकड़ा हुआ है, कि सिद्धान्तों की वाणी बोलता है और अपनी क़लम से दूसरों का डिक्टेशन लेता है !

सवाल बड़ा है....रूढ़ि शायद इस क्षेत्र में भी अधिक सक्रिय रही है....एक ख़ास चश्मा लगाकर दस या बीस दिन इस देश में रहनेवाले लोग शायद इतना डूबकर देख नहीं पाते,....मगर अधूरी तस्वीरें खींचने में कोताही नहीं करते। शायद वे नहीं जानते कि स्तालिन के बाद यहाँ के शिकंजे ढीले हुए और अब ख्रुश्चेव के ज़माने में वैसे ही खुल रहे हैं, जैसे क्रेमलिन का हमेशा से बंद, ख़ास परमिट से ही लोगों को प्रवेश करने की अनुमति देने वाला फाटक अब आम जनता के लिए खुल गया है, कि मौक़े की बात है, वरना आप बिना किसी तामझाम के राष्ट्रपति ब्रेज़नेव या स्वयं श्री ख्रुश्चेव को अपनी बग़ल से गुज़रता देख सकते हैं, कि आपका ध्यान न जाये तो चिरंजीव प्रभात

की तरह, आपके अमित* या अजित* भी कहें, "माँ, ख्रुश्चेव !" इस पर माँ कहें, "नहीं रे ।" और फिर खुद देखकर कहें—"हाँ, हैं तो ख्रुश्चेव ही ।...."

यानी मेरे देखते-देखते इतना और ऐसा रूसी - साहित्य सामने आया है, जिसे शुद्ध साहित्य या शुद्ध उपन्यास, कहानी या कविता कह सकते हैं। अभी कुछ समय पहिले मैंने सिरैफ़िमोविच की कहानियों का अनुवाद किया है। ३०० से अधिक पृष्ठों की पुस्तक में सिर्फ़ एक कहानी लड़ाई से सम्बन्धित है। बाक़ी कहानियाँ न कम्युनिज़्म की हैं, न मार्क्सइज़्म की हैं, बल्कि ज़िन्दगी की हैं। मास्टरनी - गैलीना की कहानी हमारे अपने देश के किसी भी क़स्बे या बड़े गाँव की मास्टरनी की कहानी हो सकती है। 'पैटमैन' तो ऐसी है कि नाम बदल दीजिये तो हिन्दी के किसी भी सिद्धहस्त प्रतिष्ठित कहानीकार की लिखी लगने लगे। अलेक्सेई - तोलस्तोई की 'ख्रमोई-बारिन'— लँगड़ा-राजकुमार—का किसी इज़्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। अन्द्रेयस्-उपित्स की कहानियाँ अभी-अभी हिन्दी में प्रकाशित हुई हैं। इनमें 'बाल-हंस' जैसी रोमानी कहानी भी है। अनतोली कुज़्नेत्सोव का उपन्यास 'दास्तान चलती है' के नाम से हिन्दी में आ रहा है। उसका आरम्भ होता है : 'तो मैं निकल पड़ा हूँ। मेरी जेब में एक काग़ज़ है। यह काग़ज़ मेरी जानकारियों का सबूत है.... मैंने पढ़ाई अभी-अभी ख़त्म की है, पर ऐसी परेशानी मैंने पहिले कभी नहीं जानी। इससे अधिक असहाय और मजबूर मैं जीवन में पहिले कभी नहीं हुआ। मैं क्या हूँ, जैसे कोई कुत्ते का पिल्ला है, जो भटक गया है, और इधर से उधर मारा-मारा फिर रहा है.... दस साल से हम बराबर सुनते रहे हैं कि सारे रास्ते हमारे लिए खुले हुए हैं, लेकिन इस समय, मुझे लग रहा है, जैसे कि सारे रास्ते मेरे लिए बन्द हैं।....'

फुटकर रचनाएँ इधर ऐसी कुछ कम प्रकाश में नहीं आई हैं जो अपने-आपमें, किसी भी वाद या विवाद से मुक्त सर्वदा स्वस्थ कलाकृतियाँ हैं। कुछ समय पहिले 'सोवियत नारी' में एक कहानी छपी थी— 'नीले–पर्दे।'

कहानी का आरम्भ एक पारिवारिक वातावरण से होता है। बड़ी झलक मिलती है हमारे परिवारों की एक दम्पति है। पति को शादी किये कितन ही वर्ष हो गये हैं, पर संतान नहीं हुई है। पति को तो कम पर माँ को 'निपूती बहू'की लाज बहुत सताती है। वह लड़के को सुबह-शाम घोंसती है। बात दूसरी शादी तक की आ जाती है। दूसरी ओर पति चेष्टा आरम्भ कर देता है। वह एक जवान लड़की से मोहब्बत करने लगता है। लड़की दुनियादार है। मँगनी के दिन के लिए हीरे की अँगूठी चाहती है। अँगूठी ख़रीदी जाती है। पति घर आता है तो पत्नी को अपने पिता के यहाँ जाने को तैयार पाता है। नारी कितना अपमान आख़िर सहे उस कमी के लिए, जिसमें न उसका हाथ हो, और जो न उसका अपराध हो !.... वह पति से कुछ नहीं कहती। केवल टैक्सी ला देने का आग्रह करती है। पति टैक्सी ले आता है। सामान रख

*डॉ० बच्चन के दो कुमार

दिया जाता है और पत्नी बैठ जाती है कि मोटर रुकवाकर भागी-भागी अन्दर जाती है। कहती है—मैंने दरवाज़े बन्द नहीं किये। कमरे के नीले पर्दे का रंग धूप में उड़ जायेगा। पति की आँखें खुल जाती हैं। जेब में पड़ी हीरे की अँगूठी हाथ में आ जाती है और पत्नी की उँगली में पहुँच जाती है। पति मिन्नतें करता है कि अब तुम नहीं जाओ...तुम कहीं न जाओ–तुम बच्चों की माँ न हुई तो न सही, मगर तुम माँ हो, और इन नीले पर्दों की माँ हो। माँ बच्चों को छोड़कर कहीं नहीं जाती।....

इसी तरह एक कविता छपी थी हिन्दी में–

खुशी से खिल मुस्कराकर
उलटता ही जा रहा है शिशिर के परिधान—
और, नंगी डालियों पर
तनता ही जा रहा है
नवल, नूतन, जगमगाता हरा साज-वितान–
और, हँसता है कि मन की मौज पर ही—
जैकेटों के और कोटों के बटन सब खोल
वय घटाता है जरा की,
और तरुणों को तरुणतर कर रहा अनमोल!
कोष अपने खुले हाथों से लुटाता है
कि अपनी छोड़ता है सभी कुछ पर छाप—
प्रकृति का सहचर, सखा, स्वामी
कि इसको जानते हैं
अति भली विधि आप!
छवि अनन्त है!
यह वसन्त है!!

–लरीसा वसील्येवा

फिर लोक-प्रतिमा तो अपने ढंग से पनपती है। कलखोजों का एक लोकगीत है:

या नि पियुश्शी,
या नि कुरुश्शी,
रस दोसिखपोर या नि ज़िनाती,
ती वीनावात!—

(मैं शराब नही ढालता—
मैं सिगरेट नहीं पीता—
अगर मेरी शादी आज तक नहीं हुई
तो इसका कारण तू है!)

यानी यह कि भाव-बोध इतना सीमित हो जाता है, तो भी रस के साथ रहता है। किसी शिकंजे जैसी चीज़ की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता।

लेकिन, इससे मेरा यह आशय नहीं कि कम्युनिज़्म या मार्क्सइज़्म पर साहित्य, काव्य या कला के क्षेत्र में ज़ोर नहीं दिया जाता। दिया जाता है और मार्क्सइज़्म सम्बन्धी साहित्य को 'क्लैसिकल साहित्य' भी कहा जाता है, मगर आज इतर साहित्य—काव्य, कला या लोक-कंठ पर वह नियंत्रण नहीं है कि हम जो कहते हैं वही कहो, वरना चुप रहो। आदमी अपने सुख-दुख की अनुभूतियों को अपने ढंग से व्यक्त करने के लिए भी स्वतन्त्र है।

मैं कुछ यों समझता हूँ कि यहाँ के अधिकारी समाजवाद और साम्यवाद के निर्माण में अपने साहित्यकारों और कलाकारों से पूरा सहयोग चाहते हैं। लेकिन इन रचनाओं को छूट देने या न देने का सवाल नहीं उठाते। छट जैसे उन्हें है। संक्षेप में यह कि हमें सहयोग देकर हमारे हाथ मजबूत करो तो बहुत अच्छा; न करो तो न भी सही; परन्तु ऐसा न करो कि हमारे निर्माण में तुम्हारे कृतित्व से किसी तरह की कोई बाधा पड़े।

अगर ऐसा होगा तो नहीं हो सकेगा, हम होने नहीं देंगे।.... 'दुदनित्सेव' और, पास्तर-नाक की आलोचना के पीछे यही दृष्टि बतलाई जाती है। यहाँ के लोगों के खयाल से 'नॉट बाइ ब्रेड एलोन' और 'डाक्टर ज़िवागो' से जन-मानस पथ-भ्रष्ट होगा और निर्माण के चक्के में कुछ फँसकर रह जायेगा, कि निकाल तो उसे लोग देंगे, लेकिन क्षण भर या पल भर को रफ्तार में फ़र्क आ सकता है—यह भी नहीं आना चाहिये, और यह भी आने नहीं दिया जायेगा .... !

'रोमांसवाद' की पूरी धारा को यहाँ कुछ इसी तरह समझा जाता है कि वह अफ़ीम की गोली है, नरकोज़ है जो आदमी को गाफ़िल तो करती ही है, पीछे भी सुस्ती बनकर उसके दिमाग़ पर छाई रहती है। अभी उस दिन यहाँ के प्रसिद्ध भारत-विद् , आपके सुपरिचित श्री चेलीशेव से 'शेले' पर बातें होने लगीं। मैं कुछ चिढ़ा बैठा था। साईंदा * की कविताओं के अनुवाद का कार्य हम दोनों कर रहे थे, और रोमानी भावनाओं पर चेलीशेव साहब अड़–अड़ जाते थे—'काक एनो वाज़, मोज़नो'—यह कैसे सम्भव है ? .... 'एतो नि पनियातन'–यह तो समझ में नहीं आता ।....

तो, शेले की कविता पर भी वे खूब बरसे। लेकिन, वह बरसना मतभेद के आधार पर था, बहिष्कार या समझंदारी से इन्कार के आधार पर नहीं। चेलीशेव साहब शेले से ज्यादा बायरन को पसंद करते हैं। पढ़ा उन्होंने बहुत-कुछ है। प्रायः यह लोग पढ़ते बहुत हैं। सहमत होना या असहमत होना, दूसरी बात है। यानी एक ओर जहाँ वादों की ज़ंजीरों से बिलकुल आज़ाद सोवियत-साहित्य हिंदी या दूसरी भारतीय या दूसरे देशों की भाषाओं में आ रहा है, वहीं दूसरे देशों का साहित्य भी रूसी-भाषा में लाया जा रहा है। माप-दंड और दृष्टि वही है। साहित्य अवश्य हो–यथार्थवादी और प्रगतिवादी हो तो अच्छा–हमारे देश की प्रतिभा के विकास के अनुकूल पड़ सके तो बहुत अच्छा ....इसके साथ ही दूसरे देशों के अलग-अलग वादों को समझने के प्रयत्न भी यहाँ जारी हैं।.... 'गाँधीवाद' के प्रति लोगों में ख़ासी उत्सुकता और जिज्ञासा मिलती है।

यहाँ के लोग मानते हैं कि साहित्य मानवीय हो—'ह्यूमन' के अर्थ में—और, साहित्य से पहिले जीवन मानवीय हो !

यहाँ के अखिल सोवियत लेखक-संघ में श्री ख्रुश्चेव द्वारा दिये गये एक भाषण का ख़याल आ रहा है। निमंत्रण मिला। ख्रुश्चेव साहब समय निकालकर आये। सबने तालियाँ बजाकर स्वागत किया तो रूसी परम्परा के अनुसार खुद भी उनके साथ तालियाँ बजाने लगे और मुस्कराये। फिर, लोगों ने कुछ सन्देश देने का आग्रह किया। सहज-भाव से उठ खड़े हुए—कुछ ऐसा-सा बोले : लेखक-साथियो, आपने मुझे यहाँ क्यों बुलाया ! मैं तो कोई लेखक नहीं। हाँ, आप सब लेखकों की रचनाओं से प्यार मुझे ज़रूर है पर, उसे पढ़ने का भी समय नहीं मिलता....क्योंकि अलग-अलग दूतावासों और कांउसलेटों से आई रिपोर्टें पढ़ने से ही फ़ुर्सत नहीं मिलती और वह

*संत कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त

पढ़ना जरूरी है, क्योंकि प्रधान मंत्री तो मैं रहना चाहता हूँ.... (खुद हँसे ... बाक़ी लोग भी हँस पड़े। कहते गये—मगर दो-एक मोटी-मोटी बातें करूँ आपसे, साहित्य को बहुत ही मानवीय होना चाहिये और साहित्य के मानवीय होने के लिए जरूरी है कि हम अपने जीवन में भी बहुत ही मानवतापूर्ण रहें, क्योंकि आखिरकार जीवन ही तो साहित्य में उतरता है। एक क़िस्सा सुनिये—

'एक बार मैं दक्षिण में आराम कर रहा था कि एक चोर ने पत्र लिखा और मुझसे मिलने की इच्छा प्रकट की। मैंने उसे समय दे दिया। वह आया तो उसे मैंने स्वस्थ, सुन्दर और बहुत ही होशियार पाया। पूछा—तुम चोरी क्यों करते हो? जवाब मिला— एक बार ग़लती हो गई। अब फिर चोरी करनी पड़ेगी, क्योंकि इतने कम रूबलों की साधारण नौकरी से काम नहीं चलता। ....मैंने—कहा, अगर तुम्हें अच्छी नौकरी मिल जाये तो चोरी नहीं करोगे? उत्तर मिला—नहीं...। फिर वह बोला—आपने समय दिया, बड़ी कृपा की, पर मेरे साथ एक फ़ोटो खिंचवा लें, मेरी बड़ी हसरत है! मैं फ़ौरन राज़ी हो गया। मगर चोर का दिल कितना! फ़ोटो खिंचने लगा तो वह खुद कुछ सकुच-सा गया। मैंने उसे खींच कर सीने से लगा लिया! फ़ोटो के बाद उसे रूबल दिये घर तक जाने के लिए, और बच्चों के लिए मिठाई ले जाने के लिए। दूसरे दिन वहाँ की सोवियत को फ़ोन किया और उसे काम दिला दिया। आदमी योग्य था। आज बड़ी तनख्वाह पा रहा है। सोचिये कि मैं उसे पकड़वा भी सकता था। पर मैंने उसके साथ इंसानियत बरती और आज देश उसकी सेवाओं से लाभ उठा रहा है। यही इंसानियत आपके साहित्य में ढलनी चाहिये।....

एक सावधानी की ओर आपका ध्यान और खींचूँ! इधर होता क्या है कि किसी दूर क़स्बे या शहर का कोई लेखक अपनी रचना किसी पत्र या पत्रिका के सम्पादक के पास भेज देता है। सम्पादक को संयोग से रचना बहुत छू जाती है। कविता प्रकाशित करता है, और ऊपर एक लम्बा नोट देता है: 'श्री....जैसी प्रतिभा सदियों से हमारे साहित्य और काव्य के क्षेत्र में नहीं पनपी। इनसे हमारे युग और साहित्य को बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं।' अब दूसरी पत्र-पत्रिकाओं का ध्यान उस लेखक की ओर एकदम जाता है क्योंकि ऐसा लेखक युगों बाद धरती पर आता है फिर उसकी रचनाओं-पर-रचनाएँ छपने लगती हैं। थोड़े समय बाद सम्पादकगण मास्को-सोवियत से आग्रह कर उसे मास्को बुलवा लेते हैं। अब वह राजधानी में रहता है और लिखता है, क्योंकि इतनी पत्र-पत्रिकाएँ उसकी ओर उत्सुक-दृष्टि से देखती हैं। और, वे उसकी रचनाएँ अच्छी-बुरी या अधकचरी होने के बावजूद बराबर छापती हैं, क्योंकि युगों बाद पैदा होने वाली उस प्रतिभा को उन्होंने स्वयं ही तो मास्को बुलवाया है। परन्तु, उसके साहित्य में प्राण नहीं आता। अब वह डेलीगेशनों में अपने घर-गाँव जाता है, अपनी ज़मीन और अपने वातावरण से प्रेरणा अब नहीं ले पाता और कृत्रिम प्रयास करता है। यह वैसा ही है जैसे कि खुले खेत से मकई उखाड़

[शेषांश पृष्ठ २५५ पर]



●
विश्व-प्रसिद्ध उपन्यासकार स्टीफ़ेन ज्विग के प्रसिद्ध उपन्यास 'बीवेयर ऑफ पिटी' की नायिका एक धनी पिता की इकलौती लड़की है। दुर्भाग्यवश लकवे के कारण उसके दोनों पैर ख़राब हो जाते हैं। निराशा के अतल गह्वर में पड़ी हुई एडिथ के जीवन में एक युवक फौजी अफ़सर आता है और यह जानते हुए भी कि उसकी शारीरिक स्थिति उसे प्रेम करने की इजाज़त नहीं देती वह युवक अफसर से प्रेम करने लगती है। इस मन:स्थिति में वह अपने युवक-प्रेमी को एक पत्र लिखती है जो उसके अन्तस के समस्त प्यार के साथ-साथ उसकी दयनीय स्थिति को मूर्त कर देता है। पत्र यहाँ ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया जा रहा है।
●

सोलह पृष्ठों का और, बहुत ही शीघ्रता में और अस्थिर क़लम से लिखा हुआ यह एक ऐसा पत्र था, जो एक व्यक्ति अपने समस्त जीवन में केवल एक बार ही लिखता है या पाता है। वाक्य-प्रवाह ऐसा जैसे खुले घाव से अजस्र रुधिर धार फूट निकले। न कहीं पैरा, न कहीं विराम, गडमड शब्द, एक के ऊपर एक लिखे हुए, कहीं काटे हुए, कहीं छोड़े हुए। इतने वर्षों के बाद आज भी मेरे मन की आँखों के समक्ष उसकी एक-एक पंक्ति एक-एक अक्षर स्पष्ट है। इतनी बार मैं उसे पढ़ चुका हूँ कि आदि से अन्त तक, पृष्ठ के बाद पृष्ठ, मैं उसे दुहरा सकता हूँ, दिन या रात के किसी भी समय। उस नीले लिफ़ाफ़े को मैं महीनों तक बिना खोले अपनी जेब में रखे रहा। घर पर, बैरकों में, 'ट्रेन्चों' में, युद्ध की कैम्प-फायरों के बीच, एक नहीं अनेक बार मैंने उसे जेब से निकाला किन्तु पढ़ नहीं पाया। 'वोलीनिया की रीट्रीट' के समय जब हमारी टुकड़ी चारों ओर शत्रुओं से घिरी हुई थी, अचानक मेरे मन में एक ख़याल उभरा कि यह पत्र, पूर्णता के एक क्षण की अनुभूतिमय स्वीकारोक्ति, कहीं अन्य हाथों न पड़ जाये और मैंने लिफ़ाफ़ा खोल ही तो डाला :



एक विकलांग लड़की की प्रणय-पाती

"इसके पूर्व मैं तुम्हें छः पत्र लिख चुकी हूँ और उन्हें नष्ट कर चुकी हूँ क्योंकि मैं किसी के सामने भी टूटना-बिखरना नहीं चाहती थी, कभी नहीं, अंश मात्र भी नहीं। रात्रि शेष रहने तक मैंने अपने-आपको सँभाले रखा, अपने तक स्वयं को सीमित रखा। कई सप्ताह तक मैं अपनी मनोभावनाएँ तुमसे छिपाने का संघर्ष करती रही। जब-जब तुम सरल भाव से,एक मित्र के नाते,हमारे यहाँ आये तब-तब मैंने अपने हाथों को निष्कम्प-निश्चेष्ट बनाये रखने का प्रयत्न किया, भरसक अपनी दृष्टि में वीतराग, तटस्थता लाने की चेष्टा की कि कहीं तुम उखड़ न जाओ! कई बार मैंने जान-बूझकर तुमसे निर्मम व्यवहार किया जिससे तुम मेरे मन की अगिन जान न लो। अपने समस्त मानसिक बल से तुम्हें अपने हृदय की अकुलाहट से अनजान रखा। किन्तु तुम्हारी क़सम, आज जो भी हुआ वह मेरी चाह कभी नहीं थी, मैं स्वयं स्तम्भित रह गई। मेरी समझ में नहीं आता कि ये सब मैंने कैसे होने दिया! उसके बाद मेरे मन ने कहा कि अपने को नोच डालूँ, कठोर दंड दूँ! लज्जा और क्षोभ से मैं नहा गई। क्योंकि मैं जानती हूँ, भली-भाँति जानती हूँ कि मेरा अपने को तुम्हारे ऊपर यों ज़बरन आरोपित कर देना कितना बड़ा पागलपन हैं, कितनी बड़ी मूर्खता है। मुझ-सी अपाहिज और अपंग को प्यार करने का अधिकार नहीं है। जैसी टूटी और छिन्न-भिन्न मैं हूँ,मैं तुम पर बोझ ही तो बनूँगी। मैं स्वयं अपनी नज़रों में लज्जा की पात्र हूँ। मैं जानती हूँ, मुझ जैसे प्राणी को प्यार करने का अधिकार नहीं है और किसी की प्रिया बनने का तो कदापि नहीं। उसे तो किसी कोने में सिमट कर सदा के लिए सो जाना चाहिये (जिसका अस्तित्व मात्र ही सबके प्राणों पर भार हो)। अपनी अपात्रता, निरीहता का पूर्ण बोध मुझे है, इसी से मेरे प्राण, मेरी आत्मा खोई-खोई-सी भटकती रहती है। जिस प्रकार मैंने स्वयं को तुम पर आरोपित कर दिया है ऐसा मुझे कभी नहीं करना चाहिये था, किन्तु मैं क्या करूँ, तुम्हारे अतिरिक्त मुझे किसी ने यह आश्वासन नहीं दिया कि मैं इस दयनीय और अस्वाभाविक जीवन से ऊपर भी उठ सकूँगी, कि मैं किसी-न-किसी दिन अवश्य ही चल-फिर सकूँगी। लाखों-करोड़ों मनुष्यों की भाँति, जो ये नहीं जानते कि प्रत्येक स्वाभावित पग-संचालन ईश्वर का वरदान है, मैंने मन-ही-मन तब तक मौन रहने का दृढ़ निश्चय कर लिया था जब तक मैं पूर्ण रूप से स्वस्थ न हो जाऊँ, अपने को नारी न कह सकूँ, और शायद—शायद, मेरे प्रिय, तुम्हारे योग्य बन सकूँ।

"किन्तु मेरी उत्कंठा, शीघ्र स्वस्थ होने की लालसा इतनी तीव्र थी कि जब तुम मेरे ऊपर झुके तो मैं अपने आपको विस्मृत कर बैठी, मैं इतनी पागल, विमोहित हो गई कि मुझे विश्वास हो गया, सच मानो, पूर्ण विश्वास हो गया कि मैं अपने से सर्वथा भिन्न, अच्छी-भली स्वस्थ लड़की हूँ——वही, जो सपना मेरी

आँखें देखा करती थीं, जो चाह मेरे मन में सदा से पलती आई थी। और उस क्षण तुम मेरे समीप थे--उस एक क्षण के लिए मैं अपने अपंग पावों को भूल गई, मेरी आँखों ने केवल तुम्हें देखा, स्वयं को उस रूप में अनुभव किया जिसकी मैं तुम्हारे, सिर्फ़ तुम्हारे, लिए कामना करती थी। तुम समझ सकोगे मेरे उस क्षण की अनुभूति को जब मैं उस दिवास्वप्न में स्वयं को विस्मृत कर बैठी थी, तुम समझ सकोगे मेरे उस हृदय को जिसने रात और दिन, वर्षों तक केवल एक ही सपना देखा। विश्वास करो प्रिय, मैं अपंग नहीं रही, उसी मोहमय दुराशा ने मुझे उन्मादिनी, दिग्भ्रांत बना दिया। मेरा मन अंकुश में न रह सका। और इस सबके साथ-साथ मेरी एक ही दुर्दयनीय कामना थी कि मैं अपंग-अपाहिज बनकर अब एक पल भी जीवित न रहूँ। जानते हो, मैंने तुम्हें कितना चाहा, हर पल, हर क्षण ?

"लेकिन अब तुम वह रहस्य जान गये जो मुझ तक ही सीमित रहता था, मैं किसके लिए अच्छा होना चाहती हूँ, समस्त सृष्टि में कौन है वह व्यक्ति जो मेरे जीवन की प्रेरणा है ? तुम, सिर्फ़ तुम ही तो। मुझे, मेरे आकुल उद्वेगों को क्षमा कर देना, मेरे मन-प्राण ! तुमसे याचना करती हूँ, मुझसे दूर भागने का यत्न मत करना, मुझसे भय मत करना, यह न समझ लेना कि मैं तुम्हें फिर विरक्त करूँगी ? मेरे प्यार के आवेग ने मुझे एक बार दुस्साहसी बना दिया था। कच्ची दीवार-सी कमज़ोर मैं तुम्हें कैसे बाँधूँगी ? मैं क़सम खाती हूँ, मैं अपनी समस्त उमंगों को कुचल डालूँगी, अपनी पीर से तुम्हें अछूता रखने का प्रयत्न करूँगी। मैं प्रतीक्षा करूँगी कि सृष्टि के नियन्ता की मुझ पर करुणा हो और मैं स्वस्थ हो जाऊँ--यही मेरी चिर-प्रतीक्षा होगी। तुम मुझसे, मेरे प्यार से मत डरो। स्मरण रखो, तुम्हारे सिवा मुझ पर किसी ने कभी दया नहीं की। सोचो तो, मैं कैसी दयनीय-निराधार हूँ, अपनी पहियोंवाली कुर्सी पर घिसटती हुई, हिलने-डुलने में असमर्थ, मैं एक पग भी बिना सहारे के नहीं उठा सकती। तुम आओ तो मैं हुलसकर खड़ी भी तो नहीं हो सकती, तुम जाओ तो तुम्हारा अनुगमन नहीं कर सकती। मैं तो एक क़ैदी हूँ, यह पहियेवाली कुर्सी मेरा कारागार है, मुझे यहीं बैठे-बैठे मौन प्रतीक्षा करनी है। समस्त उत्कंठा लिये हुए भी धैर्य ही धारण करना है। मेरी यह प्रतीक्षा तब तक है जब तक कि तुम ही अपने व्यस्त जीवन से एक घंटा निकालकर मुझसे मिलने न आ जाओ, कुछ समय मुझे अपने को निहारने न दो, कुछ देर अपनी आवाज़ न सुनने दो ! उस समय मेरा रोम-रोम तुम्हारी उपस्थिति अनुभव करता है, जब ये ख़याल आता है कि मैं उसी वातावरण में साँस ले रही हूँ जिसमें तुम्हारी साँसों की ख़ुशबू घुली हुई है; और केवल यही कुछ क्षण मेरे जीवन के सबसे प्रिय,सबसे प्रथम सुनहले सुख

के क्षण हैं। कभी तुम मेरी उस सूनी, निरुद्देश्य, दिशाहीन अवस्था की कल्पना कर सकते हो जब मैं दिन और रात, महीनों और वर्षों लेटी-लेटी केवल एक प्रतीक्षा में खोई रहती हूँ। हर घड़ी फैलती जाती है, लम्बी—और भी लम्बी होती जाती है और अनन्त प्रतीक्षा में विलीन हो जाती है। तब यह पीड़ा मेरे लिए नितान्त असहनीय बन जाती है। फिर तुम आते हो और किसी भी साधारण नारी की भाँति मैं पुलक कर तुम्हारा स्वागत नहीं कर सकती, मैं तुमसे उठकर मिल नहीं सकती, तुम्हें बाँहों में बाँध नहीं सकती,,तुम्हें रोमांचित नहीं कर सकती, कुछ नहीं कर सकती। मुझे बैठे-बैठे अपनी दुर्दमनीय भावनाओं पर, स्वयं पर नियंत्रण करना पड़ता है, मौन रहना होता है। एक भी शब्द बोलने से पहले अपने स्वर को अविचलित बनाने का प्रयत्न करना पड़ता है। कहीं मेरी किसी भी दृष्टि में मेरे मन का चोर मुखर न हो उठे, कहीं तुम ये न सोच बैठो कि मैं तुम्हें प्यार भी करती हूँ। ....

"पर अब जो कुछ घटित हुआ, उसके बाद, मेरे प्राण, मैं तुमसे अपने प्यार को छुपा नहीं सकती—पर तुम मेरे प्रति कठोर न हो जाना। तुमसे भीख माँगती हूँ। नीच-से-नीच, दयनीय-से-दयनीय जीव के भी स्वाभिमान होता है। मैं तुमसे अपने मन का नेह गोपन न रख पाई, तुम अगर यह जानकर ही मुझसे घृणा करने लगो, तो मैं इसे सह नहीं पाऊँगी, कभी नहीं सह सकूँगी। मैं तुमसे प्यार का प्रतिदान नहीं चाहती—नहीं—सौगन्ध है मुझे उस ईश्वर की, जो मुझे स्वास्थ्य और सुरक्षा देगा, कि मैं कभी ऐसा साहस भी करूँ। मैं कभी सपने में भी नहीं सोच सकती कि इस अपंग अवस्था में तुम मुझे कभी प्यार करोगे। जानते हो, मैं तुमसे त्याग या दया नहीं चाहती! मैं चाहती हूँ तो मात्र यही कि तुम मुझे बस ऐसे ही प्रतीक्षातुर रहने दो, एकबारगी ही ठुकरा न दो। मैं जानती हूँ, ये भी मैं बहुत अधिक चाह रही हूँ किन्तु क्या वास्तव में किसी मनुष्य के जीवन में इतना भी प्राप्य नहीं होना चाहिये? इतना नगण्य सुख तो हम अपने पालतू कुत्तों को भी दे देते हैं कि वह कभी-कभी अपने स्वामी की ओर मूक दृष्टि से निहार ले। क्या ये आवश्यक है कि उसे ठोकर मारकर ही भगाया जाय, चाबुक से ही उसकी प्रताड़ना की जाये। अपनी लाज और निराशा ही मेरे लिए कम दंड नहीं। मैं कितनी ही तुच्छ और दयनीय क्यों न होऊँ, मैं यह कभी नहीं सह सकूँगी कि केवल तुम्हें प्यार करने के अपराध में मैं तुम्हारे द्वारा प्रताड़ित, दंडित होऊँ अथवा तुम मुझसे घृणा करने लगो। कहीं ऐसा हुआ तो मेरे लिए केवल एक ही राह है और उससे तुम अवगत ही हो, मैं तुम्हें पहले ही बता चुकी हूँ।

"लेकिन नहीं, तुम चिन्ता न करो, मैं तुम्हें धमकी या भय नहीं दिखा रही, मैं तुम्हें डराकर तुमसे प्यार के स्थान पर दया नहीं स्वीकारूँगी। यद्यपि इसके

पूर्व तुम स्वयं ही सहज भाव से मुझे सदा दया देते आये हो। मैं तुम्हारे मार्ग में व्यवधान नहीं बनूँगी, अपने भार से तुम्हारा जीवन बोझिल नहीं बनाऊँगी। मैं तो केवल इतना चाहती हूँ कि जो कुछ घटित हुआ है उसे तुम विस्मृत कर दो और मुझे क्षमा कर दो। जो कुछ मैंने कहा, जो कुछ भी मैंने प्रकट किया, सब भूल जाओ। बस, मुझे इतना ही आश्वासन, इतनी ही छोटी-सी आशा दे दो, कह दो—अभी कह दो—एक शब्द ही बहुत होगा—कि तुम मुझसे घृणा नहीं करते, तुम अब भी सहज भाव से हमसे मिलने आओगे जैसे कभी कुछ हुआ ही न हो। तुम्हें तनिक-सा अनुमान भी न होगा, तुम सोच भी नहीं सकते, मेरे मन में कैसा भय समाया है कि मैं तुम्हें कहीं खो न बैठूँ। जिस क्षण तुम गये और द्वार बन्द हुआ उसी क्षण से मुझ पर एकअनजान भय ने साया डाल दिया है कि मैं अब तुम्हें कभी नहीं देख पाऊँगी। मेरे बन्धन से मुक्त होते ही तुम्हारी आँखों में एक विचित्र भय का-सा भाव आया। तुम्हारा मुख इतना पीला पड़ गया कि मेरी सारी आकुल तन्मयता तिरोहित हो गई, (मैं बर्फ़-सी ठंडी हो गई), उसके बाद जोज़ेफ़ ने मुझे बताया कि तुम अपनी कैप और तलवार उठाकर एक क्षण में ही घर से बाहर हो गये थे। उसने तुम्हें समूचे घर में खोज डाला पर तुम तो मुझसे ऐसे भागे थे जैसे कोई प्लेग के रोगी से भागे,किसी छूत की बीमारी से भागे। पर इसके लिए मैं तुम्हें दोषी नहीं ठहरा रही मेरे प्रियतम! ...मुझे अच्छी तरह पता है, क्यों सब मुझसे दूर भागते हैं, क्यों मुझ जैसी अस्वाभाविक जीव की उपेक्षा करते हैं, किन्तु तब भी मैं तुमसे यही चाहूँगी कि तुम मुझे क्षमा कर दो क्योंकि तुमसे परे मेरे लिए न दिन है न रैन, केवल निराशा है---घोर निराशा! तुम मुझे एक छोटा-सा पत्र ही भेज दो, चाहे दो ही पंक्तियाँ, सादा काग़ज़, एक फूल, कुछ भी, कोई भी नन्हा-सा चिह्न या प्रतीक जिससे मैं यह जान सकूँ कि तुम मुझसे घृणा नहीं करते। स्मरण रखो, कुछ दिनों में ही मैं तुमसे महीनों के लिए दूर चली जाऊँगी, तुम पर मेरा यह अत्याचार एक सप्ताह या अधिक-से-अधिक दस दिन तक ही है। हफ्तों, महीनों और वर्षों तुमसे दूर रहने की पीड़ा मुझे सालती रहेगी, पर तुम उसके विषय में न सोचना, केवल अपना ख़याल रखना जैसे मुझे हर समय तुम्हारा ख़याल रहता है––केवल तुम्हारा ही। एक सप्ताह में तुम मुक्त हो जाओगे, फिर घर आना, और तब तक के लिए मुझे कोई संदेश-चिह्न भेज देना। मेरी विचार-शक्ति, मेरी साँसें, मेरी अनुभूति, कुछ भी मेरे साथ नहीं है, जब तक कि मुझे यह न विश्वास हो जाय कि तुमने मुझे क्षमा कर दिया। मैं मर जाऊँगी, अगर तुमने मुझे प्यार करने का अधिकार नहीं दिया तो सच, मैं मर जाऊँगी!"

[प्रतिभा द्वारा अनूदित]

●

सात समुन्दर पार से लिखा एक पत्र

मिडलैण्ड होटल, ब्रेडफोर्ड
दिनांक २२-६-६०

प्रिय ....,

तुम्हें यह पत्र बहुत दूर से लिख रहा हूँ । आज के इस जेट-युग की तूफ़ानी रफ्तार में हम हज़ारों-हज़ारों मील की दूरी को भी ठीक से महसूस नहीं कर पाते.... इसलिए इस दूरी को ठीक से व्यक्त करने के लिए मुझे बुजुर्गों से एक शब्द उधार लेना होगा कि तुम्हें यह पत्र 'सात समुन्दर पार' से लिख रहा हूँ।

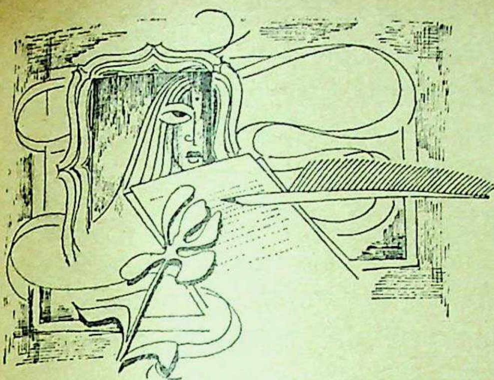
तुम्हें १४ तारीख़ की रात या ठीक कहा जाय तो १५ तारीख़ की वह सुबह याद होगी जब मैं तुमसे विदा लेकर 'अन्नपूर्णा' विमान पर सवार हुआ था। पलक झपकते जहाज़ ४०००० हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर था और ६५० मील प्रति घंटे की तूफ़ानी रफ्तार से आस्मान की छाती को चीरता हुआ आगे बढ़ रहा था। हम बादलों से भी बहुत ऊपर थे, और हमारे बहुत नीचे प्रभात के आलोक में पृथ्वी एक अजीब मोहक नज़ारा प्रस्तुत कर रही थी।

कभी पढ़ा था कि मन की गति प्रकाश से भी तेज़ होती है.....देखो, जिस श्लोक में यह बात कही गयी है, वह उस समय मुझे अनायास ही याद हो आया था :

यज्जाग्रतोदूरमुदैतिदैवन्तदुसुप्तस्यतथैवैति ।
दूरङ्गमज्योतिषांज्योतिरेकन्तन्मेमनःशिवसंकल्पमस्तु ॥

इस कथन की सत्यता का मुझे तूफ़ानी गति से उड़ते समय उस दिन जितनी तीव्रता से अहसास हुआ उतना पहले कभी नहीं हुआ था, क्योंकि उस उड़ान के दरमियान जो चीजें सामने से गुज़र रही थीं उन्हें आँखें देख रही थीं तथा शरीर के अन्य अंग भी अपने-अपने ढंग से अनुभव कर रहे थे, लेकिन मन था कि विमान की रफ्तार से भी लाखों-करोड़ों गुना अधिक तेज़ गति से पीछे की ओर दौड़ रहा था। कहते हैं मन को वश में लाना वायु से भी अधिक कठिन है, लेकिन मैं क्या देखता हूँ कि मेरा मन तो बिना मेरी ओर से किसी प्रयत्न के ही यथास्थान पहुँच जाता है, यानी जहाँ इसका रहना मुझे रुचिकर है ठीक वहीं....

तु०
प्रसाद



शोभा अग्रवाल

•

विगत के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान पर एक तटस्थ और विश्लेषक दृष्टिपात।

•

प्रिय शोभा,

शोभी मेरी! मेरी नन्हीं मधुर शोभी!! मुझे भूल सको तो भूल जाओ, क्योंकि अब मैं वह नहीं हूँ जिसे तुम जानती रही हो.... अब तो मैं एक छोटा-सा खण्डित हृदय हूँ---वह हृदय जो स्वयं को ही छल जाता है, जो व्यर्थ और अवांछनीय भावों का भण्डार है। तुम्हें सच बताऊँ मेरी नन्हीं निष्कलुष शोभू, जब कभी मैं अपने हृदय की अतल गहराई में झाँकती हूँ तो पाती हूँ कि वहाँ न जाने कितना-कुछ कलुष है जो कि हृदय के कगारों पर दिनोंदिन एकत्रित होता जा रहा है।

अपने एकाकी क्षणों में मैं इस पर व्यथित हो उठती हूँ और मेरा एकान्त मुझे अपने और तुम्हारे विषय में सोचने के लिए विवश कर देता है। एक विचार मेरे मानस में कौंध जाता है कि वह पवित्र हृदय जो कभी नन्हीं शोभा की सम्पत्ति था अब अपवित्रता के अधिकार में है, और इसे शुद्ध करना अत्यावश्यक है।

तुम्हारे बचपन की मीठी-मीठी सुकुमार स्मृतियाँ मेरी अन्तर-वीणा के तारों को झकझोर देती हैं। एक समय था जब तुम नन्हीं चिड़िया-सी घर और पाठशाला के आँगन में चहकती फिरती थीं; तुम्हारा बाल-हृदय प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य के दर्शन करता था; किसी भी प्रकार के कलुष, ईर्ष्या, घृणा आदि भावों से बहुत दूर तुम प्रत्येक मुस्कान में सहृदयता का अनुभव करती थीं।

और तब नवयौवन का सुन्दर प्रभात आया और अपने साथ लाया विश्वविद्यालय का अनन्त खुला आकाश। तुम अपने पंख फैलाये जी भर उड़ीं उस सीमाहीन क्षेत्र में। भोली-भाली शिशु-आँखों में नवीन दृष्टिकोण का अंजन

शोभा का पत्र : शोभा के नाम

लग गया। तुम्हारा सदा का जिज्ञासु मन तृषित हो उठा....सभी कुछ जान लेने की आतुरता....सच ही तो, प्यासे मन की प्यास एक बूँद पानी से कैसे शान्त हो! थोड़ा-सा जानकर लगा कि सभी कुछ जानना शेष रह गया है। और तुम क्षितिज के उस पार एक अनजान प्रदेश में उड़ने की सोच ही रही थीं.... अभी तुम अपने नन्हें सुकुमार परों को ज़रा-सा ही उठा पायी थीं कि एक बाज़ आया और ले चला अपने सशक्त डैनों में तुम्हें समेटकर। एक बार तुम तड़फड़ाईं, लगा, तुम्हारा अस्तित्व समाप्त हो गया, अहं गल गया, तुम्हारी स्वतन्त्रता घिर गई। लेकिन उसने तुम्हें प्यार से सहलाया, स्नेह से सहेजा-सँवारा और तब तुमने जीवन की एक नितान्त नयी और अब तक अनजान वास्तविकता को जाना....अपनी अनोखी अनुभूतियों में मदिर-मधुर-प्रेम का अनुभव किया और तुम भींग-भींग गयीं।

यह जीवन का नया मोड़ था, सहमी-सहमी-सी तुम बढ़ चली इस पथ पर....अभी कुछ ही दूर चली थीं कि मार्ग सुन्दर और सरल प्रतीत हुआ।

फिर भी, मेरी नन्हीं शोभा, मेरी अपनी शोभा, पता नहीं, यह मन कभी-कभी इतना उदास क्यों हो जाता है....सांसारिक दृष्टि से समस्त सुख-सुविधाओं के होते हुए भी इस मन के नीलाकाश पर गाहे-ब-गाहे ये उन्मन घटाएँ क्यों घिर-घिर आती हैं....इस मन के नथनों में लगाम डालकर मैं इसे बहुतेरा वश में रखना चाहती हूँ, लेकिन न जाने यह जीवन के सहज-सरल राज-पथ को छोड़ कर इधर-उधर की पगडंडियों की ओर क्यों दौड़ने-भागने लगता है....शायद कारण यह है मेरी शोभी, कि मेरा मन इस जीवन को यों ही जीकर नष्ट नहीं इसका करना चाहता, शायद यह कुछ विशेष, कुछ महत्त्वपूर्ण करना चाहता है, ऐसा कुछ जो सामान्य जीवन से अलग हो, ऐसा कुछ जिसमें इस मानवीय जीवन के उच्चतर आदर्शों की उपलब्धि निहित हो....।

अरे, मैं भी कैसी पगली हूँ शोभू, जो तुम्हें यह सब बकवास लिखे जा रही हूँ....जो भारी-भारी बातें स्वयं मेरे अपने मन के सामने ही स्पष्ट नहीं हैं, वे सब तुम्हें, यानी अपनी नन्हीं शोभा को, लिखे जा रही हूँ...

शोभू! सच तो यह है कि तुम्हीं मेरे समस्त आदर्शों व सिद्धान्तों की एकमात्र आशा हो।

मैं तुमसे प्रेम करती हूँ, इसीलिए अपनी स्मृतियों में तुम्हें सहेजती-सँवारती हूँ। मेरा ढेर-सा प्यार।

तुम्हारी और मात्र तुम्हारी
शोभा

●



रानी गुप्ता

ममता के आँचल में भी न जाने कितनी समस्याओं, कितनी वेदनाओं की सलवटें पड़ी रहती हैं.........

• पत्र एक

लखनऊ
८-१२-१९६२

मेरे प्राणाधार,

सप्रेम नमस्ते ।

आशा है, आप कुशल से होंगे । यहाँ सब कुशलपूर्वक हैं । मैं बच्चों के साथ यहाँ अच्छी तरह पहुँच गई थी । आने के साथ ही मन्नो के बुख़ार चढ़ आया, इसीलिए अब तक चिट्ठी नहीं लिख सकी । आपने भी कुछ न सोचा कि ख़ुद ही एक पोस्टकार्ड डाल देते ।

रास्ते में कोई परेशानी नहीं हुई । वह पंजाबिन और उसके साथ के लोग शाम तक उतर गए थे । फिर तो ख़ूब जगह मिल गई । खाना खिलाकर बच्चों को सुला दिया था पर मुन्नी रात भर नहीं सोई । ठुनकती ही रही । तुम्हें भी बहुत याद कर रही थी । तुम्हें तो उसकी क्या ही याद आई होगी । हमें गाड़ी में बिठाकर तुम सीधे मेहरा के यहाँ चले गए होगे--या तो ताश की बाज़ी जमी होगी या गप्पें लड़ाई होंगी ।

ममता के दायरे से तीन पत्र

आजकल सर्दी इतनी पड़ रही है, अपना पूरा ध्यान रखना। सुबह को एक पाव दूध जरूर ले लेना और मैं रसोई की आलमारी में बेसन के लड्डू बनाकर रख आई थी, वे खा लेना। मेरी दवाइयों का पर्चा वहीं रह गया है, उसे भेज दीजिएगा। पिछली दवाई खतम हो गई और पर्चे के बिना दूसरी मँगा नहीं सकती। वैसे भी मुझे यहाँ दवाई वगैरह मँगाते-खाते शरम आती है। भाभी तो मुझे देखते ही मुसकुराईं और कहने से भी नहीं छोड़ा। बीना भी बेचारी मुझे देखते बोली कि 'हाय बीबी, आपका क्या हाल हो रहा है? कितनी कमजोर हो रही हैं।' मैं चुप रह गई। कुछ झूठ तो उन्होंने कहा नहीं। जिस-तिस करके अपनी गाड़ी चलाती हूँ, आप तो इस बात को नहीं जानते। अब तो बात दूसरी है पर वैसे भी उठते-बैठते मुझे बहुत कमजोरी लगती है। देह बिलकुल खोखली हो गई है। आप तो समझकर भी कुछ समझना नहीं चाहते हो। अकलमंद के लिए इशारा काफ़ी; लेकिन दबी जबान से कहने पर भी तुम पर कोई असर नहीं होता। कल शांति मिलने आई थी। शादी के बाद मैं अब उससे मिली हूँ। उसके पास दो बच्चे हैं--गोल-मटोल। अपने पाँचों बच्चे मुझे उनके सामने हड्डियों का ढाँचा लग रहे थे। बड़ी देर शांति बैठी रही, हम सुख-दुख की बातें करते रहे। आखिर उसने भी टोक ही दिया। अब मैं उससे क्या कहती, उसको क्या बताती कि यह सब हाल तुम्हारी बदौलत है। कल जब से वह गई है, मेरा मन बहुत परेशान है। तुमने आखिर मुझे समझ क्या रखा है.... । तुम्हारी नजरों में मेरी क़ीमत बस इतनी ही है न कि मैं तुम्हारी वहशी इच्छाओं को पूरी कर सकूँ। रात को मैं खूब रोई। मन इतना उदास था कि बार-बार मन में आ रहा था कि कभी उस घर में लौटकर न जाऊँ। पहले यह नौ महीने का कष्ट, फिर पालने-पोसने का कष्ट और फिर कभी बीमारी, कभी यह, कभी वह।.... शादी के बारह-तेरह साल से आज यही चक्कर चल रहा है। क्या मेरी सारी जिन्दगी इसी के लिए बनी हुई है? सुबह से उठकर रात तक काम में पिसना और थककर चूर होने पर भी तुम्हारी फ़रमाइश पूरी करना।....मैं तुमसे पूछती हूँ, क्या कभी भी तुम्हें ख़याल आया कि यह मर रही है या जी रही है? मुन्नी की बार ही लेडी-डॉक्टर ने कह दिया था कि इनकी तन्दुरुस्ती बहुत ख़राब है लेकिन आपने कानों में तेल डाल रखा था।

एक दिन दोपहर को मुझे चक्कर आ गया और शाम तक मैं जैसी की जैसी लेटी रही। उस दिन भाभी ने बहुत कहा कि अभी दिन ही कितने हुए हैं, तुम्हारी हालत देखकर कोई भी लेडी-डॉक्टर इसे ख़त्म करने की ही सलाह देगी। चलकर किसी को दिखा लो। उन्होंने बात तो ठीक ही कही थी....कई बार सोचा भी कि अच्छा है, छुट्टी पा लूँ। कब तक अपनी जान पर झेलती रहूँगी! इसी हाँ-ना के बीच झूलती रही लेकिन फिर मन ने गवाही नहीं दी। लगा कि ऐसी बात सोचना भी पाप है। जब तक ताक़त होगी, यह बोझ ढोती रहूँगी। वैसे भी ये सारे बच्चे अभी कौन-से सुख में हैं जो एक नया प्राणी आ



जाने पर इनके लिए कुछ और कटौती हो जाएगी।

आप तो शायद ये सारी बातें फ़ालतू की समझोगे। इन बच्चों का मोह बार-बार आता है, नहीं तो यही इच्छा होती है कि भगवान अब उठा ले तो अच्छा है।

तुम्हारी एक कमीज धोबी के यहाँ रह गई थी, उसे मँगा लेना और बेलू, टिल्लू की फ़ीस टाइम से भिजवा देना।

आगे क्या लिखूँ, सब ठीक ही है। यहाँ माँ, भाभी, भइया सब तुम्हें आशीर्वाद कहते हैं और सोनू, बेलू, टिल्लू, मन्नो और मुन्नी नमस्ते लिखाते हैं। चिट्ठी का जवाब जल्दी देना। शेष शुभ।

पुनश्च: अक्कू की अम्मा हमारा टी सेट माँग कर ले गयी थीं वो माँगकर रख लेना। तनख्वाह मिलने पर ३०-४० रुपये भेज दीजियेगा।

प्रेम सहित आपकी ही

कमला



• पत्र दो

नई दिल्ली

२ अक्तूबर '६३

प्रिय मेरे,

आज मन बेहद उदास हो उठा है। तुम्हारे पत्र का आज इंतज़ार था, पर वह भी नहीं मिला। पूरी शाम मैंने यूँही चुपचाप खाली बैठे-बैठे काट दी। रेडियो खोला, उसे बन्द कर दिया, निटिंग उठाई, दो सलाई के बाद वह रख दी, एक मैगज़ीन उठाई—उसके भी पन्ने पलट-पलटकर उसे रख दिया। मेरे चारों तरफ़ इतना सन्नाटा है, इतनी जड़ता है कि वह न रेडियो से टूटती है, न बुनाई से, न किसी और चीज़ से। तुम सोचो कि पूरे घर में अकेली मैं.... ऐसे ही अकेले बैठे-बैठे हर शाम गुज़ार देती हूँ। जाते समय तुम कितना कहकर गए थ कि यहाँ चली जाना, वहाँ चली जाना। चली तो मैं ज़रूर जाऊँ लेकिन सच मानो, कहीं जाकर भी यह शून्यता भरती नहीं, बल्कि और विकराल हो उठती है। बस तुम्हारे लौटने का एक-एक दिन गिनती रहती हूँ। तुम तो वहाँ हर समय बहुत व्यस्त रहते होगे। अपना सब रुटीन लिखना।

परसों अनिमा आई थी। ज़बरदस्ती खींचकर पिक्चर ले गई। उसका मन रखने के लिए मैं चली गई लेकिन वहाँ बैठी-बैठी बोर ही होती रही। तुम फिर नाराज़ हो उठोगे लेकिन सच कहती हूँ, मुझे अपने जीवन का कोई उद्देश्य .... कोई अर्थ दिखाई नहीं देता। अपनी ज़िंदगी मुझे बंजर धरती-सी लगती है.... हवा में उड़ता हुआ एक सूखा-पीला पत्ता। बाहर निकलती हूँ तो मुझे लगता है जैसे लोगों की निगाहें मुझे आर-पार भेद जाएँगी। मेरे मन में कितना-क्या भरा हुआ है, यह तुम नहीं जानते। सामने होते हो तो कुछ कहने नहीं देते। डाँटकर, हँसाकर या होंठों पर होंठ रखकर चुप करा देते हो पर इतनी दूर से तो तुम मुझे लिखने से नहीं रोक सकते। शायद तुम कहो कि मैं बहुत पेसिमिस्ट हूँ। हो सकता है—लेकिन मुझमें और तुममें

अंतर इतना ही है कि तुम यह महसूस करके भी सब-कुछ पी जाते हो और....और...! मैं खुद पर नियंत्रण खो बैठती हूँ। शादी के बाद कितने दिनों तक हम इसी भुलावे में रहे कि एक दिन इस घर में एक नया प्राणी आएगा। भुलावा ही सही....मगर बड़ा प्यारा भुलावा था और....और जब इतना इधर-उधर भटकने के बाद हमें यह कड़वा सच मालूम हुआ था, तब भी तुमने अपने को सम्हाल लिया था। तुम्हारे चेहरे को देखकर कोई कुछ कह नहीं सकता था लेकिन मैं जानती हूँ, जानती हूँ कि तुम्हारे मन का एक कोना तब हमेशा-हमेशा के लिए ख़ाली हो गया था। तुम झूठ नहीं बोल सकते....किसी बच्चे को देखकर तुम्हारी आँखों में जो चमक आ जाती है उसे तुम झुठला नहीं सकते....खिलौनों से भरी दुकान के सामने से निकलते हुए, एक क्षण को ही सही, तुम्हारे दिमाग़ में जो कौंध जाता है, वह भी मुझसे छिपा नहीं है। इन छः-सात सालों में तुम्हें बहुत अच्छी तरह समझ गई हूँ। याद है....एक बार शादी के बाद ही यहाँ आकर हम फ़र्नीचर देखने निकले थे और एक प्यारी-सी बेबी कॉट को देखकर तुमने शरारत से कहा था––'क्यों, ये भी ले चलनी है!' फिर मैं जानबूझकर तुमसे ख़ूब लड़ी थी कि तुमने क्यों इतनी ज़ोर से कहा, लोगों ने सुना होगा। उसके बाद इन कुछ बरसों में अगर फिर कभी हम फ़र्नीचर की दुकान में गए हैं, बेबी कॉट सामने पड़ी है, तो जैसे हमेशा तुम मुझसे नज़रें बचा गए हो। कह दो....कि यह ग़लत है।

यह घर मुझे जेलख़ाना लगने लगा है। यहाँ की हर चीज़ नपी-तुली और बँधी हुई है। एक समय था जब मुझे हर चीज़ को ढंग से, करीने से रखने की धुन थी। इसी बात को लेकर औरों से मेरी झड़प भी हो जाती थी....और अब....अब सच पूछो तो, मन करता है कि ये सारी सजी-सँवरी रखी चीज़ें किन्हीं नन्हें-नन्हें हाथों में पड़कर, यहाँ-वहाँ सारे में बिखरी पड़ी रहें। मगर कहाँ....घर की एक-एक चीज़ तो जैसे पत्थर बनकर रह गई है। उस दिन उनके टोनी को किलकारियाँ मारते देखकर, जब मैंने अपना फूलदान उठाकर उसके हाथों में थमा दिया था तो तुम्हें ताज्जुब हुआ था न? काश––तुम समझ सकते....।

दीवाली भी पास आ गई है। इस बार तुम भी घर पर नहीं होगे। बहुत सूना लगेगा। तुम होते हो तो चार दिये-मोमबत्ती कुछ तो जल ही जाते। तुम्हारे कहने पर भी ज्यादा रोशनी आदि करनी तो मैंने छोड़ ही दी है। बोलो, किसके लिए करूँ, किसके लिए पटाखे-आतिशबाजी मँगाऊँ! अनार-फुलझड़ी देखकर कोई ताली बजा-बजाकर खिलखिलाने वाला भी तो हो! तुम कहोगे कि मैं भावुकता में बह गई हूँ––भावुकता ही सही, मगर यह सच है।

हाँ, चार-पाँच दिन हुए, साथ वाले फ्लैट में लोग आ गए हैं। दो प्यारे-प्यारे बच्चे हैं। उनकी छोटी लड़की को एक दिन मैंने बुलाया भी था। मैं जानती हूँ, शर्म की वजह से ही वह नहीं आई मगर जाने क्यों मैं इसी बात पर ख़ूब रोई। मालूम नहीं, मेरे दिमाग़ को क्या हो गया है। किसी चीज़ का क्या मतलब होता है और मैं क्या समझ लेती हूँ। कितनी ही बार ऐसा भी होता है कि तुम अनजाने में ही कोई बात कह जाते हो या

कर जाते हो तो वह मेरे मन में चुभकर रह जाती है। तुम वह साधारण-सी बात भूल भी जाते हो और मैं उसी को लेकर खुद को कोसती रहती हूँ। अक्सर लगता है कि कहीं....कहीं ऐसा न हो, मतलब.... कि तुम मुझसे दूर हो जाओ....दूसरे व्याह की बात सोचने लगो। तुम नहीं जानते कि रात को जब तुम सो जाते हो तो तुम्हारी बाँह पर सर टिकाए-टिकाए या पाटी पर रखे.... मैं कितनी-कितनी देर जागती रहती हूँ। रात का बिखरा हुआ अँधेरा जैसे मुझे निगलने को आता है और तुम्हारे इतने प्यार, इतने आश्वासन के बावजूद भी मैं अपने को यह सब सोचने से रोक नहीं पाती। अक्सर चौंक उठती हूँ और कसकर हाथ से तुम्हारी कमीज़ जकड़ लेती हूँ। तुम नींद-नींद में ही प्यार से अपना हाथ मुझ पर रख देते हो और तब....तब तो और भी मन करता है कि फूट-फूटकर रो पड़ूँ। सोचती हूँ.. मैं तुम्हें दे भी क्या पाई। लेकिन बोलो.... तुम्हीं बोलो....इसमें मेरा क्या क़सूर है....मेरी क्या ग़लती है....! क्या मैंने ही चाहा था कि मैं अपने घर में किलकारियों की गूँज कभी न सुन सकूँ....क्या मैंने चाहा था कि....ख़ैर!

अब और उल्टी-सीधी बातें नहीं लिखूँगी। जानती हूँ यह सब सोचने के लिए तुम बिगड़ोगे ज़रूर।

हाँ याद आया। तुम्हारे लिखने से कोई फ़ायदा नहीं, चन्द्रा के यहाँ तो मैं जाऊँगी नहीं। मिसेज़ चन्द्रा जब मिलती हैं—तभी कहती हैं, 'आप आइए ना। आप तो दिन भर खाली रहती हैं, हमें तो बच्चे भी सम्हालने पड़ते हैं।' उँह—जैसे मुझे कोई काम ही नहीं, फ़ालतू हूँ!

आजकल यहाँ सर्दी पड़नी शुरू हो गई है—वहाँ तो बहुत ही पड़ रही होगी।

लिखना, क्या-क्या घूम डाला? कब तक काम खत्म होने की उम्मीद है?

अच्छा, पत्र लिखना।

सप्यार तुम्हारी
शैल



• पत्र तीन

कलकत्ता
३० सितम्बर '६३

डिअर आशु,

मेरा पत्र पाकर तुम चौंकोगे, यह मैं जानती हूँ। जो इंसान अब मेरी परछाईं से भी दूर भागना चाहता है, उस पर मेरा पत्र देखकर क्या प्रतिक्रिया होगी, यह मैं सोच सकती हूँ। वैसे तो इस पत्र का अर्थ भी तुम्हारे लिए कुछ नहीं है, क्योंकि यदि होता तो तुम इस तरह सारे संबंध न तोड़ बैठते। उँह.... मगर मैं भी कैसी पागल हूँ....मेरे साथ तुम्हारा संबंध था ही कौन-सा, सिवाय एक के और उससे जी भरने पर तुम कायरों की तरह भाग खड़े हुए।

तुम नहीं जानते कि तुम्हारे मद्रास से लौटने की मैं कितनी व्याकुलता से प्रतीक्षा कर रही थी। तुम्हारे वहाँ जाने के कुछ ही

दिन बाद मुझे मालूम हो गया था कि एक नया प्राणी मेरे अन्दर आ चुका है। जान कर, कह नहीं सकती, कि कैसी अनुभूति मुझे हुई। हर बार तुम्हें पत्र लिखते समय सोचती थी कि तुम्हें लिख दूँ मगर यही सोच कर रुक गई कि कुछ ही दिनों की तो बात है, तुम्हारे आने पर खुद ही तुमसे कहूँगी। आशु,....उस एक-डेढ़ महीने में ही मालूम नहीं मैंने कितनी कल्पनाएँ कर ली थीं,.... कल्पना में ही कितने नन्हें-नन्हें फ्रॉक बना डाले थे, गुलाबी-नीले सूट बुन डाले थे और .... और जब तुम आए तो ये सारी नन्हीं-नन्हीं चीजें टुकड़े-टुकड़े होकर ज़मीन पर बिछ गईं। तुमने मेरी पूरी बात भी कहाँ सुनी, बस--ठगे-से रह गए। तुम्हारे चेहरे पर आए भाव--आज भी सोचती हूँ, तो तुम्हारे लिए मन घृणा से भर जाता है। उस दिन तो तुम जल्दी-से-जल्दी चले जाना चाहते थे। इस मुसीबत से छुटकारा पाने के लिए तुमने तो उल्टी-सीधी तरकीबें बनाकर छुट्टी पा ली--तुम्हारे लिए यह बहुत आसान भी था पर.... क्या तुमने एक बार भी सोचा कि इस अनजान जीव को लेकर, मेरे मन में ममता का कितना भीषण ज्वार उमड़ आया है! मुझे खुद आश्चर्य होता है कि कैसे मेरा रोम-रोम इस नए प्राणी के साथ बँध गया है। और कुछ नहीं.... सिर्फ़ मैं तुमसे यह पूछना चाहती हूँ आशु, कि मेरे लिए न सही, क्या तुम्हारे मन में उसके लिए भी कुछ नहीं आता?

जो कुछ हो गया है, उसके लिए मैं केवल तुम्हें ही दोष नहीं देती, गलती मेरी भी है। लेकिन तुम समझ नहीं सकते कि यह गलती भी मैंने किस विश्वास के आधार पर की थी। मैं यूँ ही नहीं बह गई थी.... मुझे विश्वास था कि इस राह पर जहाँ तक हम बढ़ आए हैं, वहाँ से तुम पीछे नहीं लौटोगे, मेरा हाथ थामकर और आगे बढ़ चलोगे। कितनी शामें हमने साथ-साथ बितायीं--वह हुगली के किनारे की अनमनी शाम, वह विक्टोरिया की चंचल-व्यस्त शाम, वह लेक की शांत ठहरी हुई शाम....इन सबके बीच मैंने यही सोचा कि शायद मेरे-तुम्हारे बीच की सारी दूरी घुल गई है। इसी धारणा के बल पर, चाहे तुम्हारा हल्का-सा स्पर्श हो, चाहे चरम आत्मीयता के क्षण, मैं झिझकते-झिझकते भी हमेशा सहज हो आती थी। चाहती तो तुम्हें कहीं भी, किसी भी बिन्दु पर रोक सकती थी लेकिन मुझे लगा कि इतनी निकटता, इतनी आत्मीयता बिना मन में कुछ हुए हो ही नहीं सकती। तुमने कभी मुझे आभास भी नहीं होने दिया कि यह सब दिखावा है, मन बहलाने का खेल है। बड़ी खूबसूरत एक्टिंग करते हो। याद है, अक्सर तुम कहा करते थे, "मिनी, तुम्हारे साथ टाइम कैसे पास होता है, कभी पता नहीं चलता। सचमुच, यू आर सच ए वंडरफुल स्वीट लिटिल थिंग!" लेकिन इन सब बातों का अंत क्या हुआ! कुछ भी नहीं। तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगड़ा आशु, और मेरा जीवन वीरान हो गया।

जबसे तुमने इस तरह मुँह फेर लिया है, मैं बहुत परेशान हूँ। काम पर जाती हूँ, लेकिन जैसे-तैसे दिन पूरा करके चली आती हूँ। टाइप करने बैठती हूँ तो मेरी उँगलियाँ काँपने लगती हैं, अक्षर नाचते हुए लगते हैं। पॉमी सब-कुछ जानती है। बड़े खुले स्वभाव की लड़की

है। वह इन सब बातों को बड़ी लाइटली लेती है। अक्सर कहती है—'यह क्या रोनी सूरत बनाए रखती हो? जो बीत गया सो बीत गया। अरे उस चेप्टर को अब बन्द करो और नई लाइफ़ शुरू करो।' उसकी बात का मैं कोई जवाब नहीं देती, क्योंकि अपने हिसाब से वह ग़लत भी नहीं कहती। मैं भी ऐसी कितनी ही लड़कियों को जानती हूँ, जिनकी ज़िंदगी निरन्तर इसी ढर्रे पर चल रही है। हमारे यहाँ भी क्रिस्टीन कीलर जैसी लड़कियों की कमी नहीं है—थोड़ा-बहुत अंतर भले ही हो। पर आशु, मैं कीलर बनना नहीं चाहती। मैं अपने बच्चे को नष्ट करना भी नहीं चाहती। आख़िर उस बच्चे ने क्या पाप किया है जो हमारी ग़लती का दंड उसे दिया जाय! विदेशों की तरह यहाँ भी मेरी जैसी माँ के लिए संस्थाएँ होतीं तो शायद मुझे कोई राह सूझ जाती। ख़ैर, अपने बच्चे का पेट भरने लायक तो मैं कमा ही लूँगी। पर....पर...बड़े होकर, समाज में उसकी क्या स्थिति होगी, यह सोचकर मैं काँप जाती हूँ। उस समय शायद मैं उसके सामने आँख भी नहीं उठा सकूँगी। बहुत द्वंद्व में पड़ गई हूँ आशु,....कोई राह नहीं सूझती। जब भी सोचती हूँ कि अच्छा.... कुछ करूँ, निर्मम बनकर यह सब समाप्त ही कर डालूँ तो आँखों के सामने जैसे एक गुलाबी नन्हा-मुन्ना चेहरा नाचने लगता है और.... और मुझे लगता है कि दो छोटी-छोटी बाँहों ने मेरी गर्दन पकड़ ली है। मेरी जैसी माँ से पूछो आशु,....जिसके मन में कैसे-कैसे तूफ़ान नहीं उमड़ते होंगे....ऐसी माँ....जिसे अपने ख़ून से सींचे हुए खिलौने को दुलराने से पहले ही अपनी ममता का गला घोंटने को मजबूर कर दिया जाय।

हो सकता है, यह मेरा अन्तिम पत्र हो और किसी दिन मैं अपनी ज़िन्दगी को ख़त्म कर डालूँ।

कोई एक
मिनी

[पृष्ठ २३७ का शेष : श्री पत्री जोग लिखी सोची-नगर से]

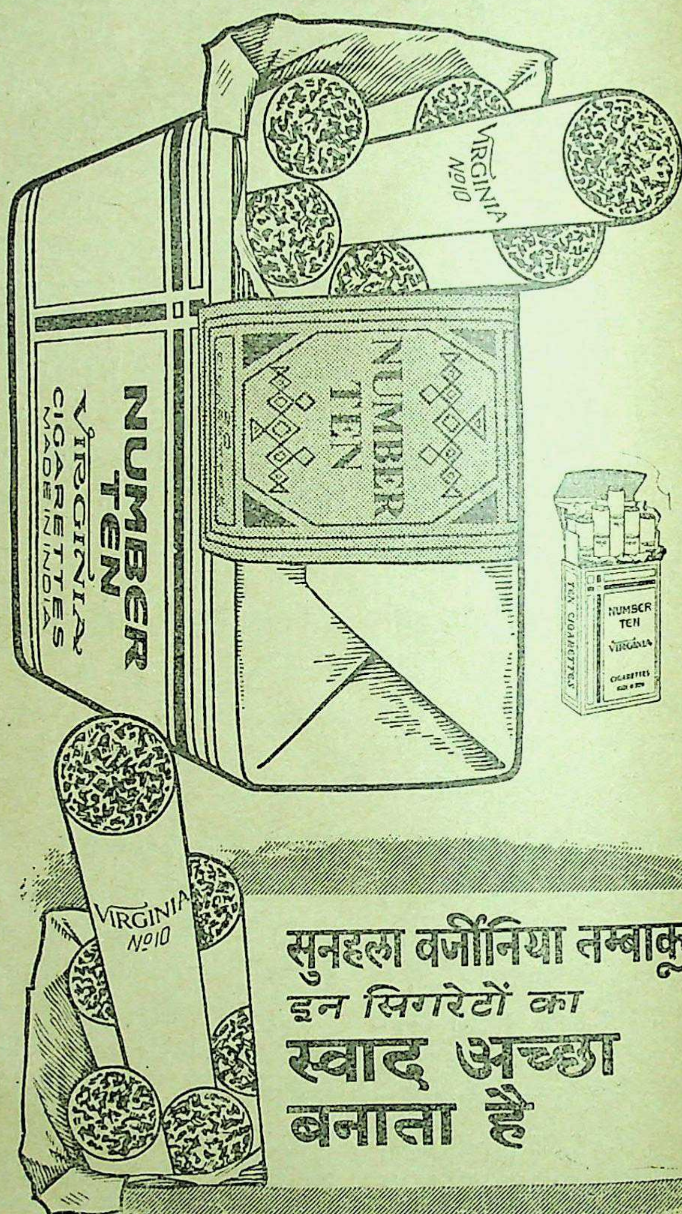
कर 'गरम घरों' में रोप दें। रोप दीजिये। मगर उस हालत में वह प्राकृतिक बाढ़, विकास और जीवन उसे कहाँ से मिलेगा।....

आपको इतना सब लिख मारा। मन से पत्थर-सा हट गया। आपका समय इतना ले लिया तो ले लिया, कर भी क्या सकता हूँ... यह तो हुआ, मगर, श्रीमन्, आपकी इन बातों के फेर में अगर रेस्तराँ बंद हो गया तो बावन दण्ड की एकादशी, यहाँ भी, लाख न चाहने पर भी हो जायेगी। अस्तु, अब फिर कभी।

भाभीजी की तबीयत अब कैसी है? कुमारों को स्नेह कहें। और समय मिलने पर ख़ूब लम्बा-सा, प्यारा-सा पत्र लिखें।

यहाँ से जॉर्जिया की राजधानी त्बिलिसी होता हुआ १२-१३ तक मास्को वापिस जाऊँगा। पत्र वहीं के पते पर लिखें। 'साईं दा' दिल्ली आयें तो उनसे मेरा आदर कह दें। पँका-(सो लांग)-

आपका
गोपेश


NUMBER TEN
VIRGINIA
CIGARETTES
MADE IN INDIA
NUMBER TEN
VIRGINIA
No 10
VIRGINIA
No 10
सुनहला वर्जीनिया तम्बाकू
इन सिगरेटों का
स्वाद अच्छा
बनाता है

गोकुलचन्द्र आचार्य

संस्कृत - साहित्य के अक्षय भण्डार से कुछ चुनी हुई प्रणय-पातियाँ

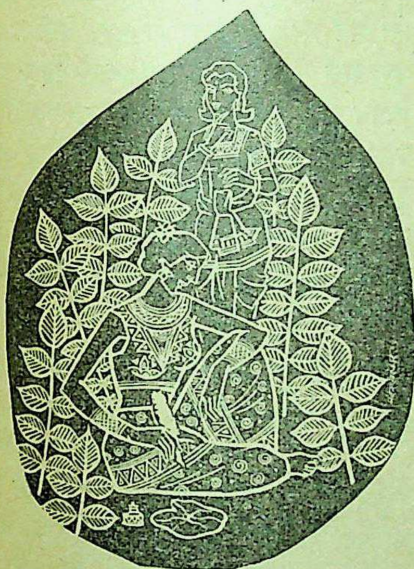
बी. ३।२० भदैनी
वाराणसी–१

प्रिय अमित,

तुमने कितनी बार चाहा कि प्राचीन साहित्य से कुछ प्रेम-पत्रों के नमूने दूँ। हिन्दी-अँगरेज़ी के लव-लेटर्स में तो माहिर हो न तुम, शायद इसीलिए चाहते होगे कि कुछ पुरानी टेकनीक के ख़त हाथ आएँ तो थोड़ा नमक-मिर्च लगाकर लव-लेटर्स-रायटर्स में अपना सिक्का जमाओ। तो लो, नमूने के तौर पर कुछ ख़तों की हू-ब-हू नक़ल भेजता हूँ :

शकुन्तला की पाती : दुष्यन्त के नाम

बक़ौल कालिदास एक बार राजा दुष्यन्त शिकार खेलते-खेलते महर्षि कण्व के आश्रम की ओर जा निकले। वहीं उसने वृक्ष सींचती शकुन्तला को देखा। आँखें चार हुईं और फिर तुम जानते हो, यहाँ शकुन्तला की हालत ख़स्ता, वहाँ दुष्यन्त की। सखियाँ परेशान। शकुन्तला को फूलों की सेज पर लिटाया, अनेक शिशिरोपचार किये, पर सब व्यर्थ। आख़िर सखियों ने राज़ जान ही लिया। योजना बनी, कि शकुन्तला दुष्यन्त को एक मीठी-सी पाती लिखे, और उसे प्रियम्वदा फूलों में छिपाकर देवपूजा के बहाने दुष्यन्त को दे आए। और तब सखियों के आग्रह पर शकुन्तला ने कमल के कोमल पत्ते पर नाख़ून से पाती लिखी :



तुच्छ ण आणे हिअअं मम उण
मअणो दिवा वि रत्ति वि।
णिक्किव दावइ बलिअं तुह
हत्थ मणोरहाइं अंगाइं॥

(अभिज्ञान शाकुन्तल ३ १९)

हज़ारों वर्ष पुरानी प्रणय-पातियाँ

"निर्दय ! पता नहीं तेरे मन का क्या हाल है, पर यहाँ तो बुरी हालत है। मैं तो अपना मनोरथ ही तेरे हाथों सौंप चुकी, और यह बलवान मदन अंग-अंग को दिन-रात जलाए डाल रहा है।"

अमित, संस्कृत-साहित्य का यह सबसे पुराना प्रेम-पत्र है, और जानते हो, सबसे बड़े कवि का। तुम इसे कितना सराह सकोगे, कह नहीं सकता पर शायद तुम्हें पता हो, अकेला यह पत्र ही नहीं समूचा शाकुन्तल ही भारत तथा विदेशों में कितना सराहा गया।

कुछ सौ वर्षों और आगे बढ़ आओ तो तुम्हें बाणभट्ट से मिलाएँ। संस्कृत गद्य में इनका दूसरा सानी नहीं है। कादम्बरी के रस से कौन नहीं झूम उठता। तो देखो, यह पत्र पुण्डरीक ने बाणभट्ट से ही ड्राफ्ट कराया था :

•पुण्डरीक का ख़त :

महाश्वेता के नाम

बक़लम बाणभट्ट, एक बार महाश्वेता अपनी सखि तरलिका के साथ अच्छोद-सरोवर में स्नान करने गयी। वहीं मुनिकुमार पुण्डरीक भी कपिंजल के साथ स्नान करने आया था। पुण्डरीक कान में पारिजात की कुसुम-मंजरी पहने था। उसकी अनाघ्रातपूर्व सुगन्ध चतुर्दिक फैल रही थी। महाश्वेता टकटकी बाँधे बहुत देर उस ओर देखती रही, और जब मन न माना तो जाकर पुण्डरीक को प्रणाम किया और मौक़ा पाकर कपिंजल से कुसुम-मंजरी तथा पुण्डरीक के विषय में पूछा। कपिंजल ने विस्तार से दोनों का वृत्तान्त सुना दिया। पुण्डरीक यह सब देखकर थोड़ा मुस्कराया और बोला, "अयि कौतुकवति, इस प्रकार के प्रश्नों से क्या प्रयोजन ? यदि तुम्हें यह मंजरी अच्छी लगती है तो लो।" और यह कहकर उसने कुसुम-मंजरी महाश्वेता के कान में पहना दी।

यह सब करते समय पुण्डरीक को यह भी बोध न रहा कि उसके हाथ से गिरती जयमाला को महाश्वेता ने ले लिया है। कपिंजल ने सचेष्ट किया तो पुण्डरीक ने अपनी जयमाला वापिस माँगी। "लीजिए अपनी जयमाला," कहकर महाश्वेता ने झट से अपने गले से मोतियों की माला निकाली और पुण्डरीक के हाथ में रखकर स्नान के लिए चल दी।

महाश्वेता स्नानोपरान्त घर जाने को हुई तो जैसे कुसुम-मंजरी के साथ पुण्डरीक का मन भी महाश्वेता के साथ जाने लगा। पुण्डरीक ने मौक़ा पा तरलिका से महाश्वेता के विषय में विस्तार से पूछा; आश्वस्त हो पास के तमाल का एक पल्लव तोड़कर उसे एक शिलातल पर निचोड़ा; और अपने उत्तरीय वल्कल से एक पट्टी फाड़ी और उस पर कनिष्टिका के नखाग्र से महाश्वेता के नाम एक पाती लिखी :

दूरं मुक्तालतया विससितया विप्रलोभ्यमानो मे।
हंस इव दर्शिताशो मानसजन्मा त्वयानीतः॥

(कादम्बरी : महाश्वेता-वर्णन)

"सुन्दरी, जैसे कोई मानसरोवर के हंस को मोतियों की तरह शुभ्रवर्ण मृणाल का लोभ देकर, आशा बँधाए, दूर तक ले जाता है, ठीक वैसे ही मृणाल की तरह शुभ्र वर्ण मोतियों की माला से लुभाकर, मन को आशा बँधा, तुमने मेरे मानस-जन्मा (काम) को

बहुत दूर (चरम सीमा) तक पहुँचा दिया है।"

अमित, यह खत तरलिका के हाथ में देकर पुण्डरीक ने कहा था कि उसे छुपाकर महाश्वेता को अकेले में दे देना। और तरलिका भी कितनी चतुर कि उसे ताम्बूल-पात्र में छिपाकर बिलकुल अकेले में महाश्वेता को दे आयी।

बाणभट्ट के कुछ सौ वर्षों बाद के महाकवि दण्डि से तो शायद, अमित, तुम्हारा भी परिचय है। पद-लालित्य का चतुर चितेरा यह महाकवि साहित्यिक इतिहास में भी अपने लालित्य के लिए अमर है। उनकी लिखी पाती कितनी ललित होगी। अब तुम्हीं देखो इसे :

•अवन्ति-सुन्दरी की पाती :
राजवाहन के नाम

एक बार वसन्तोत्सव मनाने महाराज मानसार की पुत्री अवन्ति-सुन्दरी अपनी प्रिय सखी बालचन्द्रिका के साथ नगरोद्यान में गयी। वहाँ आम्रवृक्ष की छाया में अक्षत, चन्दन, पुष्प आदि से कामदेव की पूजा की, और फिर बालचन्द्रिका के साथ खेलने लगी।

वसन्तोत्सव देख राजकुमार राजवाहन भी अपने मित्र पुष्पोद्भव के साथ नगरोद्यान में आया। घूमते-घामते वे लोग उस ओर जा पहुँचे जहाँ अवन्ति-सुन्दरी खेल रही थी। अवन्ति-सुन्दरी अपने आराध्यमान और संकल्पित वर को ही देखकर मानों खिल उठी और काम से गदगद हो गयी। उसने खेलना बन्द कर दिया। लजाकर एक ओर जा बैठी और एकटक राजवाहन की ओर देखने लगी।

राजवाहन का मन भी जैसे अवन्ति-सुन्दरी के सरस भावों से बल पाए हुए, कामदेव के बाणों से विद्ध-सा हो गया।

बालचन्द्रिका ने दोनों की भावभंगिमाओं से उनके मन की बात ताड़ ली और एक ब्राह्मणकुमार के रूप में राजकुमार का परिचय कराया। दोनों बैठे मधुरालाप कर रहे थे कि अवन्ति-सुन्दरी की माँ अपने परिजनों सहित वहाँ आ धमकी। थोड़ी देर वहाँ रही, बाद में राजकुमारी को साथ लेकर राजभवन को लौट आयी।

राज-भवन पहुँचकर काम-विह्वल अवन्ति-सुन्दरी की दशा विचित्र हो गयी। जब उसे बालचन्द्रिका से मालूम हुआ कि राजवाहन ब्राह्मणकुमार नहीं राजकुमार है तब तो वह काम से और भी व्याकुल हो उठी। सखियों ने नाना प्रकार के शिशिरोपचार किये किन्तु कोई लाभ न हुआ। बालचन्द्रिका ने देखा कि उसकी कोमलांगी सखी काम-ज्वर की चरम-सीमा पर पहुँच गई है और उसका एकमात्र उपचार है राजवाहन का संगम तो उसने पूरी योजना बनायी। राजकुमार के पास पहुँची और लम्बी पृष्ठभूमि के बाद बोली, "आपके हृदयालिंगन-सुख को अलभ्य समझकर भी कामान्ध होकर उसे प्राप्त करने की अभिलाषा से अवन्ति-सुन्दरी ने यह पाती लिखकर मुझे दी है।" राजकुमार उसे लेकर पढ़ने लगा :

सुभगकुसुमसुकुमारं जगदनवद्यं विलोक्यते रूपम्।
मम मानसमभिलषति त्वं चित्तं कुरु तथा मृदुलम्॥

(दशकुमारचरित अ० ५)

"सुभग, संसार भर में कुसुम-से कोमल तुम्हारे अनवद्य रूप को देखकर मेरा मन तुम्हें चाहने लगा है। तुम अपने मन को भी वैसा ही कोमल बनाओ न!"

इस पाती को पाकर राजवाहन की क्या हालत हुई होगी, बता सकते हो अमित? ख़ैर जाने दो; दिल की बात दिलवाले ही जान पाते हैं। और जानना ही चाहो तो अब तुम्हीं खोज लेना।

हाँ, ये तीनों ही पातियाँ हज़ार-हज़ार वर्ष से अधिक ही पुरानी हैं। सात-आठ सौ साल पुरानी चाहते हो तो महाकवि हरिचन्द्र की खिदमत करो। पता नहीं, उन्हें एक साथ तीन-तीन पत्र उद्धृत करने की अनुमति कैसे मिल गयी। आजकल उद्धृत करने की बात तो दूर, किसी का लव-लेटर पढ़ना भी चाहो तो वह उसे ऐसे छिपाता है जैसे धनी लोग इनकम-टैक्स के अधिकारी से अपना हिसाब-किताब। तो लो ये देखो :

●गुणमाला की चिट्ठी :

जीवन्धर के नाम

उस दिन जब सारा नगर जलक्रीड़ा के लिए गया तो जीवन्धर भी वहाँ पहुँचे। प्रातः से दोपहर हो आया। सूर्य तपने लगा, सब स्नान कर-करके लौटने लगे; पर दो सखियाँ थीं कि ज़िद कर रही थीं पाउडर के लिए। अपने-अपने पाउडर को दोनों श्रेष्ठ बतातीं। परीक्षण के लिए दासियों को पाउडर लेकर भेजा। दासियाँ घूमते-घामते जीवन्धर के पास पहुँचीं। जीवन्धर ने गुणमाला के चन्द्रोदय चूर्ण को आकाश में उड़ाया तो भौंरे आ गये। सुरमंजरी के सूर्योदय पर न आए। इस तरह श्रेष्ठता का निर्णय करके जीवन्धर राजभवन लौट आए।

इस प्रसंग से जीवन्धर और गुणमाला के मन में जो अनुराग जगा वह दिनों-दिन बढ़ता ही गया। आख़िर गुणमाला काम से बेबस हो गयी तो उसने एक मीठी-सी पाती लिखी और क्रीड़ा शुक द्वारा जीवन्धर के पास भेजी। जीवन्धर ने खोलकर पढ़ा। उसमें लिखा था :

मदीयहृतदयाभिधं मदनकाण्डकाण्डोद्यतं,
नवं कुसुमकन्दुकं वन तटे त्वया चोरितम्।
विमोहकलितोत्पलं रुचिररागसत्पल्लवं,
तदद्य हि वितीर्यता विजितकामरूपोज्ज्वल ॥

(जीवन्धरचम्पू ४।३३)

"कामजयी, रूपोज्वल, तुमने वन के तीर पर कामदेव के बाणरूपी दण्ड से उछाली हमारे हृदय रूपी फूल की जो गेंद चुरा ली थी उसमें मूर्च्छा रूपी उत्पल और रुचिर अनुराग रूपी पल्लव लगे हैं। कृपया उसे वापिस कर दें।"

जीवन्धर ने आनन-फानन में यह चिट्ठी पढ़ी। उसकी दशा गुणमाला से क्या कम थी। तुरन्त उत्तर लिखा :

●जीवन्धर का उत्तर :

गुणमाला के नाम

मम नयनमराली प्राप्य ते वक्त्रपद्मं,
तदनु च कुचकोशप्रान्तमागत्य हृष्टा।
विहरति रसपूर्णे नाभिकासारमध्ये,
यदि भवति वितीर्णा सा त्वयाहं ददामि ॥

(जीवन्धरचम्पू, ४।३५)

"मेरी नयन-हंसी सर्वप्रथम तुम्हारे मुख-कमल के पास गयी थी, फिर कुचकुड मलों

पर जाकर हर्षित हुई है और अब रसभरे नाभि-सरोवर में विहार कर रही है। यदि उसे वापिस लौटा दो तो मैं तुम्हारी गेंद वापिस कर दूँ।"

यह उत्तर पाकर गुणमाला को कितनी-कितनी खुशी हुई होगी? यह तो वही जाने जिसे अपने ख़त का जवाब तुरन्त का तुरन्त और इतना मीठा-मीठा मिला हो।

और यह आख़िरी नक़ल है एक ऐसी पाती की जो एक विवाहिता प्रेमिका ने अपने प्रेमी-पति को लिखी थी :

गन्धर्वदत्ता का पत्र :

जीवन्धर के नाम

तीर्थयात्रा के बहाने गये जीवन्धर एक लम्बे समय तक न लौटे तो परिवार के सभी लोगों को बड़ी चिन्ता हुई। गन्धर्वदत्ता ने अपने देवर नन्दाढ्य को उनकी खोज में भेजा और साथ ही गुणमाला के नाम से एक पत्र भी दिया। पत्र में लिखा था :

"आर्यपुत्र गुणमाला विज्ञापयत्येनम्——
कंदर्पो विषमस्तनोति तनुतां तन्वां ज्वरे गौरवं,
मृत्युश्चापि दयाकथाविरहितो मां नैव सम्भाषते।
आर्य त्वं च नवांगनासुखवशाद विस्मृत्य मां मोदसे,
जातिपल्लवकोमला कथमियं जीवेत्तव प्रेयसि।
स्वामिन्नंकुरितौ ममोरसि कुचौ बृद्धिं गतौ तावके,
वाचस्तावकवाग्रसैः परिचिता मौग्ध्येन ध्वसन्त्याजिता
बाहू मातृगलस्थलादपसृतौ त्वत्कण्डदेशेऽर्षिता
वार्यप्रेमपयोनिधे स्थितमिदं विज्ञापितं किं पुनः।
(जीवन्धर चम्पू ८।२१-२२)

"आर्यपुत्र, गुणमाला निवेदन करती है कि यह काम बड़ा विषम है। एक ओर शरीर को तो कृश कर रहा है पर दूसरी ओर ज्वर को बढ़ा रहा है। मृत्यु को तो जैसे दया छू भी नहीं गयी। वह तो मुझसे बात भी नहीं करती। आप तो नयी-नयी अंगनाओं के सुख में मुझे भूलकर आनन्द ले रहे हैं पर यह तो बताएँ कि चमेली के पल्लव-सी कोमल यह आपकी प्रेयसि कैसे जिये। प्रेम पयोनिधि आर्य, सच तो यह है कि ये जो हैं, मेरे वक्ष पर तो उत्पन्न ही हुए पर वृद्धि तो इनकी आपके ही निकट होने पर हुई। मेरे वचनों ने भी आपके वचनों के रस से परिचित होकर ही अपनी मुग्धता छोड़ी थी, ये भुजाएँ माता के गले से हटकर आपके कण्ठ का हार बनीं। आप जैसों के लिए विशेष क्या लिखूँ।"

अमित, कह नहीं सकता, तुम्हें ये सब कैसा लगे। पर, सच ही, हमें कृतज्ञ होना चाहिए उन महाकवियों का जिन्होंने इन्हें सुरक्षित बचा लिया।

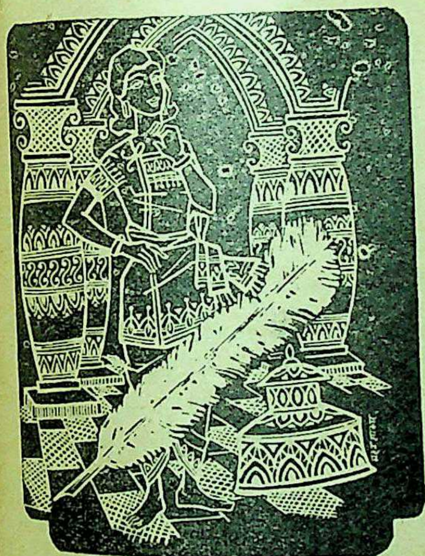
अन्त में इतना और, मैंने इन पातियों की नक़ल करने की अनुमति किसी से भी नहीं ली है। यह ठीक है कि इतना समय बीतने के बाद अब इनका कोई ऐसा वारिस नहीं जिनसे अनुमति लेना आवश्यक हो; पर पसन्द न भी आए तो भी मेहरबानी करके उन महाकवियों को बदनाम न करना, न उन पत्र-सृजेताओं को और न मुझ नक़लची को।

तुम्हारा अपना
आचार्य

संस्कृत साहित्य के अमर महाकवि कालिदास के नाम एक आधुनिक जिज्ञासु का पत्र।

सिद्ध श्री कैलाश महाशुभस्थानैक तत्र भवान् परमधीमान् कविकुल गुरु कालिदास के पादपद्मों में उज्जयिनी से आग्रेय घनश्याम सादर प्रणाम विज्ञापित करता है। भगवान महाकालेश्वर की असीम अनुकम्पा से और आपके आशीर्वाद से यहाँ सब कुशल-क्षेम है। आपके यहाँ भी कुशल-क्षेम आनन्दमंगल पुनः स्थापित हो--यह कामना करता हूँ।

आषाढ़ मास का पहला दिन आज पुनः आया है। उज्जयिनी का आकाश गत तीन दिनों से मेघाच्छन्न है। पुष्ट जलधाराएँ वसुधा का अविरल अभिषेक कर रहीं हैं। समस्त वनराजि, समस्त शस्य-सम्पदा का रोम-रोम पुलकित है--रस-विभार होकर झूम रहा है। लगता है, मानो आपके विरही यक्ष का आदेश मानकर मेघ उज्जयिनी की पौरांगनाओं के लोलापांगों में रम गया हो। किन्तु यह उज्जयिनी जिसे आपने स्वर्ग का कान्तिमत् खण्ड कहा है--अब वैसी कुछ भी नहीं है। क्षिप्रा तो आज भी उत्तरवाहिनी ही है। महाकाल के मंदिर में घण्टा-निनाद के साथ प्रातः सायं आरती भी होती है। परन्तु सम्राट् विक्रमादित्य की राजधानी श्रीविशाला-विशाला-उज्जयिनी, जिसके बाज़ारों में मणि-माणिक्य, हीरे-मोती खुले ढेरों में बिकते थे--वह उज्जयिनी न जाने धरातल की किस सतह में दबी पड़ी है। पुरातत्व विदों को तो मिली नहीं। वे तो मानते ही नहीं कि सम्राट् विक्रमादित्य नाम का कोई व्यक्ति आज से दो हज़ार वर्ष पूर्व सचमुच कहीं था भी। मानें भी कैसे? न तो कोई मुद्रा उनके राज्यकाल की कहीं मिली, न कोई शिलालेख, ताम्रपत्र आदि ही। आपने भी अपनी किसी पुस्तक में उनका या उनके राज्य-काल का कोई उल्लेख नहीं किया।



• • • घनश्याम देवड़ा

महाकवि कालिदास के नाम एक पत्र

क्या आप यह सूचित करने का कष्ट करेंगे कि आपके युग के ध्वंसावशेष उज्जयिनी के किस कोने में दबे पड़े हैं ताकि वहाँ उत्खनन करके कुछ प्रमाण एकत्र किये जा सकें।

आपने किस सौभाग्यशाली स्थान को अपने जन्म से गौरवान्वित किया था—किस मंगलमय मास-दिवस-नक्षत्र में आपका प्रादुर्भाव हुआ था और अपने जीवन-काल में आपने क्या किया, कहाँ रहे, किसके साथ, कब तक रहे—सब एक अबूझ पहेली बना हुआ है, रहस्य के आवरण में है। हमारे सामने है केवल आपकी ऋताम्भरा प्रज्ञा से प्रसूत ये आलोक सामान्य कृतियाँ—अभिज्ञान शाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम, मालविकाग्निमित्रम्, रघुवंश, कुमार-संभव, मेघदूत, ऋतु-संहार। और हम विस्मय-विमुग्ध हैं इन्हें पढ़कर।

यह पत्र मेरा आप तक पहुँच जाए तो मैं अपने को सौभाग्यशाली समझूँगा। आप के युग में तो पत्र सम्भवतः भूर्जपत्र पर या ताड़पत्र पर ही लिखे जाते होंगे। लेखनी के लिए मयूर-पक्ष का प्रचलन रहा होगा। कम-से-कम मेरी जानकारी तो यही है। आपने भी कभी किसी को पत्र लिखे होंगे, परन्तु बहुत खोजने पर भी आपका लिखा पत्र पढ़ने-सुनने में आया नहीं। हाँ, आपके नाटकों में कुछ पत्र अवश्य मिले हैं जो लिखे आपने हैं—पर दूसरों की ओर से।

पहला पत्र विक्रमोर्वशीयं नाटक में वर्णित है। उर्वशी ने पुरुरवा को यह पत्र भूर्जपत्र पर लिखा था। पत्र लिखकर वह भूमि पर डाल गयी। पुरुरवा के सखा विदूषक ने इसे उठाया और राजा ने पढ़ा; आपने पद्य पद्ध किया—

स्वामिन् सम्भाविता यथाहं त्वयाज्ञाता।
तथानुरक्तस्य यदि नाम तवोपरि॥
ननु मम लुलित पारिजात शयनीये भवन्ति।
नन्दनवन वाता अप्यत्युष्णकाः शरीरके।

"यानी, स्वामिन्! आपने मुझे जैसा समझ लिया है वैसी मैं नहीं हूँ। आपने बिना जाने मुझे ऐसा मान लिया है—कि आप मुझ पर अनुरक्त हैं और मैं नहीं। किन्तु मुझे तो आपके बिना पारिजात पुष्पों की कोमल शय्या पर भी नींद नहीं आती और नन्दन-वन की वायु भी शरीर को अत्यन्त उष्ण लगती है!"

पुरुरवा गद्‌गद् हो जाता है और विदूषक कहता है, "अँगुली के पसीने से इसे दूषित मत करो। यह प्रिया के स्वयं के हाथ के लिखे हुए अक्षर हैं। इसे सम्हाल कर रखो।" परन्तु विदूषक की असावधानी से यह पत्र राजा पुरुरवा की परिणीता रानी के हाथ में पड़ गया। उसने पढ़कर सब जान लिया और राजा को इस कारण बड़ा लज्जित होना पड़ा।

अभिज्ञान शाकुन्तल में भी आपने एक पत्र लिखे जाने की तैयारी का वर्णन किया है। पत्र लिखा नहीं गया परन्तु उसमें क्या लिखना चाहती थी शकुन्तला, यह आपने छन्दोबद्ध किया है। शकुन्तला ने यह पद्य अपनी सखियों को सुनाया पर निकट ही लतावलय में छिपे हुए दुष्यन्त ने भी इसे सुन लिया और तत्काल स्वयं प्रकट हो गया। सो यह पत्र एक विचार ही रह गया। हाँ पत्र लिखने के जो साधन एकत्र किए गये वे बिलकुल अनोखे थे। सुकोमल-कमल के पत्र पर शकुन्तला की

सुकोमल अँगुली के सुतीक्ष्ण नाखून से यह पत्र लिखा जाने वाला था।

मैं समझता हूँ, ये दोनों पत्र अवश्य ही किन्हीं ऐसे पत्रों की छाया रहे होंगे जो आपको कभी किसी प्रेयसी से मिले होंगे। आपने पत्र नामकरण भी तो कितना सुन्दर किया है : "मदन लेख"—कामदेव के लिए लेख—आज की भाषा में इसे प्रेम-पत्र कहते हैं।

किन्तु देववाणी का जो सबसे प्राचीन उपलब्ध गद्य-पत्र है, वह आपके सर्वप्रथम नाटक मालविकाग्निमित्रम् में है। यह पत्रकिस वस्तु पर लिखा गया था——इसका तो आपने कोई वर्णन नहीं दिया है——किन्तु पत्र का ऐतिहासिक व राजनैतिक महत्व है। सेनापति पुष्यमित्र ने अपने पुत्र राजा अग्निमित्र को यह पत्र सन्देशवाहक के साथ विदिशा भेजा है। इसमें अश्वमेध यज्ञ में सम्मिलित होने का निमंत्रण है।

"स्वस्ति यज्ञशरणात् सेनापतिः पुष्यमित्रो वैदिशस्थं पुत्रमायुष्मन्तम् मग्निमित्रं स्नेहात् परिष्वज्येदमनुदर्शयति। विदित मस्तु। योऽसौ राजयज्ञ दीक्षितेन मया राजपुत्र शत परिवृतं वसुमित्रं गोप्तार मादिश्य वत्सरोपात्त नियमो निरर्गल तुरंगो विसृष्टः स सिन्धोर्दक्षिणारोध। सः चरन्न श्वानीकेन यवनेन प्रार्थितः। तत्त उभयोः सेनयोः महानासीत् सम्मर्दः। (शेषं पुनर्वाचयति)

"ततः परान् पराजित्य, वसुमित्रेण धन्विना। प्रसह्य ह्रियमाणोमे वाजिराजो निर्वर्तितः॥ (शेषं पुनर्वाचयति) सोऽहं मिदानीमंशुमता सगरपुत्रेव प्रत्याहृताश्वो यक्ष्ये। तदिदानीमकाल हीनं विगत रोष चेतसा भवता वधु जनेन सह यज्ञ सेवनायागन्तव्यम्। इति।"

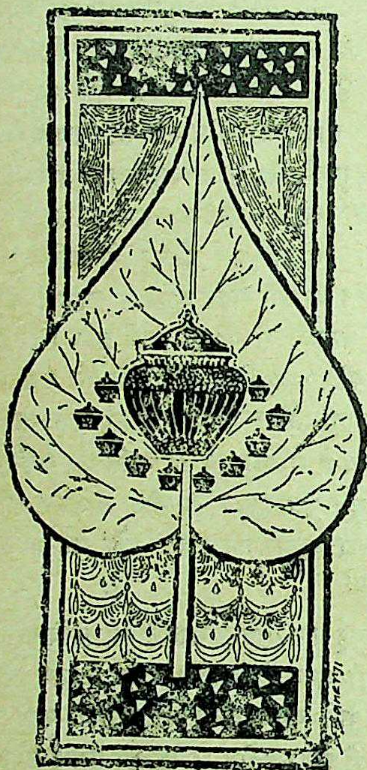
राजदरबार में सन्देशवाहक उत्तरीय के साथ यह पत्र राजा अग्निमित्र को देता है——जिसे राजा अत्यन्त आदरपूर्वक स्वयं लेकर स्वयं ही सबको पढ़कर सुनाता है :

"स्वस्ति। यज्ञ शरण से सेनापति पुष्यमित्र विदिशा स्थित आयुष्यमान् पुत्र अग्निमित्र को स्नेहपूर्वक आलिंगन विज्ञापित करता है। विदित हो कि मैंने अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा ली और एक सौ राज-घरानों के नवयुवकों के साथ वसुमित्र (अग्निमित्र के पुत्र को) यज्ञीय अश्व के साथ भेजा। घोड़ा जब सिन्धु के दक्षिण में चर रहा था उसे यवन राजा ने पकड़ लिया। दोनों सेनाओं में महान् युद्ध हुआ। वहाँ (मेरे पौत्र) वसुमित्र ने शत्रुओं को पराजित कर घोड़ा लौटा लिया। इस सफलता के उपलक्ष्य में मैं अंशुमान की भाँति यज्ञ करूँगा। अतः तुम सब प्रकार से क्रोध छोड़कर शीघ्र से शीघ्र बहुओं को लेकर यहाँ आ जाओ। इति।"

यह पत्र ऐतिहासिक है या कवि-कल्पना यह तो आप ही जानें। पर लिखने वाला और पाने वाला दोनों ऐतिहासिक पात्र हैं। अतः मैं इसे प्राचीन भारत का प्रथम उपलब्ध ऐतिहासिक राजकीय पत्र मानता हूँ। मैं समझता हूँ कि मेरा विचार सही होगा।

कृपा बनाए रखिए। पत्रोत्तर देकर अनुग्रहित करें। इति शुभम्। पत्र लिखा शुभ मिती आषाढ़ शुक्ल प्रतिपदा संवत् २०२० विक्रमी ओम शम्।

●



केशवचन्द्र वर्मा



• 'बाल की खाल' लेखमाला के अन्तर्गत इस अंक में दीवाली के माहौल में रिटायर्ड पोस्टमास्टर बाबू गया परशाद के पुराने पत्रों का जायजा लें। •

दीवाली कभी त्योहार की तरह नहीं आती ! वह तो एक माहौल की तरह आती है। दशहरा बीतते-न-बीतते एक तरह का माहौल खड़ा हो जाता है—घर का मोहभरा-संग्रह वृत्तिदायी कबाड़, मंत्रियों के विज्ञापनी भाषणों को समेटे अखबार के गड्ड, टूटी हुई साइकिल और पुरानी कुर्सी-मेज़ों के हत्थे और पाए, चारपाइयों की बाध और सड़ी हुई सुतली के ढूह, साल भर की चलती हुई बीमारियों की गवाही देने वाली दवाइयों के शीशियों के झाबे, नौकरों की कृपाकोर की मारी हुई अनेक केतलियों के टूटे मुँह और उनकी टोपियाँ, शीशियों की अजायबघरी डाटें, जले हुए मिट्टी के तेल की याद बटोरे कनस्तरों की खड़खड़ाती लाइन, और आँगन को रेलवे-मार्ग का भ्रम दिलाने वाले कोयले के चूरे—सब इस तरह से इकट्ठा होकर एकाएक सामने आ जाते हैं कि बीते साल की उपलब्धि साकार दिखलाई देने लगती है। इस सबके बीच अत्यन्त महत्वपूर्ण की कोटि में रक्खी हुई पत्रिकाओं में से काम की चीज़ों में से छँटाई, कबाड़ी से मोल-भाव, दीवारों पर चलती हुई कूचियों की सीली हुई गंध, हर उखड़े हुए फ़र्श पर सीमेंट का गीला चप्पड़, घर के चारों ओर चूने-बालू के ढेर—अपने ही घर में कुछ दिनों के लिए परदेसी बना जाते हैं ! हर मिनट लगता है कि कब यह माहौल खत्म हो और कब घर में भलेमानुसों की तरह बैठने को मिले !

भाँप लेते हैं लिफ़ाफ़ा देखकर

चैन कहीं नहीं। सारे मुहल्ले में यही वातावरण था। किराएदारों को मकान-मालिकों से निपट लेने, अपने स्वत्व को सिद्ध करने और कौन बड़ा कौन छोटा दिखलाने का यह स्वर्णिम अवसर था। उड़ते हुए चूने की हल्की सफ़ेदी खपरली बँगलों की टाट वाली छतों से झर रही थी। मैं 'ईस्नोफीलिया' के रोगियों की तरह नाक पर रूमाल फ़िट करके भाग रहा था। हर घर के सामने कचरे के ढूह इस तरह खोए-खोए-से पड़े थे जैसे वे घरेलू-कामराज-प्लॉन के मारे हुए हों!

आगे ही बाबू गया परशाद का जालीदार बरामदा था। सन्नाटा था। काठ की तिपाई और कपड़े वाली आरामकुर्सी यथावत् थी। टीन की छोटी-सी कुर्सी भी मछली-फसाने वाले काँटे की तरह इस समय निर्लिप्त दीखती पड़ी थी। बरामदा समूचे मुहल्ले के वातावरण से अलग दिखाई पड़ रहा था। चूँकि बाबू गया परशाद को किराएदार और-मकान-मालिक के संघर्ष का सामना नहीं करना था इसलिए उनके घर में दीवाली का माहौल विशेष प्रभावशाली नहीं लग रहा था। चारों तरफ़ फैली चूने की चाँदनी ने मुझे बरबस उस अछूते बरामदे की ओर बढ़ने के लिए मजबूर किया। 'जल बिच पियासी मीन' की तरह मैंने टिन की कुर्सी का मौन निमंत्रण स्वीकार कर लिया। आज मगरमच्छ से मुझको डर नहीं लग रहा था। पहली बार मुझे यह भास गया कि लोग शौक़ के लिए आत्म-हत्या किस तरह स्वीकार कर लेते हैं! पिंजड़े वाले बरामदे के दरवाज़े के सामने का पत्थर तक झाड़ू की पोंछ पा चुका था। मैंने आवाज़ दी—

"मुंशीजी हैं क्या ?"

अन्दर से गहराती हुई हुँकारी की वैसी ही आवाज़ सुनाई पड़ी जैसी अक्सर स्वार्थ को सिद्धांत बनाने वाले एक्सपर्ट आत्मा की आवाज़ के नाम पर लगाते हैं। टिन की कुर्सी पर मैं बैठ गया। तिपाई के नीचे शतरंज की बिसात और गोटों का जंग खाया हुआ डिब्बा पड़ा था। चिक के पीछे से आँगन की एक झलक आ रही थी। सहसा बग़लवाले कमरे से बाबू गया परशाद हाथ में कॉफ़ी का प्याला लिये आते दिखे! मुझे बैठा देख अन्दर से ही हँसे—

"ओ हो, वर्मा साहब....आप ?"

मैंने कहा—"हाँ बहुत दिनों से..."

'ओहो' कहते और बंडीनुमा अपना कुरता सम्हालते हुए वे आकर अपनी आराम-कुर्सी वाले सिंहासन पर विराज गए। कॉफ़ी का प्याला तिपाई पर रखकर बोले, "कॉफ़ी पियेंगे ?"

मेरे 'नहीं, कह देने पर उन्होंने दुबारा नहीं पूछा। वहीं से आवाज़ लगाई—"बिटिया! वह थैला यहीं दे जाओ!"

उनकी आवाज़ पाकर उनकी लड़की डाक-विभाग का मैला कैनवेस का थैला उनके पास रखकर चली गई! बाबू गया परशाद ने मुझसे 'और क्या हाल-चाल है ?' का ठेका लगाते हुए झोले में से पुराने लिफ़ाफों और पोस्टकार्डों का एक ढेर सामने की तिपाई पर उलट दिया। फिर उन्होंने उसे पीटकर धूल का एक हल्का-सा धुंध पैदा किया। मुझे फिर उलझन हुई। दीवाली यहाँ तक घुसी हुई थी!! धूल के धुंध को फिर से उठने से रोकने के लिए मैंने

पूछ दिया--"क्या आप भी सफ़ाई में लगे हुए हैं ?"

उनकी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-मार्का मूँछें फिर कुछ-कुछ थिरकने लगीं।

"सफ़ाई नहीं, अपनी कमाई की देख-रेख कर रहा हूँ !"

रिटायर्ड पोस्टमास्टर बाबू गया परशाद के हाथ में पुराना डाक-थैला देखकर मेरे अन्दर का उत्साह भीड़ाभिमुख-कवि सम्मेलनी कवि की तरह मचलने लगा !

"कमाई ?....मतलब यह कि सारे ख़त आप..."

"जी हाँ....यह सब ख़त मैंने अपनी नौकरी के दरम्यान बटोरकर रक्खे थे.... ये कुछ बच गए हैं...इन्हीं की देखभाल..." वे बोल रहे थे।

"अरे हटाइए भी !" दीवालीपन के वातावरण से ऊबकर मैं बोल पड़ा, "आपने भी अच्छा बवाल पाल रखा है.... इसे घर की अँगीठी सुलगाने के लिए दे डालिए। इसे पढ़-पढ़कर आपको पुरानी यादों के अलावा कुछ हाथ नहीं आएगा !.... और इस उमर में उस तरह की बचकानी यादों को बटोरकर भी क्या कीजिएगा ? यह कूड़ा हटाइए तो आपका यह थला भी साफ़ हो जाएगा..." मैंने थैले की तरफ़ देखते हुए कहा, "थैला तो अभी काफ़ी अच्छा है....आटा ही पिसवाकर रखने के काम आएगा !"

वे पोस्टकार्ड छाँट-छाँटकर एक तरफ़ रख रहे थे। बीच-बीच में अपनी मूँछ को एक हाथ से नीचे की तरफ़ दबाते जा रहे थे। अब उनकी वाणी मुखर हो, उतने भर के लिए मैं काफ़ी खरोंच चुका था। उन्होंने बिना मेरी ओर देखे सिर्फ़ एक वाक्य कहा--"क्या उमर है आपकी ?"

छँटते हुए पोस्टकार्ड और अपनी उमर के बीच में सीधा 'कनेक्शन' नहीं जोड़ सका--"होगी कुछ !....आपके इस कूड़े से मेरी उमर को क्या लेना-देना है ?"

पोस्टकार्ड के बाद अब लिफ़ाफ़ों का नम्बर था। सफ़ेद, गुलाबी और नीले लिफ़ाफ़े बिखरे पड़े थे। ताश की गड्डी की तरह उसे वे सहेज रहे थे। मेरी ओर एक निगाह देखकर सूत्रवाक्य बोले--"उमर से नज़र का फ़र्क पड़ जाता है बाबू साहब !"

"वह तो पड़ता ही होगा पोस् माट् साब ! ....नहीं तो जिस कूड़े के लिए आप एक बढ़िया कैनवेस का थैला फँसाए पड़े हैं उसे छोड़ने के लिए तैयार न हो जाते ?" मैंने उन्हें कोंचते हुए कहा। उनकी मूँछें फिर थिरकने लगीं--"आप जिसे कूड़ा समझते हैं वह कूड़ा हो तब न ! मैंने आपसे पहिले ही कहा था कि यह मेरी कमाई है।"

"तो क्या ये ख़त आपके अपने नहीं हैं ?"

"अपने से क्या मतलब ?...अगर अपने से आपका मतलब मालिक हो, तो मैं इस सबका मालिक हूँ !"

"मगर ये लिखे किसने हैं ?.... और किसे ?"

"इससे आपको क्या लेना-देना ?... आप नौजवान आदमी हैं....आपको ज़रा जल्दी इन ख़तों की क़ीमत नहीं समझ में आएगी !"....बात ये है बाबू साहब कि इन्हीं से अपनी परवरिश हो रही है !"

उन्होंने लिफ़ाफ़ों को हरुफ़ों और रंगों के हिसाब से छाँटना शुरू कर दिया था।

मैं उनके रहस्यमय वक्तव्य से चकित था। पर राज़ कुछ समझ में नहीं आ रहा था—

"तो क्या आप इसका 'व्यौपार' करते हैं?"

उन्होंने दो टूक उतर दिया—"जी हाँ!"

"मतलब?"

"मतलब पैसा कमाते हैं।"

"दूसरे की लिखी चिट्ठी आपसे खरीदने कौन आता था और अब इस कूड़े पर कौन पैसे खर्चेगा?"

उन्होंने अपनी मूँछें दबाते हुए मेरी ओर देखा और कहा—"इसी सबको समझाने के लिए ही तो मैंने आपकी उम्र पूछी थी! ....देखिए, इस 'लॉट' में से कुछ चिट्ठियाँ तो बड़े सस्ते दाम पर निकल गईं! जो इस भाव ले गए वो सब 'पोलिटिकल सफ़रर' हो गये—राजनीतिक पीड़ित! मुझसे मुहरदार चिट्ठी ले गए और सनदयाफ्ता हो गए! कुछेक में तो इधर-उधर नाम वगैरह बदलने की ज़रूरत पड़ी थी पर बहुतों में वह भी नहीं। बात ये है, किसी को माताबदल या रामफेर सिंह बन जाते कितनी देर लगती है बाबू साहब!....इसमें तो मुनाफ़ा अच्छा नहीं मिला लेकिन वर्धा और सेवाग्राम के पुराने लिफ़ाफ़ों का अच्छा भाव चढ़ा था। जो ले गए वो भी घाटे में नहीं रहे। एक-एक चिट्ठी की अच्छी तरह 'कैश' कराये हैं लोगों ने!"

मैं सन्नाटे में था। कथाप्रेमी श्रोता की तरह अभिभूत-मुँह खुला-का-खुला था।

"और इधर तो वर्मा साहब! जबसे पुरानी चिट्ठियाँ छपने का चलन अखबारों में हो गया है तब से दस-पाँच लिखने-पढ़ने वाले किताबी लोगों की चिट्ठी-पत्री भी अच्छे भाव से गई! पर इसमें उतना मुनाफ़ा नहीं होता! बात ये है कि ले जाने वाले इससे जितना पैसा कमाते हैं उसकी हवा भी नहीं लगने देते! इसी से इसका 'मारकेट' अच्छा नहीं चलता!"

"लेकिन दूसरों की चिट्ठियाँ....? यह सब आपने उड़ाया कैसे?" मैंने अबकी पूछा।

मुड़े हुए लिफ़ाफ़ों की कोर-कगर ठीक करते हुए बाबू गया परशाद बोले—"लिफ़ाफ़ा देखकर खत का मज़मून भाँपने-वाले तजुरबेकार ज़रा मुश्किल से मिलते हैं! कॉपी जाँचनेवाला मास्टर एक निगाह में देखकर बता देगा कि लड़का पास होगा कि फ़ेल? वैसे ही हम लोग भी चिट्ठी देखकर बता देंगे कि मरने-जीने की खबर वाली चिट्ठी है कि बेहूदी लफ्फ़ाज़ी वाला लौंडि-हाई प्रेमपत्र है!"

"लेकिन दूसरे की चिट्ठी उड़ाना और बेचना यह तो निहायत बेईमानी है और आप पकड़े जायँ तो जेल जायेंगे!" जुर्म भी है।

उन्होंने मेरी ओर देखकर इस बार कहा, "बाबू साहब! कोई रोज़ का तो ये धंधा नहीं है। कहीं दस-बीस हज़ार चिट्ठी निकलती हो तो दो इधर-उधर हो गईं। गैर-बँटी चिट्ठी बटोर लिया। नहीं तो देख लिया कि आज नहीं तो कल आपके पास दूसरी चिट्ठी पहुँच जाय। और फिर इसे भी आप बेईमानी कहें तो कह लीजिए। आप नौजवान आदमी हैं! इस तरह देखिएगा तो पाइएगा कि ईमानदारी सिर्फ़ आपकी ज़बान से निकलने वाला एक शब्द रह गया है!....और—सच पूछिए

तो किसी के मरने-जीने की ख़बर रुकती नहीं ! अगर दस-पाँच सिफ़ारिशी चिट्ठी रोक कर श्यामाचरन की जगह मुन्नालाल को काम दिलवा देते हैं, तो क्या बुरा करते हैं ? श्यामाचरन से किसी और ने और मुन्नालाल से चार पैसे हमने अपनी मेहनत के ले लिये तो क्या बुरा किया ?.....और साहब, ये लिखने-पढ़ने वाले अगर रूस और अमरीका के ऊपर 'ऐसे' लिख-लिखकर चिट्ठियों में भेजते हैं और उसे मैं तीसरे को देकर चार पैसा अपने बाल-बच्चों को दिला देता हूँ तो इसमें क्या पहाड़ टूट पड़ा ?.... फिर वह जब छप गई तो चाहे जो उसे पढ़े,.... कोई उसे रोकता नहीं ! जिसकी है वह भी पढ़े और जिसकी नहीं है वह भी पढ़े ! और हमारे बाल-बच्चे भी पढ़ें-लिखें !!"

मैंने एक बार फिर बाबू गया परशाद को ऊपर से नीचे तक देखा। उनके पाँव के पास शतरंज की गोटों का डिब्बा पड़ा था। अकेले बैठकर भी शतरंज खेली जा सकती थी, इसे अब मैं समझ रहा था।

"तो क्या सब लोग ऐसा करते हैं ?" मैंने कुतूहलवश पूछा।

उन्होंने सहज भाव से कहा, "नहीं, सब लोग क्यों करेंगे ?....यह तो मेरी अपनी सूझबूझ थी ! नौकरी छोड़े मुझको अर्सा हुआ पर मैं तो आज तक काम की चीज़ें बटोरता रहता हूँ। रास्ता चलते पोस्ट-कार्ड और ख़त मिला तो उठा लाता हूँ। क्या पता, कोई गाहक निकल ही आए। आपके पास अगर पुराने ख़त पड़े हों तो मुझे दे जाइए। काम के होंगे और दाम लगेंगे तो अपना पैसा ले जाइएगा !"

मैं कुछ घबड़ाया हुआ था। बोला नहीं। वे ही कहते रहे--"अगर आपके पास दो-चार इश्क़िया ख़त हों और एतराज़ न हो तो लेते आइएगा।.... वैसे उनकी ख़पत कम होती है पर शादी-व्याह में अड़चन पड़ने पर नामों का उलटफेर करके इस तरह के ख़तों से लोग काम निकाल लेते हैं ! पर हैण्डराइटिंग ठीक होनी चाहिए।"

वे फिर लिफ़ाफ़े सहेजकर उनके अंदर के ख़तों के हिसाब से उन पर पेंसिल से निशान लगाने लगे। मैं उठ खड़ा हुआ, मुंशी गया परशाद के पिंजड़े से निकलने के लिए इजाज़त माँगी और बाहर आ गया। चूने की चाँदनी से बचते हुए अपने घर वापस लौट आया।

यहाँ अब भी दीपावली का चौगिर्दा माहौल था।

मैंने आँखों पर ख़ूब मोटा धूपी चश्मा चढ़ाया, सिर को ढँकने के लिए एक बड़ा-सा टोप पहिना, नाक पर रुई की गद्दी लगाकर एक पट्टी बाँधी और बिल्कुल अंतरिक्ष-यात्री जैसा रूपक बनाकर अपने कमरे में उलझी हुई चिट्ठियों के ढेर की धूल साफ़ करके सहेजने लगा। शायद मेरा अंतरमानस उन्हें 'चिट्ठियों के एकमात्र विक्रेता' बाबू गया परशाद को सौंपकर सुखी होना चाहता होगा !

●

सन्दीपन चट्टोपाध्याय

*

*

प्रस्तुत पत्र के प्रेषक श्री सन्दीपन चट्टोपाध्याय बँगला साहित्य की अत्याधुनिक पीढ़ी के प्रतिनिधि कथाकार और प्रवक्ता हैं। सम्पादक के नाम लिखा उनका यह पत्र बँगला साहित्य के काव्य-पक्ष की नवीनतम गतिविधियों से सम्बन्धित है। आगामी अंक में वे कथा-साहित्य पर लिखेंगे।

*

*

*

कलकत्ता,
अक्तूबर ७, १९६३

प्रिय शरद,

आपने जिन हिन्दी भाषा-भाषी पाठकों के लिए मुझसे लिखने को कहा है, बँगला साहित्य के विषय में उनकी कहाँ तक जानकारी है, यह आपने नहीं बताया; मैं कहाँ से शुरू करूँ ? जैसे, मैं यदि कहूँ कि "शंकर (कितने अनजाने रे) विमल मित्र (साहब, बीबी और गुलाम) अवधूत (उम्म्म्....उनकी एक भी पुस्तक का नाम मुझे याद नहीं) इत्यादि जिनका हिन्दी में अनुवाद हुआ है और बँगला की तरह ही जो लोकप्रिय हुए हैं, वे बंगाली-लेखक नहीं हैं" —तो आपके पाठक-पाठिकाएँ कहेंगे, "यह सब हमें मालूम है, आप इससे आगे की बातें बताएँ,"—अच्छा तो मैं वही बताता हूँ।

अपना और अपने यार-दोस्तों का विज्ञापन

गत पचास के दशक में बँगला साहित्य--कविता, कहानी और उपन्यास ने एक साथ ही अपनी जाति और धर्म बदल डाला है। कहानी-उपन्यास में एक-मात्र कमलकुमार मज़ुमदार को छोड़कर विगत एक दशक तक यह काम मेरे सम-वयस्क युवक-साथियों ने किया है, कमलकुमार मजुमदार हमलोगों से दस वर्ष बड़े होंगे। हम सबों की उम्र तीस के आसपास की है। कहना न होगा कि कविता बहुत आगे निकल चुकी है। लेकिन मैं केवल अपने साथियों की ही बात कहूँगा और गत दस वर्षों में बँगला साहित्य में जो विप्लव और विस्फोरण हुए हैं और उसमें स्वयं मेरी जो भूमिका रही है, उसके बारे में बताऊँगा। इन विप्लवी लेखकों के अनेक संगठन हैं--उसमें प्रारम्भ से 'लेकर कल की अवधि तक सुनील गंगोपाध्याय का 'कृत्तिवास' अप्रतिद्वन्द्वी पत्र था--शक्ति चट्टोपाध्याय के हंग्री-जेनरेशन का कोई मुखपत्र नहीं--वस्तुतः हंग्री-जेनरेशन एक 'आयडिया' है, एक पुस्तक की समालोचना करते हुए शक्ति ने पहले-पहल जिस विषय पर कुछ लिखा था। आवश्यक समझकर उसके लेख से ज़रा लम्बा-सा उद्धरण दे रहा हूँ : "....विदेश के साहित्य-केन्द्रों में जो आन्दोलन वर्त्तमान काल में हो रहे हैं--जैसे कि बीट-जेनरेशन, एंग्री या सोवियत रूस में भी इसी तरह के किसी आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में यदि बंगाल में भी कोई अनुक्त या अपरिष्कार आन्दोलन घटित हो तो वह हमारे सामाजिक या राष्ट्रनैतिक परिवेश में 'क्षुधा-संक्रान्त' आन्दोलन ही हो सकता है। वहाँ उन देशों में सामाजिक अवस्था 'एफ्लुएण्ट' है, वे 'बीट' या 'एंग्री' हो सकते हैं--लेकिन हम सब 'क्षुधार्त्त' हैं। इसे किसी भी रूप या रस की क्षुधा ही मानना पड़ेगा। कोई भी रूप या रस इससे अलग नहीं है, अलग करना सम्भव भी नहीं है। इसे यदि बीट या एंग्री से प्रभावित समझा जाए तो यह भूल है, क्योंकि इस आन्दोलन के मूल में है--'सर्वग्रास'। अर्थात् भात-दाल और चिंगड़ी मछली की चड़चड़ी के साथ यह आन्दोलन क्लासिसिज़्म से रोमांटिसिज़्म एवं दादाइज़्म, सुररियलिज़्म अमुक-तमुक से लेकर बीट-जेनरेशन तक को सान कर, मिर्च और नमक का पुट देकर ग्रास करना चाहता है। आशा है, बदहज़मी की शिकायत नहीं होगी। जीवन को चबाकर अखाद्य को वमन करना ही है--गद्य, पद्य, चित्र इत्यादि।..." शक्ति ने बहुत ही अन्यमनस्क या अप्रासंगिक भाव में यह लिखा था, हम सब साथियों में कोई भी नहीं जानता था कि शक्ति कुछ इस तरह की बातें सोच रहा है, किन्तु इसी को लेकर तुमुल आलोचना शुरू हो गयी--सुतृ रेस्तराँ में, पत्र-पत्रिकाओं में एवं कॉफ़ी हाउस में। हंग्री-जेनरेशन नामक आन्दोलन की नींव पड़ गयी, पटना से मलय राय चौधुरी नामक एक अज्ञात युवक कुछ दिन तक इसका नेतृत्व करते रहे, लेकिन हंग्री-जेनरेशन एक ऐसी चीज़ है कि जिसका नेतृत्व अधिक दिनों तक किसी एक के हाथ में नहीं रहता। शक्ति और मलय के निर्देशन में प्रायः तीसेक बुलेटिन या मैनिफेस्टो निकले, अधिक भाग अँग्रेज़ी में ही लिखा हुआ, उसके पश्चात् अब बड़े मज़े की बातें हो रही हैं। कुछ दिन पूर्व कलकत्ते के लैभोटरियों के भीतर एक पोस्टर टँगा देखा गया

THE HUNGRY GENERATION
OFFERS
a Rs 10,0000000 poem
to the saint who would bring
THE LIVE HEAD OF
MAO-TSE TUNG

मा-उत्से तुग का मस्तक चाहिए, लेकिन जीता-जागता मस्तक एवं उसके लिए दस करोड़ रुपये की कविता। स्पेशल पुरस्कार की बात थी। कुछ दिनों पहले मुझे डाक से भगवान का एक मुखौटा मिला, उस पर बड़े-बड़े अक्षरों में छपा था :

"कृपया मुखौटा उतार दीजिए
हंग्री-जेनरेशन"

सुना कि सूअर, शैतान, ईश्वर, भाँड़, पुलिस, सियार, काकातुआ आदि तरह-तरह के मुखौटे निर्विचार भेजे गये मुख्य मंत्री, साहित्यकार, यूनीवर्सिटी के चेयर, फिल्म-स्टार से लेकर टाइम-टेबल में स्टेशनों के नाम के देखकर बिल्कुल अनजांने रेलवे के स्टेशन-मास्टरों तक को। इन्होंने हंग्री-जेनरेशन का पोलिटिकल मैनिफेस्टो भी निकाला है जिसका आरम्भ "existence is pre - political" वाक्य से हुआ है। इनके शीतकालीन प्रोग्राम में है समीर राय चौधुरी द्वारा सम्पादित तरुण लेखकों के प्रकृत स्वप्न-संकलन (इलाका ४४, Area 44), हंग्री-जेनरेशन इंटरनेशनल (इसमें एलन जीन्सबर्ग येभ्तुसिंको इत्यादि लिख रहे हैं) और जनवरी में हंग्री-जेनरेशन फ़िल्म-फेजिटिविल कर रहा है।

हंग्री-जेनरेशन मूलतः काव्य-आन्दोलन है यद्यपि शक्ति का प्रस्ताव समस्त कलाओं के लिए था। प्रचण्ड आत्माभिमान से लिखे शक्ति के इस प्रस्ताव से यद्यपि आज हंग्री-जेनरेशन कोसों दूर चला गया है फिर भी शक्ति अब भी इसका de jure नेता है। दूर होने का एक कारण है हंग्री-जेनरेशन की press publicity। भले बँगला कमर्शियल प्रेस में इन्हें अधिक ठौर न मिल पाया हो, अँग्रेजी प्रेस में इनका प्रचार अच्छा हुआ। Link पत्रिका ने हंग्री-जेनरेशन के 'त्रिस्तान जारा' मलय का चित्र छापा था, Illustrated Weekly ने एक लम्बी रिपोर्ट छापी थी, इंगलैण्ड व आस्ट्रेलिया के भी किसी-किसी हलके में ये सुपरिचित हैं, यूरोप के 'फ्लक्सस' लेखक - गोष्ठी के साथ इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है, अमेरिका के City light magazine नामक बीटों के मुखपत्र में शक्ति और मलय के स्वाक्षरित हंग्री-साहित्य विषयक मैनिफेस्टो मैंने स्वयं देखा है। हंग्री-जेनरेशन में सभी नाम नये हैं, प्रतिभाशाली विनय मजुमदार और उल्लेखनीय अरूप रतन बसु को छोड़कर अधिकांश ही अचल हैं, किन्तु कोई तीन-एक दर्जन कोरे नये नामों को लेकर वर्त्तमान बंगला काव्य को अब चम्बल की घाटी कहा जा सकता है। नहीं तो हंग्री-जेनरेशन 'कृत्तिवास' के लेखकों को लेकर ही खींच-तान मचाये है, यद्यपि शक्ति चट्टोपाध्याय एवं उत्पल कुमार बसु को छोड़ 'कृत्तिवास'-ग्रुप के किसी ने इसमें योग नही दिया, न तो किसी ने उसके बुलेटिन में ही लिखा। हंग्री-जेनरेशन मेरा भी cause नहीं है, मुझे लगता है यह sick generation है हालाँकि उनके ५ नं० बुलेटिन में मेरी एक छोटी-सी गद्य-रचना प्रकाशित हुई थी।

हाँ तो कह रहा था। हंग्री-जेनरेशन

के आत्मप्रकाश करने से पहले तक 'कृत्तिवास' अप्रतिद्वन्द्वी था, शक्ति चट्टोपाध्याय एवं सुनील गंगोपाध्याय--इन दो परस्परविरोधी काव्यबोध के धक्के और चोटों की ध्वनि से बँगला-कविता अब चंचल है। इसी के मध्य हंग्री के तीन दर्जन कवि आकस्मिक लूट-पाट मचाए हुए हैं। विनय मजुमदार विश्वविद्यालय में योग्य छात्र रहे हैं, अब ये दोपहर को ढाई-तीन बजे नींद से उठा करते हैं, कई एक पागलखानों में कुछ-कुछ दिन रहे, फिर बाहर निकल कर मारात्मक कविताएँ लिख रहे हैं। कोई तीन दिन पहले, कृत्तिवास के दस वर्ष पूरा होने के उपलक्ष में, उसका नया अंक निकला है। नये 'कृत्तिवास' के निकलने के माने हैं--- बँगला कविता में जो कुछ लिखा गया था, उनका बासी या बेकार हो जाना। छः फ़रमे के नये 'कृत्तिवास' से दो कविताओं के कुछ अंश उद्धृत कर रहा हूँ:

"अब बाघ का बच्चा कुछ लाइन पगली कविता
नरभक्षी की तरह पाठकों की गर्दन तोड़कर
पंजे का रक्त चाट रहा है धारदार जिह्वा से.."

(तारापद राय)

"तुम्हें कभी-न-कभी इसी पथ से निश्चय
दुम दबाकर जाना ही पड़ेगा इतिहास
काल के उच्छिष्ठभोजी अध्यापक-
पालित कुत्ते
तब मूत्र की गन्ध ग्रंथ-ग्रंथ में सूँघते हुए
मेरा अनुसरण करोगे...."

(ज्योतिर्मय दत्त)

इस तरह की कविताएँ बहुत लिखी जा रही हैं। शक्ति अलबत्ता 'दयामय' 'दयामय' कर ईश्वर को गुहार रहा है, किन्तु एक दिन था जब वह ईश्वर की चूतड़ पर लात मारना चाह रहा था, 'जबड़े पर तमाचा अगर कम पड़े तो चूतड़ पर लात मारूँगा' दो वर्ष पहले उसने ऐसा ही लिखा था। 'तुम्हें ठीक करने को (तोमाके शासाते) मुझे छोड़ और कोई आगे नही बढ़ता'---यह भी शक्ति की ही पंक्ति है, कहना न होगा कि यहाँ तुम्हें 'कला' को कहा गया है। 'जयी, तेरा प्रेम पाता तो मेरे ऊरुद्वय शक्तिमान हो जाते' --यह सुनील की पंक्ति है, दो वर्ष पहले की, नये कृत्तिवास में वही सुनील लिखता है, 'रमणी का दमन करनेवाला विशाल पुरुष भी कविता के आगे असहाय है....' कभी ये लोग शब्द को विस्फोरित कर सकते थे, शब्दों को लूटकर ले आते थे शराबखाने, से, महाकाव्य से, वेश्या के घरों से। पता नहीं, हिन्दी अनुवाद में हमारे शासाते' और 'उरुद्वय' इन दोनों शब्दों की क्या हालत हुई किन्तु बँगला में 'शासाते' शब्द से हाथ में छुरी की मूठ कसकर पकड़े आक्रमण को तैयार कवि का चित्र प्रस्तुत होता है और 'उरुद्वय' शब्द से संगम और हत्या करने के बाद उठ खड़े किसी दयाहीन और विवेकी मनुष्य का बोध होता है। किन्तु आज?

'रूप?' सोनागाछी की एक रूपसी ने एक बार सुनील से कहा था, "तीन चाँदी की जूतियाँ लगाओ रूप के मुँह पर, रूप झर जायेगा।" कौन जानता था कि ऐसा निर्मम सत्य कवि को एक वेश्या ही कह सकती है, वेश्या को छोड़ कवि जैसा हृदयहीन और कौन है, इस बीसवीं शताब्दी के अपराह्न-काल में जीवन के साथ मुखौटा-विहीन सम्पर्क शायद केवल कवि एवं वेश्या का ही रह गया है। आज उनकी कविताओं में कोई रूप नहीं, रस नहीं, गन्ध नहीं, स्पर्श नहीं, सुर

नहीं,—सिम्बल, इमेज, रूपक या अलंकार—यहाँ तक कि सामान्यतम 'पयार' (मुक्त छंद के तत्व) तक को त्यागकर बँगला कविता चिर स्तब्धता की ओर बढ़ती जा रही है। इसी कारण सम-सामयिक बँगला कविता 'ग्रेट' है—आधुनिक यूरोपियन एवं अमेरिकन काव्य का थोड़ा-बहुत अध्ययन करते-करते ऐसा लगता है कि कला-सम्बन्धी पृथ्वीव्यापी निरस्त्रीकरण के अनुबंध पर शायद बँगला कविता ने ही आगे बढ़कर सबसे पहले अपना हस्ताक्षर किया है।

कला, प्रेम, मनुष्यत्व एवं धर्म-अधर्म का प्रतीक 'प्लातेरो' नामक गधे के चारों पैर में मोज़े पहनाने की प्राणपण चेष्टा छोड़ कर शक्ति अब भरमुँह प्रचण्ड और जटिल दाढ़ी बढ़ाए कलकत्ते के विपद्जनक अन्धकार में बैठकर 'दयामय' 'दयामय' कर ईश्वर को गुहार रहा है, सुनील वेश्या की हृदय-हीनता के निकट से खिसकता आ रहा है, सीढ़ी के पास पैरों को कसकर पकड़े हुए विनय गायत्री नामक पार्थिव महिला की प्रेम-याचना कर रहा है। 'पाप और दुःख की बातों को छोड़ और कुछ भी कहने को नहीं रहता है'—बाइबल? नहीं, सुनील की सबसे हाल की कविता का शीर्षक। अरे, यह तो बताया ही नहीं, आज बँगला कविता में रवीन्द्रनाथ कुछ भी नहीं हैं। उनकी काव्य-भाषा में कविता लिखने से कालेज-मैगज़ीनों में भी नहीं छपती, अलबत्ता स्कूल-मैग़ज़ीनें अब भी ऐसी कविताएँ छापती हैं। 'तीन जोड़ी लातों की ठोकरों से रवीन्द्र-रचनावली पाँवपोश पर लुढ़कती जाती है' सुनील ने लिखा है। सम्भवतः ऐसा कोई क़ानून न होने से ही वह जेल से बच गया, या शायद इसलिए कि वह अब आइवोआ में बहुत दूर अमेरिका चला गया है।

बँगला कविता के अब एकमात्र शासक या अधीश्वर हैं जीवनानन्द दास—उन्हें छोड़कर कोई नहीं। इति,

आपका विश्वस्त

सन्दीपन

●

पत्र में उल्लिखित साथियों एवं अन्यान्य कवि-बन्धुओं की पुस्तक-तालिका :

एका एवं कयेकजन : **सुनील गंगोपाध्याय**
हे प्रेम हे नैःशब्द : **शक्ति चट्टोपाध्याय**
गायत्री के एवं फिरे एसे चाका : **विनय मजुमदार**
यौवन-बाउल : **अलोक रंजन दासगुप्त**
चैत्रे रचित कविता : **उत्पल कुमार बसु**
झरनार पाशे शुए आछि : **समीर राय चौधुरी**
तोमार प्रतिमा : **तारापद राय**
गोलापेर विरुद्धे युद्ध : **मोहित चट्टोपाध्याय,**
विनिन्द्र गोपाल : **मानसराय चौधुरी**
आरसी-नगर : **रमेन्द्रकुमार आचार्य चौधुरी;**
रैम्बो, भर्लेन एवं निजस्व : **शरतकुमार मुखोपाध्याय**
जे कोनो निःश्वासे : **समरेन्द्र सेन गुप्त**
आलोकित समन्वय : **आलोक सरकार'** इत्यादि।

कवि-बन्धुओं में सिद्धेश्वर सेन, ज्योतिर्मय दत्त एवं तन्मय दत्त की कोई पुस्तक नहीं निकली। पुस्तकों के लिए सिगनेट प्रेस, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता-१२ से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है।

●

श्रीराघवाचार्य

रुक्मिणी का प्रेम-पत्र : भगवान श्रीकृष्ण के नाम

श्रीमद्भागवत् के दशम स्कंध के बावनवें अध्याय में रुक्मिणी-हरण का प्रसंग वर्णित है। रुक्मिणी-हरण की कथा संक्षेप में इस प्रकार है :

विदर्भ देश के राजा भीष्मक के पाँच पुत्र और एक परम सुन्दरी कन्या थी। सबसे बड़े पुत्र का नाम रुक्मी और कन्या का नाम रुक्मिणी था। रुक्मिणी के महल में आने-जानेवाले अतिथि प्रायः भगवान श्रीकृष्ण की बड़ी प्रशंसा किया करते थे, अतः रुक्मिणी ने उन्हें ही अपना पति वरण करने का निश्चय कर लिया। रुक्मी कृष्ण से द्वेष रखता था, इसलिए उसने शिशुपाल को अपनी बहन के योग्य वर समझा। यह बात जब रुक्मिणी को मालूम हुई, तब उन्होंने एक विश्वासपात्र ब्राह्मण को अपना प्रणय-संदेश देकर कृष्ण के पास द्वारिका भेजा। उसी प्रसिद्ध प्रणय-पाती का सरल हिन्दी-रूपान्तर यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है, और साथ में एक टिप्पणी भी दी जा रही है जिसमें इस प्रणय-पत्र के अधिक गहरे और आध्यात्मिक अर्थ को स्पष्ट किया गया है।

भुवनसुन्दर !

आपके गुणों के श्रवण ने मेरे शरीर का ताप मिटा दिया है। आपके रूप का दर्शन नेत्रों की सफलता होगी।

अच्युत !

मेरा चित्त आप में विलीन हो चुका है।

मुकुन्द !

आपके कुल, शील, रूप, अवस्था, धन, एवं धाम को अपने अनुरूप पाकर कौन ऐसी कन्या होगी जो आपको वरण न करे।

नरसिंह !

आप सौन्दर्य एवं तेज के निधान हो। मैंने आपका वरण कर लिया और अपना जीवन आपको समर्पित कर दिया है। अब यह ध्यान आपको रखना है कि कहीं सिंह का भोग्य गीदड़ के हाथ न लग जाय।

यदि आपने मेरा पाणिग्रहण कर लिया तो मैं समझूंगी कि मेरे व्रत, नियम एवं सारे साधन सफल हो गये।

अजेय !

मगधराज जरासन्ध और शिशुपाल ने अपनी सेना के साथ यहाँ पहुँच कर शीतयुद्ध के द्वारा आपको पराजित करने का जो षड्यंत्र किया है उसे विफल करने के लिये मैं आपका आह्वान करती हूँ।

कमलनेत्र !

भूतभावन शंकर सरीखे महान् पुरुष आपके जिन चरणों की रज का प्रसाद चाहते हैं उनकी सेवा करने का संकल्प इस दासी ने कर लिया है। इसकी पूर्त्ति के लिए यदि सौ जन्म भी ग्रहण करना पड़ें तो भी कोई चिन्ता न होगी। (श्रीमद्भागवत् १०।५२।३७–४३)

यह था रुक्मिणी का प्रेम-पत्र जिसे पाते ही श्रीकृष्ण ने आकर उसका पाणिग्रहण किया और साथ ही चूर्ण किया मगधराज जरासन्ध का अभिमान जो भारत में अपने अधिनायकवादी साम्राज्य का स्वप्न देख रहा था।

इस प्रेमपत्र में परम प्रेमास्पद का एक-एक संबोधन तथा व्यक्त किया गया एक-एक भाव आध्यात्मिकता का पोषक है। 'भुवनसुन्दर' में सुन्दर व्यक्तित्व और सुन्दर समाज का मिलन होता है। 'अच्युत' आदर्श से च्युत नहीं होने देता। 'मुकुन्द' में समस्त बन्धनों को तोड़ने की क्षमता है। 'नरसिंह' से सामर्थ्य और 'अजेय' से सफलता की निश्चित प्रेरणा मिलती है। परम प्रेमास्पद के गुणों के श्रवण से और रूप के दर्शन से परचर्चा के लिए अवकाश नहीं रहता। चित्त की जड़ता समाप्त हो जाती है। विषमता मिट जाती है। यही प्रेमास्पद का वरण है और यही है प्रेमी का पाणिग्रहण।

भागवतधर्म के अनुसार रुक्मिणी का प्रेमपत्र जहाँ साधक की वांगमयी साधना है वहाँ भावना एवं आचार के क्षेत्र में वह भागवत का भगवान के प्रति आत्म-समर्पण है। और इसी दृष्टि से इस पत्र का भागवतधर्म में उपयोग है। जन्म और मृत्यु से आबद्ध जीवन अमर जीवन का एक पृष्ठ मात्र है। इसमें आत्म-समर्पण के पूर्ण होते ही अखण्ड एवं अनन्त जीवन की अनुभूति होने लगती है।



पत्र-चोर :
प्रोबास्की माचकोव्ह

(१) लेनिन का पत्र : माओ के नाम

तोवारीश,

हैं-हैं, यह क्या मनमाने अर्थ
तुम मार्क्स के लगाते हो ?
दुनिया की समाजवादी-साम्यवादी
मैत्री में सेंध तुम लगाते हो ?
फिर से उठाओ 'डास कैपिटाल'
पारायण करो क्रांति श्रमिकों का--
अध्याय, बाब, सूरा; और तुम्हें
पता लग जायगा अपनी भूलों का ।
तुम नहीं समझते : क्रांति तो अमर है
मगर उसके तरीके तो बदलते हैं
कल तक जो बोलते थे दलन के ख़िलाफ़
वही सत्ता पा वैसे ही विरोधी को दलते हैं ।
इसलिए तुम्हें कुछ दिनों दाढ़ी-मूँछ बढ़ा
कन्फशियस की तरह चुप रहना होगा ।
वर्ना तुम साम्यवाद को भी ले डूबोगे,
आत्मालोचन की आग में भी दहना होगा
चाहे जितना तुम शोर मचा लो, बेकार,
मुमकिन नहीं है विश्वयुद्ध अब लेकिन ।

तुम्हारा कभी
एक बार प्रिय था वह
लेनिन

(२) स्तालिन का पत्र : ख्रुश्चेव के नाम

उल्लू के पट्ठे,
यों मुझसे ही धोखाधड़ी ?
मेरे मरने के बाद उखाड़ते हो क़ब्र और मचाते हो खिल्ली ?
तब तुम क्यों थे बने हुए रे भीगी बिल्ली !
तब तुम सब कामों में साथी, अब बकते हो अनाप्-शनाप्
तब तुमको क्या सूँघ गया था बोलो बेटा साँप
अब तुम बड़े महात्मा बनते हो, लगते हो रोने,
तब तेरी यह सब उदारता कहाँ गई थी सोने
एक बार मैं हिन्दू होता पुनर्जन्म पाता इक दिन,
तो तुम मज़ा देखते ।--तेरा महाकाल हूँ मैं--
--स्तालिन

(३) एक भारतीय कम्युनिस्ट का पत्र

[उक्त दोनों पत्र पढ़कर]

कामरेड ! अब क्या हो ? स्तालिन का मुर्दा हो ?
साओ बे-पर्दा हो ? न रहे हम दुनिया या दीन में !
किधर फिंकेंगे ? पता नहीं किस हाथ में हैं ?
कील जैसे छोटी साम्यवाद की मशीन में !
मास्को हो, पेकिंग हो; चेर्नोस्की हो चिंग हो,
हम तो हैं वैसे ही न तेरह में न तीन में ?
वाम किधर ? दक्षिण किधर ? है कौन दिशा सही ?
ऊपर या नीचे ? छिड़ गई रूस-चीन में ?

ढाक के तीन पात [= पत्र]



इलाचन्द्र जोशी

•

•

हिन्दी के ख्यातिप्राप्त कथाकार श्री इलाचन्द्र जोशी का ज्ञानोदय-सम्पादक के नाम लिखा पत्र ।

प्रिय संपादक जी,

प्रायः आठ साल तक एक अँधेरी गुफ़ा में बेहोश पड़े रहने के बाद अब आँखें कुछ खुल-सी रही हैं यद्यपि इतने दिनों तक अँधेरे में पड़े रहने के बाद अभी बाहर के आकस्मिक प्रकाश से आँखों में चकाचौंध लग रही है। गुफा से बाहर निकल कर रिप-वान-विंकल की तरह आँखें मलते हुए जो-कुछ भी देख रहा हूँ, कुछ ठीक से समझ में नहीं आ रहा है। सड़कों, फ़ुटपाथों, क़हवा-घरों या चाय के ढाबों में लोगों को जिन सामाजिक, राजनीतिक या साहित्यिक विषयों की चर्चा करते सुनता हूँ, लगता है उन विषयों की पृष्ठभूमि से मैं एकदम अपरिचित हूँ। मेरे लिए यह समझना बहुत कठिन हो गया है कि दुनिया किन कारणों से इस क़दर व्यस्त हो उठी है—मानवता के किस महान् उद्धार-पर्व के लिए यह विराट आयोजन हो रहा है। अख़बारों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दाव-पेंचों की जो ख़बरें पढ़ने को मिलती हैं, वे एक ऐसी चक्करदार पहेली बनकर मेरे सामने आती हैं कि दोनों घुटनों पर माथा टेककर उनका आदि, मध्य और अंत समझने की

रिप - वान - विंकल का पत्र

बहुत कोशिश करता हूँ; पर पहेली अनबूझी ही रह जाती है। नयी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ या पुस्तकें पढ़ने बैठता हूँ तो लगता है कि यदि यही साहित्य है तो मैं उसका ककहरा भी कभी नहीं सीख पाऊँगा। जीवन, जगत् और मानव-मन की समस्याओं के समाधान के जिन प्रयत्नों में हमारे नये साहित्यकार बंधु जुटे हुए हैं, उन्हें देखकर लगता है कि निश्चय ही वे इस जीर्ण मानव-संसार की जंग खायी हुई काया को आमूल पलटकर एक ऐसे विश्व-समाज का निर्माण कर डालेंगे जिसकी अकुंठित नग्नता आज के कुंठित सभ्य मानव को निर्द्वन्द्व आदि-मानव के महज-स्वाभाविक बर्बर जीवन के मूल तक पहुँचाकर ही दम लेगी। साहित्य और कला के जिन रूपों से मैं और मेरे साथी बहुत-से रिप-वान-विंकल परिचित थे वे आज साहित्यिक बाज़ार से ऐसे ग़ायब हो गये हैं, जैसे गधे के सिर से सींग। इन नये रूपों को सँवारने वाले कलाकारों का दावा है कि इतने दिनों तक कला के क्षेत्र में जिस सुन्दर और मंगल की पूजा होती रही है, उसी ने मानवता को विनाश के महागर्त में ढकेला है, इसी कारण उसके समूल उद्धार के लिए, उनकी दृष्टि में यह आवश्यक है कि कुरूप से कुरूप तत्वों को खोजकर कला की एक ऐसी मूर्त्ति खड़ी की जाय जिसके एक हाथ में कुंठारहित उच्छृंखलता की मशाल जलती रहे और दूसरे हाथ में आदिम बर्बर जीवन को लौट चलने का संकेत देते रहनेवाला झंडा फहराता रहे।

मैं सोच रहा हूँ कि इसी नयी कला की तो आज के अस्त-व्यस्त, चक्र-जालपूर्ण और उलझे हुए जीवन में आवश्यकता थी। केवल यही कला आज की बेतुकी अंतर-राष्ट्रीय राजनीति से छिन्न-भिन्न जीवन की झूठी प्रगति को रोककर उस जीवन को बर्बरता की एक स्थायी प्रगति की स्थिति तक लाकर खड़ा करने में समर्थ सिद्ध हो सकती है। विषस्य विषमौषधम्। एक घातक विष का प्रभाव दूसरा घातक विष ही मिटा सकता है। इसलिए मैं भी अब भीड़ में खड़े होकर नये नग्नतावादी साहित्य की जय पूरी ताक़त से बोलना चाहता हूँ।

बंधु, आज अंतर-राष्ट्रीय राजनीति का नेतृत्व जो महानेता कर रहे हैं, वे अपने-अपने भीषण भोंपुओं से, अलग-अलग दिशाओं की ओर मुँह करके, अलग-अलग वाणियाँ निकालते हुए चिल्ला रहे हैं! और उनकी आवाज़ें एक-दूसरे से टकराकर एक ऐसे विकट सम्मिलित प्रलाप का रूप धारण कर रही हैं कि श्रोता कुछ भी न समझ पाने के कारण चकित होकर यह सोच रहे हैं कि दानवीय कानों के पर्दों को भी फाड़ देने वाले और शेरों का भी दिल दहलाने वाले इस शोर का अर्थ या उद्देश्य क्या है, क्या यही शोरे-क़यामत है?

कभी-कभी इस सम्मिलित प्रलाप के आर्केस्ट्रा में जब अलग-अलग स्वर स्पष्ट सुनायी देने लगते हैं तब आश्चर्य होने लगता है कि एक स्वर दूसरे को मूलतः खंडित कर रहा है और इस पारस्परिक खंडन से ही एक महा-सिम्फोनी बज रही है। एक स्वर कहता है : "परमाणु-अस्त्र सारे संसार को ध्वस्त कर डालेंगे, इसलिए उनके परीक्षण में रोक लगनी चाहिये।" दूसरा स्वर तुरंत मुखरित हो उठता है : "अणु-अस्त्रों के परीक्षण पर रोक मत लगाओ, क्योंकि

उनसे मानवता को अंततः कोई विशेष हानि नहीं पहुँचेगी —बल्कि अणु-युद्ध से जो ध्वंस होगा उसके फलस्वरूप एक नयी परिष्कृत मानवता उभरेगी और तभी वह निखरा हुआ नया संसार सामने आयेगा जिसका स्वप्न इतनी शताब्दियों से मनुष्य देखता आया है।" तीसरा स्वर पुकारता है कि "सत्य, अहिंसा और स्थायी शांति की स्थापना ही मानवता का अंतिम लक्ष्य है," तो चौथा उसी क्षण बोल उठता है : "मानव-समाज को शांति की जड़ता, सत्य की घुटन और अहिंसा-प्रेरित शाकाहारी जीवन की एक-रसता नहीं चाहिए। जीवन में अशांति, असत्य और हिंसा-प्रतिहिंसा के बीजों को बिखरे रहने दो तभी जीवन गति-शील बना रहेगा। अन्यथा इस पागलपन के बिना जीवन निश्चल और जड़ बनकर रह जायगा।"

तो बंधु, आठ वर्षों की गहरी नींद के बाद जगने पर ये सब विचित्र, अनसुने, अनसोचे स्वर सुन रहा हूँ और अनचीन्हे, अनदेखे दृश्य देख रहा हूँ। जीवन में सभी-कुछ तो बदल गया है, सभी कुछ नया जग रहा है, पर मेरी पुरानी बुद्धि इस सारे चक्कर का न तो सिर ही कहीं देख पा रही है, न दुम। जिन टेढ़ी-मेढ़ी ऊबड़-खाबड़ राहों से होकर जीवन में प्रारंभिक काल से आगे बढ़ा था वे खो गयी हैं; उन राहों ने जिन मंज़िलों पर पहुँचाया था, वे भी बालू की भीत की तरह साँझ के धुँधलके में न जाने कहाँ विलीन हो गयी हैं। सिर चकरा रहा है,आँखें पथरा गयी हैं, कानों में केवल साँय-साँय और भाँय-भाँय का स्वर सुनायी दे रहा है।

हाँ तो एक अँधेरी गुफ़ा में लम्बी नींद के बाद जब मुझ आधुनिक रिप-वान-विकल की आँखें खुलीं तब मैंने अपने को एक बहुत बड़े नगर की एक बहुत व्यस्त सड़क पर पाया। गड़-गड़-घड़-घड़ और भों-पों की हौलदिली पैदा करनेवाली आवाज़ों के बीच काफ़ी देर तक आँखें मलता रहा। 'हटो-बचो' की चेतावनियों के बावजूद मरता-मरता किसी तरह बचकर फुटपाथ पर आ पहुँचा। आने-जाने वालों के निरन्तर धक्कों के बावजूद अब कोई विशेष खतरा नहीं था, इसलिए निश्चिन्त होकर काफ़ी देर तक दोनों हाथों की उँगलियों से आँखें मलता रहा। और तब मैंने देखा कि वह तो कोई चिर-परिचित-सी सड़क लग रही है।

"क्यों साहब, यह कौन शहर है ?" एक व्यस्त गति से चलते हुए राहगीर को बरबस रोककर मैंने पूछा।

'देमाक् खाराप हुआ है क्या ? जानता नहीं कहाँ आया है ? कहाँ का टिकिट केना था ? यह कोलकाता शहर है, बाबा, कोल्काता। एटा ओ कि बुझिए बोलते हबे ?"

मैं हैरान ! कहाँ वह गहन गुहा और कहाँ यह कलकत्ता ! मेरी वही चिर-परिचित प्यारी पुरी कलकत्ता ! जहाँ पाप और पुण्य की असंख्य विविध और अजस्र धाराएँ दिन-रात साथ-साथ बहा करती हैं !

सड़क कौन हो सकती है यह समझने में फिर कोई देर न लगी —बड़ा बाज़ार, हरिसन रोड के वही पुराने बेढंगे बड़े-बड़े मकान सड़क की दोनों ओर दिखायी दिये। कुछ ही दूर आगे बढ़ने पर बाईं ओर पुस्तकों की एक छोटी-सी दुकान दिखायी दी।

"यह वही कलकत्ता है ! वही सब पुराने रंग-ढंग हैं।" मैंने मन-ही-मन कहा।

कुछ सुस्ताने और समझने के लिए मैंने उसी दुकान की एक बेंच पर बैठने का निश्चय किया। आश्चर्य ! दुकान के मालिक अब भी वही पुराने परिचित बन्धु हैं। दो-एक अपरिचित व्यक्ति बेंच के एक किनारे बैठे थे और दो-एक गाहक काउन्टर की बग़ल में खड़े थे।

"कहिये बंधु ! यह तो वही दुकान है और वही बेंच देखता हूँ जहाँ सब समय नामी साहित्यकारों और पत्रकारों की भीड़ लगी रहती थी। आज कोई भी देखने में नहीं आ रहा है ? बात क्या है ?"

"आप कहाँ से आ रहे हैं ? कौन हैं आप ?"

"अरे भाई, मुझे नहीं पहचाना ?" और मैंने अपना नाम बता दिया।

"अरे आप हैं ? हाँ, धज तो आपकी क़रीब वही है, पर चेहरे की बनावट और बिनावट में बहुत अन्तर आ गया है। कहाँ रहे इतने दिन ?"

मैंने अपने गहन गुहा-वास का क़िस्सा बताया। बोले : "तभी ! अरे भाई, इस बीच एक लम्बा ज़माना गुज़र चुका है। जो बड़े-बड़े साहित्यकार या नामी पत्रकार इस बेंच पर बैठा करते थे उनमें से कुछ तो गुज़र चुके हैं और शेष कलकत्ता छोड़कर चले गये हैं। अब यहाँ रह गये हैं केवल नये युग के नये साहित्यकार जिनकी नयी कला के नये चमत्कारों से भरी पुस्तकें . ."

"बिकती नहीं—यही तो आप कहना चाहते हैं न ?" सहसा पुस्तक-विक्रेता महोदय की बात बीच ही में काटते हुए एक चश्माधारी नवयुवक बोल उठा।

उसकी नुकीली नाक जैसे और अधिक पतली नोकवाली हो उठी थी और तेजस्वी आँखों में एक अपूर्व चमक थी। कहना कठिन था कि वह चमक आँसुओं की थी या चिनगारियों की।

इस आकस्मिक प्रश्न से चकित-से होकर पुस्तक-विक्रेता महोदय सहसा बोल उठे : "जी हाँ, आप ठीक ही कहते हैं।"

"तो क्या केवल इसीलिए नया साहित्य आपकी दृष्टि में तुच्छ हो गया ?"

पुस्तक-विक्रेता महोदय इस बार तेवर बदलते हुए, कुछ तीखे स्वर में बोले : "जी हाँ, तुच्छता का इससे बड़ा कारण क्या हो सकता है !"

चश्माधारी नवयुवक भी तमक उठा। धमकी के स्वर में बोला : "यही आपका और आप ही की तरह के लोगों का भ्रम है। अपने स्वार्थ को आप लोग कला के स्वार्थ के समान स्तर में वरन् ऊपर रखते हैं। पुस्तकों की बिक्री ही यदि किसी कलाकृति का मानदंड हो तो क़िस्सा तोता-मैना की बिक्री सबसे अधिक होती है। हम नये साहित्य की महत्ता का यही सबसे बड़ा प्रमाण मानते हैं कि उसके केवल कुछ ही पाठक हैं पर हैं वे समझदार पाठक। हमारे इस गौरव को आपका कड़वा-से-कड़वा व्यंग्य खंडित नहीं कर सकता। हमने आज के कुचले हुए व्यक्ति के छिन्न-भिन्न और कुंठित अस्तित्व को एक नयी यथार्थ दृष्टि और नया मनोवैज्ञानिक आयाम दिया है. . ."

नवयुवक का एक-एक शब्द मुझे एटमी पटाखे के विस्फोट की तरह लग रहा था।

उसकी आँखें जैसे किसी 'मिशन' की-सी भाव-भरी सचाई और सहृदयता से भरी हुई थीं। उसकी आँखें निरन्तर उसी तरह चमक रही थीं। लगता था जैसे वह किसी बहुत बड़े ध्येय के लिए बड़ी आसानी से समाज के हवन-कुड में अपनी आहुति देने को तैयार हो सकता है।

गहन गुहावासी मेरी बुद्धि उसकी सुन्दर-सी लगने वाली बातों का कोई तार-तम्य बिठाने में अपने को असमर्थ पा रही थी। पर जब मनोवैज्ञानिक आयाम की बात आयी तब मेरे कान सहसा खड़े हो गये; क्योंकि किसी ज़माने में —— शायद पिछले जन्म में——मैं भी मनोविज्ञान के साथ कुछ छेड़खानी कर लिया करता था। इसके पहले मेरे कान केवल 'व्यक्तित्व', 'अस्तित्व' और 'कुंठित' शब्दों की मंत्र-ध्वनि से ही मोहमुग्ध हो रहे थे। अब मेरी उत्सुकता के साथ ही मेरा साहस भी कुछ बढ़ा। मैंने नव-युवक की ओर तनिक झुककर पूछा, "महाशय जी, यह'नया मनोवैज्ञानिक आयाम' क्या चीज़ है, क्या मैं जानने की धृष्टता कर सकता हूँ ?"

तब तक नवयुवक ने मेरे 'अस्तित्व' को ही स्वीकार नहीं किया था, इसलिए जब मैंने उसकी ओर झुककर उक्त प्रश्न किया तो उसने एक बार शल्य-चिकित्सक की-सी दृष्टि से सिर-से-पाँव तक मुझे देखा। उसके बाद एक विकट व्यंग उसकी आँखों में छा गया——और फिर एक हलकी-सी, सहज में मालूम न हो सकने वाली तीखी मुस्कान का छायाभास उसकी आँखों के कोनों में मिचौली खेलने लगा। और तब सहसा वह बोल उठा :

"बाबाजी का आगमन किस आरण्यक प्रदेश से हुआ है ?"

नवयुवक के इस चुभते व्यंग्य से मेरा बहुत दिनों से सोया लड़कपन तिलमिला उठा। मैंने कहा : "निर्जन अंध गुहा की उप-निषद् से अभी-अभी जनतारण्य में आया हूँ।"

"हाँ, कुछ लगता तो ऐसा ही है। पर बाबाजी को 'मनोविज्ञान' में दिलचस्पी कहाँ से पैदा हो गयी ? अपने कथा-पुराणों में मन लगाइये——इस मनोवैज्ञानिक चक्कर में न पड़िये।"

"अरे, अरे, आप इन्हें नहीं पहचानते," सहसा एक गाहक, जो खड़ा-खड़ा हम लोगों की बातें सुन रहा था, बोल उठा, "ये हैं मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के लेखक अमुक जी !"

"समझा !" कहकर नवयुवक एक मीठी व्यंग-भरी उत्सुकता से मेरी ओर देखने लगा——और फिर छुरी की तरह तीखी मुस्कान की वही सूक्ष्म छाया-रेखा !

"पर मेरी बात तब भी खंडित नहीं होती। मैंने ठीक ही कहा था कि कथा-पुराणों में मन लगाइये।"

"क्यों साहब, ठीक कैसे कहा था आपने ?" गाहक ने पूछा।

"इस तरह कि आपके (मेरी ओर संकेत करके) उपन्यास आज की नयी कला और नये मनोवैज्ञानिक आयाम के संदर्भ में पुराणों की कहानियों की ही कोटि में आते हैं। केवल आप ही की बात नहीं है, आपकी पीढ़ी के सभी लेखकों और कवियों की रचनाएँ आज के नये युग की नयी साहित्यिक मान्यताओं के प्रकाश में बहुत पीछे रह गयी हैं और कई शताब्दी

पुरानी पड़ गयी हैं। आप लोगों की रचनाओं में है ही क्या? न उनमें कला की मँजावट है न कथ्य की सजावट, न सौंदर्य के बौद्धिक बोध का कोई आभास उनमें मिलता है, न अछूते उपमानों और सूक्ष्म प्रतीकों की कोई पकड़। आदर्श के नाम पर जिस सामाजिक समझौतावाद को आप लोगों ने अपनाया है उसने अपनी मनहूस विरासत से हमारी पीढ़ी की रीढ़ ही तोड़ दी होती, पर हम लोगों ने विपरीत परिस्थितियों से जूझते हुए भी उसे बहुत-कुछ बचा लिया। फिर भी वह कमज़ोर तो हो ही गयी। पर याद रखिये, हमारी यह कुचली हुई रीढ़ ही आप लोगों की सड़ी-गली आदर्शवादी विरासत को रौंदकर व्यक्ति की स्वतन्त्रता--पूर्ण निरंकुश स्वतन्त्रता--का झंडा खड़ा करके, बर्बर सामाजिक नियंत्रण का ख़ात्मा करके ही रहेगी।"

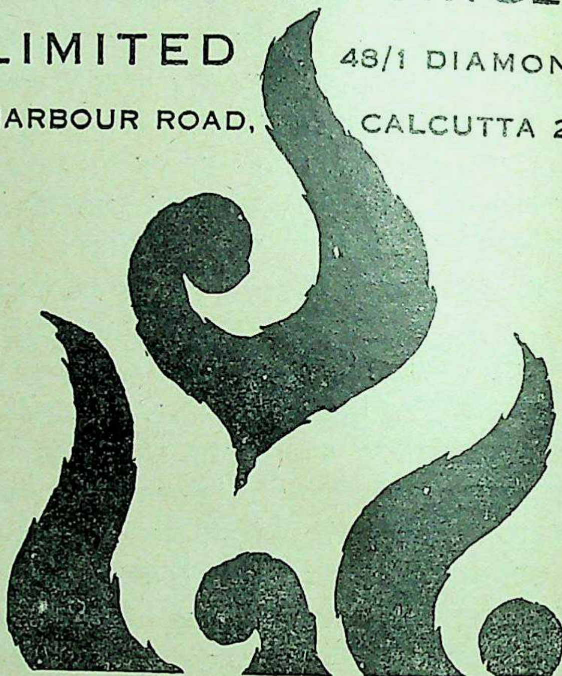
मैंने विनय-भरे स्वर में कहा: "क्यों दुनिया से इस क़दर नाराज़ हो भैया! हम लोगों की सड़ी-गली आदर्शवादिता को अवश्य जितना जी चाहे, रौंदो, पर सामाजिक नियंत्रण के पीछे क्यों हाथ धोकर पड़े हो?"

मेरी यह बात सुनते ही कोने में बैठा हुआ दूसरा नवयुवक सहसा झल्ला उठा और उठ खड़ा हुआ। झिड़कते हुए बोला: "तुम्हारा और तुम्हारी दुनिया का यह सामाजिक नियंत्रण युगों से व्यक्ति की निजी स्वतंत्र सत्ता का ख़ून चूस-चूसकर, उसकी अँतड़ियों को चाट-चाटकर मोटा बनता आया है। पर वह अपनी ज्यादतियों से स्वयं अघाकर बीमार पड़ा हुआ कराह रहा है। उसके भीतर युग-युग के क्रूर कृत्यों के पाप सड़कर बदबू मार रहे हैं। इसलिए वह समय आ गया है जब न तुम्हारा समाज रहेगा न उसका नियंत्रण। हम सब 'बीटनिक' भाई मिलकर साहित्य में वह नंगापन फैलायेंगे कि ढोंगी समाज के काले कारनामों का एक-एक पर्दा फ़ाश होकर रहेगा। युग-युग से कुचला हुआ लघु-मानव आज विद्रोही हो उठा है। वह सभ्यता की नींव को हिलाकर, उसे पूरी तरह से ढाकर ही दम लेगा।"

वह क्रोध में काँप रहा था। वह क्रोध किसके प्रति था, मैं कह नहीं सकता--शायद वह स्वयं भी नहीं जानता था। पर वह रह-रहकर काँप रहा था और बायें हाथ की दो पतली-पतली उँगलियों के बीच रखी जलती हुई चार-मीनार को जैसे कष्ट से पकड़ पा रहा था।

मैंने शांत स्वर में कहा: "उत्तेजित मत होओ, बंधु, तनिक ठंडा होकर बताओ कि तुम सभ्य समाज से इस क़दर रुष्ट क्यों हो, और नंगेपन को ही व्यक्ति की स्वतंत्रता का एकमात्र समाधान क्यों मानते हो?"

"तुम्हारा यह गंदा, घिनौना सभ्य समाज--जिसके घावों में कीड़े पड़ गये हैं, जिसके शरीर के भीतर असंख्य फोड़े पीब से पिचपिचा रहे हैं--इसने व्यक्ति की स्वतन्त्र अनुभूति और स्वतन्त्र चेतना का गला घोंटकर यंत्रों से उसकी आत्मा का तेल निकालकर, उसकी शारीरिक और आत्मिक भोजन की सारी सुविधाएँ छीनकर, उसकी स्वतंत्र गति-विधि में पग-पग पर बाधाएँ डालकर, उसे एकदम अपाहिज या निर्जीव यांत्रिक पुतला बनाकर छोड़ दिया है। आज का अनुभूतिशील, भाव-प्रवण और बौद्धिक


IOC-66

चेतना संपन्न कलाकार का आहत और अपमानित मन इस घुटन को अब अधिक सहने के लिए तैयार नहीं है। उसके 'ब्वायलर' में बन्द पड़ा भाप बाहर निकलने का कोई रास्ता न पाने के कारण अब अंतिम विस्फोट की तैयारी कर रहा है।"

तभी पहला नवयुवक भी खड़ा हो गया, और चलते-चलते मुझे यह संदेश दे गया : "हम भूखे हैं--तन से और मन से। हम 'हंग्री' हैं, इसीलिए हम 'एंग्री' हैं। तुम्हारी सभ्य सामाजिक व्यवस्था ने आज सारी दुनिया में जो 'केओस' और 'कनफ्यूजन' पैदा कर दिया है, उसकी अभिव्यक्ति कला के पिछले मानदंडों से नहीं हो सकती। उसके लिए छुरे की धार से भी पैना एक अस्त्र चाहिए जो इस विश्वव्यापी मूर्खता से उत्पन्न उलझन को पर्दा-दर-पर्दा चीरकर उसकी वास्तविकता को तार-तार करके सबके आगे रख दे और यह अस्त्र केवल हम ही लोगों के पास है। केवल हम 'हंग्री' और 'एंग्री ब्वाइज़' ही समाज और साहित्य में एक नयी क्रांति ला सकते हैं।"

उसकी विद्रोही आँखों में जैसे भविष्य की नयी विश्व-व्यवस्था का स्वप्न काँप रहा था। उसके भीतर का काँपता हुआ विश्वास जैसे उसे सांत्वना देते हुए कह रहा था कि तुम लोगों का 'ह्विज़न' एक दिन सफल होकर ही रहेगा। और फिर दोनों नवयुवक चले गये।

मैंने दुकान के मालिक से पूछा : "ये लोग कौन हैं?"

उन्होंने बताया : "आजकल के नये साहित्यिक छोकरों ने अपने कुछ छोटे-छोटे गुट बना रखे हैं। सस्ती चाय के ढाबों में बैठकर ये लोग नये-नये 'साहित्यिक स्टंट' छोड़ते रहते हैं और अपने अलग पत्र भी किसी तरह निकालते हैं। सबकी आर्थिक स्थिति ख़राब है। केवल सस्ती चाय और चार-मीनार सिगरेट पीकर जीते हैं और भविष्य की काल्पनिक क्रांति का अग्रिम धुआँ बाहर निकालते रहते हैं। अपने पीछे 'एंग्री यंग मैन', 'हंग्री ब्वायज़', 'बीटनिक' आदि नामों के बिल्ले चिपकाये रहते हैं। भावी साहित्य के ठीकेदार यही लोग हैं। इन्हीं के साथ आपको जूझना और समझना होगा--यदि आप अब भी साहित्य में किसी रूप में दिलचस्पी रखते हों तो।"

मैं कुछ देर तक अनमने भाव से बेसिर-पैर की बातें सोचता रहा, और उसके बाद बाहर फुटपाथ पर चला आया। पैदल ही कलकत्ते का चक्कर लगाने की योजना बनायी, क्योंकि ट्रामों और बसों में सवारियाँ लदी और लटकती हुई चली जा रही थीं और कहीं किसी में सुई की नोक की बराबर भी जगह मिलना कठिन था।

चलते-चलते सोच रहा था कि मैंने भी इसी नगर में नव-यौवन के दिन बिताये थे। मैं और मेरी पीढ़ी के दूसरे लेखक भी तब व्यक्तिगत और सामाजिक परिस्थितियों की विवशता से विद्रोह करते हुए, एक नयी क्रांति और एक नयी विश्व-व्यवस्था लाने का सपना देखते हुए सस्ते चाय-घरों में इकट्ठा होते थे और क्रांति की नयी-नयी योजनाएँ बनाते थे। तब हमारे विद्रोही-दल के प्रकाश-स्तंभ थे शरत्-चन्द्र। पर जल्दी ही हम शरत् के प्रभाव से मुक्त होकर सामाजिक क्रांति के एक ऐसे उग्र रूप की कल्पना करने लगे जिसकी पृष्ठ-

भूमि में शरत् के सारे आदर्श और सिद्धांत एकदम दक़ियानूसी और पौराणिक लगने लगे थे।

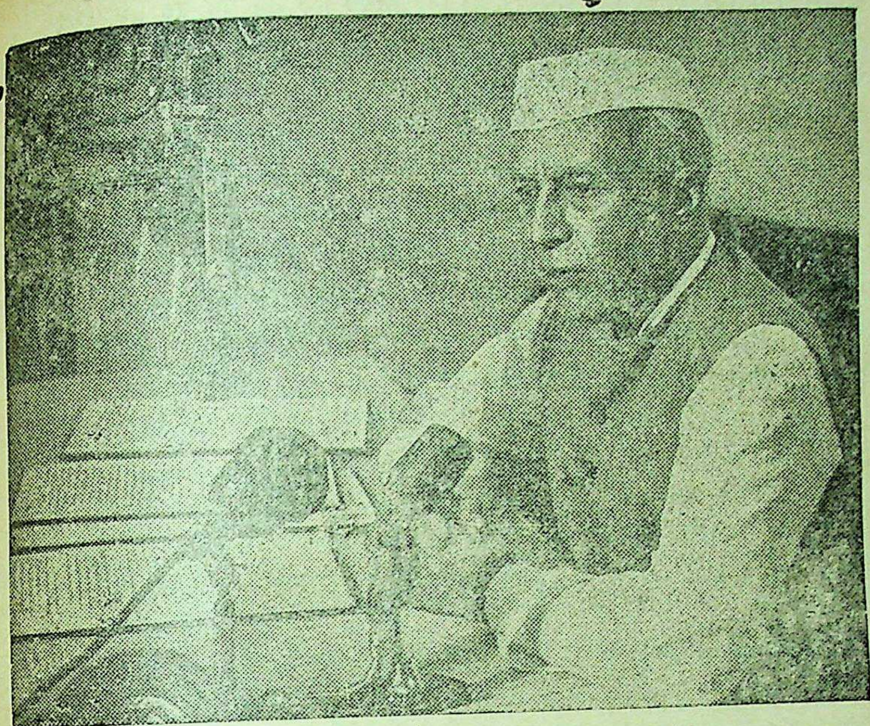
मैंने मन-ही-मन अपने को संबोधित करते हुए कहा : "इलाचन्द्र जोशी, यही जीवन है! हर युग का नवयुवक विद्रोही और क्रांतिकारी होता है। जिन पुरानों के अंचल का छोर पकड़कर वह आगे बढ़ता है बाद में उन्हीं का गला पकड़कर वह उन्हें अतल में गाड़ देना चाहता है। फिर भी उन पुरानों की क़ब्रों से निकलती हुई आवाज़ों को दबा सकने में वह अपने को असमर्थ पाता है। और इसी असमर्थता की खीझ उसे बरगलाती रहती है। इसलिए इन बीटनिकों की बातों से नाराज़ होना व्यर्थ है। या तो इनसे नयी शिक्षा लेने के लिए तैयार रहो, या फिर उदासीन बन जाओ। ये लोग तुम्हारी ही आत्मा के नये संस्करण हैं, तुम्हारी ही अवचेतना के नये प्रोजेक्शन हैं—कोई ग़ैर नहीं।"

हाँ, तो संपादकजी, इस बार कलकत्ते में मुझ रिप-वान-विंकल की आँखें खुलीं और जीवन का एक नया सत्य प्रकाश में आने पर एक बहुत बड़ी सांत्वना मिली।

आपका वही पुराना पापी

इलाचन्द्र जोशी

अँग्रेजी का प्रसिद्ध कवि रावर्ट ब्राउनिंग, कवयित्री एलिजाबेथ बैरट की एक कविता पर मुग्ध होकर उससे प्रेम करने लगा। बीमार कवयित्री के पास ब्राउनिंग के पत्र ज्वार की लहरों के समान पहुँचने लगे। एलिजाबेथ, ब्राउनिंग से एक साल बड़ी थी और शरीर से बेहद अस्वस्थ। इसी कारण, वह उसके पत्रों का उत्तर देकर उसे प्रोत्साहित करना नहीं चाहती थी। एक दिन ब्राउनिंग स्वयं एलिजाबेथ से मिला, पर एलिजाबेथ ने उसके विवाह प्रस्ताव को ठुकरा दिया; किन्तु तब भी ब्राउनिंग अपने मन के आवेगमय भावों को छंदोबद्ध कर एलिजाबेथ के पास भेजने लगा। इस प्रकार ५७२ कविता-पत्रों के आने के बाद, एलिजाबेथ ने विवाह को स्वीकृति दी। परिणय के समय एलिजा में इतनी शक्ति भी न थी कि वह विवाह के रजिस्टर पर हस्ताक्षर कर सके। तीन बार प्रयत्न करके भी वह असफल रही। अन्त में कुछ देर विश्राम करने के उपरान्त, थोड़ा जल पीकर, उसने किसी प्रकार हस्ताक्षर कर दिये। कवि और कवयित्री का यह प्रेम-विवाह अत्यधिक सफल और सार्थक सिद्ध हुआ।



एक खुला पत्र

पण्डित नेहरू के नाम

द्वारा : लक्ष्मीचन्द्र जैन

एक पत्र जो अपनी मिसाल आप ही है।

मान्य पंडितजी,

यह पत्र लिखने बैठा तो सबसे पहले इस सोच-विचार में पड़ गया कि संबोधन के लिए कौन-से शब्द जुटाऊँ। अनेक सुन्दर और सार्थक संबोधन ध्यान में आये किन्तु तभी कल्पना में तैर गये वे सहस्रों अभिनन्दन-पत्र जो आज तक आपको समर्पित हो चुके हैं और जिनमें प्रयुक्त प्यारे-प्यारे संबोधनों की यदि कोई सूची

बनाने लगें तो एक नया सहस्रनाम तैयार हो जाये। संबोधनों का यह सिलसिला पुराना भी है और मज़ेदार भी। लगभग ५० वर्ष पूर्व जब आप राष्ट्र-सेवा के क्षेत्र में उतरे (सन् १९१५ में आपने मंच पर पहला भाषण दिया) तो समृद्ध और प्रतापी मोतीलाल के सुकुमार, ज्योतिर्मय, केम्ब्रिजरिटर्न्ड, बैरिस्टर-पुत्र को अपने बीच में पाकर जनता मन्त्र-मुग्ध हो गई। उसने तभी से जो उपाधियाँ आपको देनी प्रारंभ की उनकी विनोदपूर्ण पुनरावृत्ति बाद में कभी-कभी आपके नाश्ते की मेज़ पर होने लगी। विजयलक्ष्मी कहतीं—'हे भारत-धन, ज़रा मक्खन इधर दे दें'; रणजीत पंडित कहते—'हे देशरत्न, कर्मवीर जवाहर, ज़रा चम्मच इधर सरका दें।' आपने स्वयं लिखा है कि जब आप अपने लिए प्रयुक्त बड़े-बड़े संबोधन कांग्रेस के जलसों में सुनते तो आपका मन होता, यहीं सबके सामने शीर्षासन करने लगूँ ताकि इस गंभीर विडम्बना की धज्जियाँ उड़ जायें। इसलिए मैं इस पत्र के प्रारंभ में न तो लिख रहा हूँ—'देश के सर्वाधिक मूल्यवान रत्न!' न 'काँटों के ताजदार!'

दोनों ही बातें संभव हैं। यदि यह पत्र आप तक पहुँचे और आप इसे पढ़ें, तो कह सकते हैं—'क्या वाहियात है; इस तरह का पत्र लिखना बड़ा 'वल्गर' (अशिष्ट) है।' और यह भी हो सकता है कि आप कहें—'हाँ ठीक है; ग़ौर-तलब है।'

वास्तव में, पंडितजी, आपके साथ दिक्क़त यही है कि यह पता नहीं लगता आप किस बात को किस रौशनी में लें। आपके 'मूड' पर आश्रित है। और, मूड ऐसी चीज़ है कि आपको ख़ुद भी पता नहीं चलता। आपने अपने भूतपूर्व सचिव मथाई के मामले में संसद में यही तो स्पष्टीकरण दिया था—'उसने ग़लत मूड में मुझे आ पकड़ा।'

लोग कहते हैं, आपको नुक्ताचीनी पसन्द नहीं, आप विरोध बर्दाश्त नहीं करते, व्यंग्य आपको चुभ जाता है, कोई आपकी खिल्ली उड़ाये तो आपका दिल गहरी चोट खा जाता है। शायद आज विशेष रूप से ऐसी स्थिति हो गई है क्योंकि यद्यपि कलेजा आपका अभी भी मज़बूत है, वे सहारे सब एक-एक करके उठ गये जो आपको जीवन में बल देते थे, सशक्त प्रतियोगिता के लिए उकसाते थे, व्यंग्य की करारी चोटों को एक स्तर देते थे और विनोद के क्षणों के लिए संवेदन-शीलता का आत्मीय परिवेश देते थे। एक-एक मूर्ति सामने आती है—

बापू—

जिन्होंने राष्ट्र के सिंहासन और जनता के दुख-सुख की विरासत आपको दी; जिनकी लकुटिया मानो आपकी जीवन-यात्रा का सहारा थी; जो आँसुओं को अपनी चादर में समेट लेते थे और आशीर्वाद की फूल-माला

गले में डाल देते थे; जिनके शव पर उस अन्तिम ढलती बेला में सिर धर कर बालक की तरह रोये और जिनके चरणों को विकल होकर चूम लिया——वह पिता, वह शास्ता, वह चरम संरक्षण——आज नहीं है !

कमला—

जिस मानिनी की राष्ट्रसेवा को अपनी समकक्षी महत्वाकांक्षा और तपस्या की मान्यता का बोध आपको बहुत विलम्ब से हुआ . . .जिसने विवाहित जीवन के प्रारंभिक दिनों में कंधे के पीछे खड़े कर अपना सुकोमल शीतल हाथ आपकी हथेली पर उस दिन चुपके-से रख दिया था जब सामने खड़े क्रुद्ध पिता ने चीखकर कहा था—— 'निकल जा घर से अगर तुझे कांग्रेस के उग्र दल की ही धूल फाँकनी है और अपनी मन-मानी चलानी है।' [और फिर वह गर्वीला पिता जो हफ़्तों चुपचाप जमीन पर इसलिए सोया किया कि 'देखूँ मेरा जवाहर जब जेल में धरती पर सोयेगा, तो उसे कैसा लगेगा।']

वल्लभ भाई——

जो खरा देशभक्त और बेलाग बात कहने वाला समर्थ साथी था; जिसने १ साल में ६०० रियासतों के मुकुट आपके चरणों में झुकवा दिये; जिसने हैदराबाद की उद्दण्डता को हँसते-खेलते दंडित कर दिया; जो देश की नीति को यथार्थता की कसौटी पर कसकर साफ़-साफ़ दिखाता था, क्या है खरा कुन्दन और क्या है थोथी भावनाओं भरा नितान्त खोट; जिसके साथ राजनैतिक मनमुटाव होने पर आपको गर्व होता था कि है कोई टक्कर का आदमी जो चरण विचलित नहीं होने देगा. . . .

मौलाना आजाद और गोविन्दवल्लभ पन्त और रफ़ी अहमद किदवई और नरेन्द्रदेव और पुरुषोत्तमदास टंडन और राजेन्द्र बाबू और विधानचन्द्र राय. . . . और वह विदेशिनी महिमामयी, कल्याणी नारी एड्विना माउन्टबैटन जो आज़ादी के बाद की हर संकटपूर्ण स्थिति और मर्मान्तिक वेदना के क्षणों में सहज संवेदना देती थी और किसी-न-किसी तरह प्रयत्न करती थी कि आप, जो संसार के संगीहीन व्यक्तियों में नितान्त अकेले हैं, विश्राम और निश्चिन्तता के दो क्षण जीवन में प्राप्त कर सकें।

राष्ट्रीय इतिहास के संदर्भ में इन व्यक्तियों का विशेष महत्त्व इसलिए भी है कि इनके अभाव ने भी आपके जीवन को प्रभावित किया है, आपकी प्रवृत्तियों को नया मोड़ दिया है, या आपके व्यक्तित्व की धार को तेज़ किया है। ये सब

चले गए; शेष बिछुड़ गए। राजाजी की याद आती है? जयप्रकाशजी जो जीवन के प्रवाह में एकही किश्ती पर इस तरह सवार थे कि आपका हाथ दुखे तो पतवार को थाम लें, पर उन्हें कभी आप स्वयं बुलाते हैं? कभी उनके पास जाने को मन होता है? विनोबा जी से मिलकर क्या कभी भी आपको आन्तरिक प्रसन्नता हुई? एक कृष्णमेनन रहे, सो क्या कर गुज़रे और भगवान जानें आगे क्या करें। तब कौन आपका अपना आपके साथ रहा––ऐसे क्षण, जब जीवन के ७५ वें वर्ष में आप प्रवेश कर रहे हैं, निष्ठुर राजसत्ता का समूचा भार आपके दिन-प्रतिदिन निर्बल होते जाते कन्धों पर है, और जब देश में ध्वनियाँ-प्रतिध्वनियाँ गूँज रही हैं––'नेहरू के बाद कौन? नेहरू के बाद कौन?'

इस सवाल का जवाब आप देना नहीं चाहते! झूठे हैं वे लोग जो यह सोचते-कहते हैं कि पंडितजी इस प्रश्न का उत्तर मात्र इसलिए नहीं देते कि उन्हें सत्ता का मोह है। सच्चे हो सकते हैं वे लोग, जो कहते हैं कि पंडितजी इस प्रश्न का उत्तर इसलिए नहीं देते कि वह सत्ता छोड़ना नहीं चाहते। छोड़ना इसलिए नहीं चाहते हैं कि उन्हें पता ही नहीं कि सत्ता किसके सुपुर्द करें। सत्ता छोड़ देंगे तो इस देश का बनेगा क्या जिसे वह इतना प्यार करते हैं! गान्धी सौभाग्यवान थे कि वह अपना उत्तराधिकारी तैयार कर गये।

गान्धी का उत्तराधिकार? यह अचानक दूसरा प्रश्न तीर-सा आकर कलेजे में चुभ गया। 'गान्धी का उत्तराधिकार'––क्या? कहाँ? कैसा? गान्धी का उत्तराधिकार है 'सत्य' जो हमारे राष्ट्र की सरकारी मोहर में अंकित है, 'सत्यमेव जयते'। गान्धी का उत्तराधिकार है 'अहिंसा', जो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनारों के लिए सुरक्षित है; गान्धी का उत्तराधिकार है 'साधनों की पवित्रता' जिसे 'चुनावों में जीत' की अनिवार्य साध्यता की वेदी पर वीतराग भाव से बलि कर दिया गया है। गान्धी की जय-यात्रा में राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना मात्र एक मंज़िल थी––इसके बाद बड़ा काम था देश का नैतिक, सामाजिक और आर्थिक अभ्युदय। याद दिलाता हूँ सन् १९३१ का यह वार्तालाप :

नेहरू––'मेरा अपना ख़याल यह है कि जब आज़ादी हासिल हो जाय तो कांग्रेस को ख़त्म कर देना चाहिए।'

गान्धी––'मेरी राय ऐसी नहीं है। मैं सोचता हूँ कांग्रेस जारी रहे, किन्तु एक शर्त पर। आत्म-त्याग की भावना से प्रेरित होकर कांग्रेस यह निश्चय करले कि कांग्रेस में काम करने वाला कोई व्यक्ति सरकारी वेतन-भोगी न हो। यदि कोई इस तरह का काम करना चाहे, तो उसे कांग्रेस से त्यागपत्र देना होगा।'

बापू को डर था कि सरकारी पद पर काम करने वाले व्यक्तियों को वेतन का लोभ हो जायेगा; सार्वजनिक क्षेत्र में निस्पृह भाव से सेवा करने की उनकी वृत्ति कुंठित हो जायेगी। बापू को क्या पता था कि वेतन का लाभ नगण्य है उस लोभ की अपेक्षा जो सरकारी गद्दीधारी कांग्रेसियों में सत्ता के मद ने उत्पन्न किया। पंडितजी, 'आपने विश्व इतिहास की झलक', 'भारत की खोज', 'आत्म-कथा', 'भारत और विश्व' जैसी ऐतिहासिक कृतियाँ लिखी हैं जिनमें राष्ट्रों और व्यक्तियों के जीवन की प्रेरणाओं, प्रवृत्तियों और परिणतियों को देखा-परखा है। आप जानते हैं, इतिहास व्यक्तियों का मूल्यांकन निर्दयता से करता है। समय का ताव ऐसा प्रखर होता है कि मात्र ठोस और सत्वमय अंश ही अमर हो पाता है। आपके नेतृत्व की ठोस उपलब्धि अभी तो बहुत बड़ी है :—(१) देश-विभाजन की विभीषिका को झेलकर लगभग १ करोड़ व्यक्तियों को शरण और सहारा देने की हिम्मत करना और बहुत अंशों में सफल होना; (२) देश के संविधान को रचकर विश्व के सामने क्रियाशील जनतंत्र का उदाहरण प्रस्तुत करना; (३) पंचवर्षीय योजनाओं को क्रियान्वित करना; (४) वैदिशिक नीति की आधारभूत तटस्थता को कुशलता और साहस के साथ निभाये ले जाना; (५) राष्ट्र संघ को सक्रिय सहयोग देना; (६) एशिया की जागृति में महत्वपूर्ण योगदान देना......

किन्तु कल इन उपलब्धियों का मूल्यांकन किस प्रकार होगा? वास्तव में तो आज भी इन सब के आगे जो प्रश्न-चिन्ह लगे हैं उनका समाधान कौन प्रस्तुत करेगा? जिस भारतीय राष्ट्र से और जिन राष्ट्रवासियों से इन उपलब्धियों का सम्बन्ध है उनकी अपनी जड़ें कितनी गहरी हैं? जिस भित्ति पर इन उपलब्धियों का महल खड़ा है उसकी नींव कितनी मज़बूत है? आप कभी सुनिये तो घर-घर में क्या चर्चा है, पंचायतों में बैठकर लोग क्या बातें करते हैं, ट्रेन में यात्रियों की बहस का मुख्य विषय क्या होता है? आप देखिये तो कचहरियों में क्या होता है, राशन की दुकानों में क्या होता है, रेल की टिकिट-खिड़कियों पर क्या होता है! परमिट और लाइसेंस और सरकारी क़र्ज़ तो बड़ी बातें हैं, सरकारी दफ्तरों से यदि किसी पत्र का उत्तर आ जाता है, तो लगता है बड़ी कृपा की गई है। पंडितजी, यह स्थिति कब तक चलेगी? ज़रूर क़सूर जनता का भी है किन्तु उत्तरदायित्व किसका है? १३ अगस्त १९३४ को आपने एक पत्र में बापू को लिखा था :

"नेताओं और उनकी नीति के आधार पर ही अनुयायी अपना आचरण स्थित करते हैं। अनुयायियों के माथे दोष मढ़ना न उचित है, न न्याय-संगत। हर भाषा में कोई-न-कोई मुहावरा ऐसा है जिसका अर्थ होता है—घटिया कारीगर अपने औज़ारों को दोष देता है।"

क्या बाधा है, जो आपको और आपके शासक-साथियों को भ्रष्टाचार के उन्मूलन से रोकती है? आपने कहा था, 'आज़ाद हिन्दुस्तान में चोर-बाज़ारी

करने वालों को बिजली के खंभों पर लटका कर फाँसी दे दी जायेगी?' कानपुर की घिनौनी बस्तियों को देखकर आपने आज से १५ वर्ष पूर्व क्यों घोषणा की थी कि इनका होना देश के लिए शर्म की बात है--इन्हें जलाकर भस्म कर देना चाहिए और इनमें रहने वालों के लिए साफ़-सुथरी जगह की व्यवस्था करनी चाहिए? कौन रोकता है आपको यह वायदा पूरा करने से? फाँसी देने और आग लगाने की बात कम-से-कम यह तो प्रमाणित करती ही है कि आप इस स्थिति से विक्षुब्ध हैं। जब इस दिशा में कुछ सुधार होने की बजाय स्थिति बिगड़ती ही जाये तो जनता आपकी बात का मूल्य क्या आँके? आपके पास क्या सबूत नहीं पहुँचाये गये हैं और आपके ज़िम्मेदार साथियों ने क्या आपको नहीं बताया कि चुनाव लड़ने के लिए जो लाखों रुपये इकट्ठे किए जाते हैं, उनका स्रोत वे लोग हैं जिन्हें गालियाँ देकर 'समाजवाद' का झंडा ऊँचा किया जाता है? और, जहाँ आवा-का-आवा भ्रष्ट है या भ्रष्टाचार का शिकार है वहाँ आप किस आधार पर एक को दोषी और दूसरे को निर्दोष मानते हैं? जिस रकम पर टैक्स नहीं दिया गया उसका कांग्रेस के काम में किसी भी रूप में उपभोग करने वाला दंडनीय क्यों नहीं?

यह घर का हाल है। बाहर क्या? आपने चाणक्य के छद्म नाम से आत्मविश्लेषण करके अपनी गहरी अंतर्दृष्टि का परिचय दिया और अपने व्यक्तित्व की परतें उघारकर हमारे सामने रख दीं। चाणक्य के नाम पर आपने नई दिल्ली में विदेशी दूतावासों के लिए चाणक्यपुरी बसाई। स्पष्ट ही, कूटनीति के लिए आप चाणक्य को गुरु मानते हैं। किन्तु चाणाक्य-नीति के सिद्धान्तों को, वर्तमान स्थिति के अनुरूप ढालकर काम में क्यों नहीं लाया गया? आपने गान्धीजी की अहिंसा को उनकी धारणा के अनुरूप तो कभी नहीं अपनाया? आपके व्यक्तित्व में आकर्षण है, आप जैसा सुसंस्कृत, विद्वान, संवेदनशील, कवि-हृदय, विज्ञानवेत्ता, लोकप्रिय, कार्य-कारण विश्लेषक दूसरा कोई भी प्रधान मंत्री विश्व में नहीं, फिर आपकी पर-राष्ट्र नीति क्यों फलवती नहीं हुई? क्या इसी-लिए कि इन सब गुणों से बड़ा कोई एक गुण है, जो किसी पर-राष्ट्र मंत्री या प्रधान-मंत्री की वैदेशिक नीति की सफलता का आधार होता है? कहीं ऐसा तो नहीं कि बहुत ऊँचे मंच से उपदेश देने की क्षमता ने और आदर्शों के निष्क्रिय, भाव-नात्मक आकर्षण ने हमें व्यामोह में डाल दिया और दूसरों के आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचाई? चाऊ की चालाकी हमारी समझ में न आई; पाकिस्तान का प्रचार बाज़ी मार ले गया; तिब्बत की हिमायत न हमारे काम आई, न उसके; नेपाल के रिश्तों में जो गाँठ पड़ी तो मानो गले में आ अटकी; हिन्देशिया के सुकर्ण अकारण अकड़कर बैठ गये; बर्मा और लंका की आत्मीयता का रंग फीका पड़ने लगा....

सबसे दुःखद प्रसंग यह कि चीन के हमले ने हमारी असमर्थता को दुनिया के

आगे उघाड़कर रख दिया और हमारे आत्म-सम्मान को मर्मान्तिक चोट पहुँचाई। आपके व्यक्तित्व पर आई हुई चोट को देश ने अपने वक्ष पर झेला है। हज़ारों जवानों की हत्या किसके सिर गई ?

यह चित्र बड़ा करुण हो गया है। शायद न्याय-संगत भी नहीं क्योंकि बाहर से बैठकर देखने वाले समीक्षक की दृष्टि में वह सब नहीं आता जो अन्दर घटित होता है। और यह भी हो सकता है कि दूसरे देशों की अपनी-अपनी सीमित स्वार्थ-दृष्टि की माँग ही ऐसी हो कि प्रधान मंत्री चाणक्य भी होते तो स्थिति इसी रूप में सामने आती। किन्तु मन यह बात मानने को तैयार नहीं। मैं मान भी जाऊँ, तो क्या इतिहास मानेगा ? स्थिति चाहे जितनी करुण हो, इसका निष्कर्ष यह कदापि नहीं हो सकता कि देश का भाग्य अन्धकारपूर्ण है। पंडितजी, आप दीर्घायु पायें और आपके प्रति देश की आदर-भरी, प्यार-भरी मंगल कामनाएँ फल लायें--इतिहास के चक्र को आप अभी भी ठीक लीक पर डाल सकते हैं; अश्वों की रास आपके हाथ में है। 'क्लैब्यं मा स्म गम पार्थ !' आपकी सबसे बड़ी शक्ति भारत की जनता है जिसकी विशालता में आप अपने अकेले जीवन का सूनापन विलीन करते आये हैं; जिसके हृदय की धड़कन के साथ आपके जीवन-संगीत का स्वर मिला हुआ है; जो आपको इतना प्यार करती है कि आपकी तुनुकमिजाजी, उद्दाम अधैर्य, झल्लाहट और आकर्षक अशिष्टता को खुशी-खुशी सह लेती है; जिसके सिरों पर पाँव रखकर (मुहावरा नहीं प्रयुक्त कर रहा हूँ) आप मंच तक पहुँचे हैं, और जब आप 'भारत' कहते हैं तो जिसका चित्र आपकी आँखों के आगे सजीव हो उठता है--कृश-काय, रोग-जर्जर, अध-नंगे अध-खाये किन्तु आस्था और विश्वास के साथ जवाहरलाल नेहरू की जय बोलते हुए किसान !

'कामराज' योजना को विनोबाजी ने जो 'बेकामराज' योजना कहा है, उसकी वास्तविकता पर ध्यान दें। मैदान में जिन्हें आपने उतारा है, उनके गुण-दोषों को जनता जानती है। आप सिंहासन से नीचे आयें। ३८ करोड़ लोग आपके साथ हैं। आप इनसे जो त्याग कहेंगे, करेंगे किन्तु आयें कृत-संकल्प बनकर। मरने-खपने की जरूरत पड़ेगी, तो पीछे न हटने वालों का लम्बा क़ाफ़िला आपके साथ होगा। जनता ने आपके नेतृत्व के अन्तर्गत कितना-कुछ सहा है। २० लाख आदमी विभाजन में काम आये, ३५ लाख आदमी बंगाल के अकाल में मर गये, जलियाँवाले बाग़ में ४०० आदमियों को डायर ने भून दिया, १२०० आदमी घायल हो गये, सन् २१–२२ में ३० हज़ार आदमी जेल गये; १९३० में १४ नवम्बर को जब आप जेल में थे लोगों ने आपका जन्मोत्सव शानदार तरीक़े से मनाया। जिस भाषण को राज-द्रोहात्मक क़रार देकर आपको सज़ा दी गई थी, उसे सभाओं में पढ़ा गया और अकेले उस दिन ५ हज़ार आदमी जेल गये।

उस पूरे वर्ष में १ लाख आदमी जेल गये। पर्दे में बन्द, अशिक्षित, संस्कारबद्ध स्त्रियाँ हज़ारों-लाखों की संख्या में घरों से बाहर निकल आईं। उन्होंने पुलिस की लाठियाँ खाईं, जेल की यातनाएँ सहीं, शराब की दुकानों पर पिकेटिंग करते हुए गुण्डों को पराजित किया। यह सारी जन-शक्ति आज भी अन्दर से प्रबुद्ध और सबल है--इसका प्रमाण भी आप गत वर्ष देख चुके हैं। चीनी आक्रमण का भयंकर समाचार सुनते ही आ-सेतु हिमालय सारी जनता एक क्षण में निद्रा भंग करके सन्नद्ध खड़ी हो गई। अर्द्ध-निद्रित रहा, और आज भी है, तो आपका शासन-यंत्र ही।

यदि भाग्य को यह सब मंज़ूर न भी हो कि आपका नेतृत्व चरम उपलब्धि प्राप्त करे, तब भी आपका योगदान इतना महत्वपूर्ण है कि वह इतिहास में स्मरणीय रहेगा। किन्तु जैसा मैंने कहा, आज इतिहास का सबसे बड़ा प्रश्न-चिन्ह आँखों के आगे झूल रहा है। हम नहीं चाहते कि राजनीतिक मूल्यांकन किसी भी दिशा में आपके प्रतिकूल जाये।

जहाँ तक आपके **कृतित्व** का प्रश्न है, आपने जिन आदर्शों की स्थापना की, व्यक्तित्व की परिपूर्णता का जो उदाहरण सामने रखा, साहित्य की जो श्री-वृद्धि की, वाणी की जादूगरी से संसार को जिस प्रकार मोहा, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के द्वारा देश को जो यशस्विता दी, वह जीवन की सार्थकता की स्वयं-सिद्ध स्थिति है।

उपलब्धि और अनुपलब्धि का लेखा-जोखा जो आज है, वह अन्तिम नहीं है। यदि अन्तिम हो भी तो आपने अपनी भावनाओं की प्रतिध्वनि स्विनबर्न की जिस कविता में पाई है, और जिसे आप प्रायः गुनगुनाया करते हैं, वह अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त है:

These many years since we began to be
What have the gods done with us ? What with me
What with my love ? They have shown me fates and fears ?
Harsh springs, and fountains bitterer than the sea,
Grief a fixed star, and joy a vane that veers
These many years.

इन अनेक वर्षों में, जब से हमने व्यक्तित्व प्राप्त किया,
देवताओं ने हमारे साथ क्या किया ? मेरे साथ क्या ?
मेरे प्रेम के साथ क्या ? उन्होंने भय और भाग्य से मेरा साक्षात्कार कराया--
दुर्द्धर स्रोत, और समुद्र से भी अधिक खारे निर्झर;
विषाद--ध्रुवतारे-सा स्थिर; और हर्ष--हवा-पंखी-सा परिभ्रमित,
इन अनेक वर्षों में।

सप्रणाम, आपका,
लक्ष्मीचन्द्र जैन

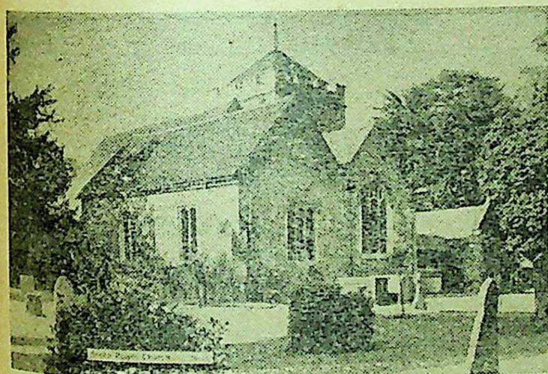
[पृष्ठ १३ का शेष : कोहरे का नगर : ट्यूलिप के द्वार]

मुँह में अकस्मात् चाय बदमज़ा हो जाती है। मैं प्याला रख देता हूँ। मेज़बान से कुछ भी कहना अभद्रता होगी लेकिन कमरे का गैस से उष्ण आरामदेह वातावरण अकस्मात बेहद गरम हो उठता है—गुज़रते जुलूस का शोर, नारे, पुलिस के दौड़ते घोड़ों की टापें, फ़ायर !....और बेनी काका का बच्चा खून में लथपथ नीचे गिरता है। चार्ल्स लैम्ब का भोला चेहरा मुझे तस्वीर में से देखता है। मैं ड्यूक से कुछ नहीं कहता। लैम्ब की ओर देखकर कहता हूँ मन-ही-मन, "मुझे माफ़ करो भाई। मेरे मन में कोई कुनह नहीं, कोई गुरेज़ नहीं, तुम्हारे मुल्क को मैं दोस्त मानता हूँ। लेकिन अपने मुल्क के साथ जो गुज़री है"....

मैं यह प्रसंग भूलना चाहता हूँ। ड्यूक की बातों में मन लगाता हूँ, कोशिश करके। सुबह के अखबारों में कई जगह स्थानीय काउन्टी कौंसिल आदि के चुनावों में कन्ज़र्वेटिव पार्टी की लगातार हार हुई है। आज सारे इंग्लैण्ड में उसी की चर्चा है। ड्यूक भी उसी के बारे में बातें कर रहे हैं। मैं बहुत उत्साह से बातें करता हूँ गोया मुझको कन्जर्वेटिव और लेबर के झगड़ों का विशद ज्ञान है। और बातें बढ़ती हैं। इंगलैंड और हिन्दुस्तान की दोस्ती बहुत ज़रूरी है; जो हुआ उसे भूल जाना चाहिए। निःसंदेह मैं भी सोचता हूँ कि इतनी उदार क़ौम कौन होगी जो इस तरह आज़ादी दे दे। एक पुर्तगाली भी तो हैं !

बाहर आया, दूसरी तरफ़ से सीढ़ियों से उतरना था। देखा कि बहुत बड़ा बुत खड़ा है तना हुआ, उद्धत हाथ की तलवार ज़मीन पर टेके। आस्मान की बुलन्दी को चूमता हुआ यह बुत किसका है ? ग़ौर से देखा, पत्थर पर लिखे अक्षर पढ़े—क्लाइव !

दोस्ती की उभरती हुई भावनाओं पर फिर जैसे हथौड़े की चोट पड़ी। वह धूर्त, जालसाज़, बंगाल का लुटेरा शासक आज भी इस आँगन पर हावी है। फिर इस आँगन में हिन्दुस्तान और इंगलैण्ड की दोस्ती कैसे पनपेगी ? आख़िर वे अँग्रेज़ भी तो थे जिन्होंने हिन्दुस्तान को प्यार किया। यहाँ सी० एफ० एन्ड्रूज़ का बुत क्यों नहीं है ? यहाँ ए०ओ० ह्यूम की मूर्त्ति क्यों नहीं है ? यहाँ एनी बीसेंट की प्रतिमा क्यों नहीं है ? इंगलैण्ड उन्हें क्यों नहीं प्रतिष्ठित करता जिन्होंने हमसे दोस्त की तरह प्यार किया ? उन्हें क्यों याद रखता है जिन्होंने हमें ग़ुलाम मानकर हम पर राज किया ?



स्टोक पोजेज चर्च जहाँ टामस ग्रे ने अपनी प्रख्यात एलेजी लिखी थी।

हाँ,जो कुछ हुआ उसे हम भूल जायेंगे मगर हम क्या करें कि क्लाइव के इस बुत के इर्द-गिर्द बेनी काका का भटकता हुआ विक्षुब्ध स्वर आज तक हमें याद दिला रहा है कि भूलो मत, इस बुत के आधार-स्तम्भ के नीचे कोई दफ़न है। कौन ?

तब से इन दो-तीन दिनों में कई बार उधर से गुज़रा हूँ। क्लाइव एक वीर विदूषक की तरह तलवार की मूठ पर हाथ रखे उस साम्राज्य की रक्षा कर रहा है जो अब रहा ही नहीं। और ऊपर छाया कर रहा है लन्दन का वही आस्मान--किसी उजड़े रईस का उड़े रंगों वाला शामियाना--बदरंग, बेमानी !

●

लंदन सचमुच एक अजीब से ऐतिहासिक असमंजस में है। एक ओर दोनों युद्धों ने अकस्मात उसका विशाल साम्राज्य खतम कर दिया है। वे नींवें, जिन पर यह महल, यह मीनारें, यह शान-शौक़त, यह वैभव, यह सजी-सजाई शाही सेनाएँ, यह अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा खड़ी थी वे नींवें अकस्मात खिसक गई हैं। किसी तरह कामनवेल्थ के ही नाम पर सही एक पारिवारिक संबंध वह इन देशों से बनाये रखना चाहता है लेकिन संबंध निभाने के लिए अपनी तरफ़ से कुछ देने को उसके पास नहीं रहा। एक ज़माना था कि हिन्दुस्तान से गिरमिटिया मज़दूर जहाज़ों में भर-भर कर चारों ओर भेजे जाते थे कि वे ब्रिटिश साम्राज्य में सरकारी फ़ौजों के लिए जंगल साफ़ करें, सड़कें बनायें, इंगलैण्ड की मिलों के लिए कोयला खोदें, कपास उगायें। मगर आज लन्दन में चारों ओर इमीग्रेशन बिल की चर्चा है जिसके द्वारा महीने-दो महीने के अन्दर हिन्दुस्तानियों का कामगार के रूप में आकर इंगलैण्ड में बसना बंद कर दिया जायेगा। लेकिन अगर यह कामनवेल्थ देशों से संबंध तोड़ते भी हैं तो यूरोप के देश इंगलैण्ड को अपनी आर्थिक बिरादरी में लेंगे भी या नहीं इसका कोई ठिकाना नहीं। जर्मनी और फ्रांस दोनों इस बात के ख़िलाफ़ हैं कि इंगलैण्ड को यूरोपीय साझाबाज़ार में शामिल किया जाय। बेचारे ये लोग समझ नहीं पा रहे हैं कि किधर दोस्ती का हाथ बढ़ायें, कौन उसे स्वीकार करेगा ?

मगर मज़े की बात यह है कि ये शासक थे, विश्व-विजेता थे--इसे सहसा भूल भी नहीं पाते। न सिर्फ़ इनके मन में बल्कि जगह-जगह इमारतों और संग्रहालयों में इन्होंने वह यादें सुरक्षित कर रखी हैं।

किस्मत की बात कि पूरा दिन इसी क़िस्म के माहौल में इसी क़िस्म की चीज़ें देखते हुए बीता। क्रामवेल से संबद्ध पार्लियामेंट के पास वाली सड़क, वह खिड़की जहाँ से राजा चार्ल्स को वध करने ले जाया गया था, और अन्त में क्रूरता, अत्याचार, आतंक और ख़ुफ़िया षड्यंत्रों की खौफ़नाक यादगार 'टावर आफ़ लंडन' ! एक बहुत विशाल पुराना शाही क़िला, गुप्त दरवाज़े, ज़मींदोज़ सुरंगें, अँधेरे तहखाने और रहस्यमय काल-कोठरियाँ ! जाने कितनी सदियों तक यह शाही क़ैदख़ाने के रूप में भी इस्तेमाल होता रहा। यहाँ क्या नहीं रहा ! विलियम कौंकरर ने इसे लंदन की देखरेख के लिए बनवाया था। फिर यहाँ सैनिक-शिविर रहा, राजाओं का विलास-गृह रहा, सिक्के ढालने की टकसाल रही, शाही कारा-

ज़ातों का दफ्तर रहा, मौसम देखने की वेधशाला रही और सबसे बढ़कर राजाओं-रानियों और राजवंश के राज-द्रोहियों के लिए एक खौफ़नाक क़ैदखाना रहा। एडवर्ड ड्यूक आफ़ बकिंघम, सैंट टामस मोर, महारानी ऐन बोलीन, क्रामवेल, अर्ल ऑफ़ ऐसेक्स, ड्यूक आफ़ सामरसैट यह सब इसी क़िले की मेहरावों के नीचे हथकड़ियों में बँधकर आए और फाँसी के तख्ते की ओर ले जाये गये। इसकी ऊबड़-खाबड़ दीवारों पर चढ़ी हुई बहुत पुरानी पत्थर-लताएँ ज़रूर इस रक्तरंजित ज़मीन से पोषण पाती रही हैं। इसके पहले घुमावदार ज़ीने अब भी षड्यंत्रों का आभास देते हैं। इसके बड़े-बड़े अनगढ़, अँधेरे हॉल अब भी आतंक पैदा करते हैं। अँग्रेज़ी साम्राज्य समाप्त हो गया मगर उसकी नींव जिस भय और खूँरेज़ी पर क़ायम थी वह आज भी यहाँ सुरक्षित है।

यह खूँरेज़ी दो क़िस्म की थी। एक, तख्त पर क़ब्ज़ा करने के लिये आपस में एक-दूसरे का वध, एक-दूसरे के ख़िलाफ़ षड्यंत्र और दूसरी खूँरेज़ी थी, मिलकर अपनी सेनायें सजाकर एशिया और अफ्रीका के कमज़ोर और शांतिप्रिय लोगों की खूँरेज़ी! इन दोनों के संग्रहालयों को दो अलग-अलग नाम दिये गये हैं। ओल्ड आर्मरी और न्यू आर्मरी! ओल्ड आर्मरी में वे जिरह-बख्तर हैं, पूरे बदन की लोहे की पोशाकें हैं, सैकड़ों क़िस्म के भाले हैं, क़िस्म-क़िस्म की तलवारें हैं जिनसे योद्धा एक-दूसरे पर अपनी वीरता आज़माते थे। मगर असली चीज़ वह कुल्हाड़े हैं जो कभी-कभी जल्लाद और कभी-कभी षड्यंत्रकारी स्वयं शत्रु की गरदन उतारने के लिए इस्तेमाल करते थे। यंत्रणा देने वाली वे भयानक चर्खियाँ और कल-पुर्ज़े हैं, जो अपराध क़बूल करवाने के लिए काम में लाये जाते थे। वे पत्थर हैं, जिन पर अपराधी का सर रखकर कुल्हाड़ा चलाया जाता था। वे अपराधी कभी शासक के भाई होते थे, कभी उसके भतीजे, कभी उसके दीवान और सेनापति! और कभी-कभी उसकी अंकशायिनी--फूल जैसी नाज़ुक प्रेयसियाँ! बाहर न्यू आर्मरी। घर की इस खूँख्वार मार-काट को भूलकर यह बहादुर विश्व-विजय के लिए जाते थे। जिन जातियों ने ग़ुलाम बनने से इंकार किया, इनकी आधुनिक बंदूकों और कुटिल राजनीति का मुक़ाबला अपनी साधारण तलवारों और अपने सरल एशियाई और अफ्रीकी विश्वास भरे मन से किया और पराजित हो गईं उन जातियों के अस्त्र-शस्त्रों को ये बहादुर लोग एकत्र कर लाये। उसका प्रदर्शन न्यू-आर्मरी में होता है। मिश्र और सूडान के अरब और हब्शी योद्धा, आस्ट्रेलिया के आदिवासी, मलाया, सिंगापुर, बर्मा के पुराने हथियार और अन्त में हिन्दुस्तान के राजपूतों और पठानों के पुराने अस्त्र-शस्त्र! इस अँग्रेज़ी वीरता की गवाही देने वाले संग्रहालय की शुरूआत की थी उसी लार्ड क्लाइव ने। ख़ास तौर से एक हाथी का जिरहबख्तर वहाँ क्लाइव ने लाकर रखा था ताकि वह मालिकों को दिखा सके कि उसने एक ऐसी क़ौम को जीता है जहाँ सिपाही तो दूर हाथी जैसे विराट जंतु भी लोहे की चादर से ढके रहते थे।

सच तो यह है कि यह सब देखते-देखते मन में एक अजीब-सा क्षोभ, खिन्नता और कुछ-

कुछ दबा क्रोध भी उभरने लगा। लेकिन सिर्फ़ एक बात सोची, हर संस्कृति अपनी श्रेष्ठ उपलब्धि दूसरे के समक्ष रखती आई है। मैंने अपने ट्यूलिप वाले नये दोस्त लंदन से कहा कि मुझे हमदर्दी है कि तुम्हारे पास तुम्हारी पुरानी सांस्कृतिक उपलब्धि के नाम पर शायद यही चीज़ प्रदर्शनीय है। वैसे हैं तो तुम्हारे पास और भी चीज़ें! शायद इससे कहीं ज़्यादा मानवीय और कहीं ज़्यादा मूल्यवान। लेकिन तुम्हारे पूर्व इतिहास का जो कोहरा तुम्हें हर वक्त ढके रहता है उसमें से शायद अभी उन चीज़ों का मूल्य तुम उस हद तक नहीं समझ पा रहे हो!

और मज़े की बात देखो कि जब हम यह सब देखकर वापस लौट रहे थे तो देखा, इस भयानक यंत्रणा दुर्ग के दरवाज़े पर एक मिट्टी का बहुत खूबसूरत करुणा और स्नेह जगाता हुआ प्यारा-सा कुत्ता रखा है। उसके गले में एक कार्ड लटक रहा है, जिस पर लिखा है: 'मुझे क्रूरता से बचाने के लिए कृपया दान दीजिये।' जानवरों को क्रूरता से बचाने के लिए रायल सोसाइटी की ओर से यह कुत्ता यहाँ द्वार पर रखा गया है।

इतिहास की कितनी दयनीय असंगति है! मनुष्य पर मनुष्य के दुर्दान्त अत्याचार की गौरवगाथा के लिए संग्रहालय और दरवाज़े पर जानवरों पर दया करने की करुण याचना!

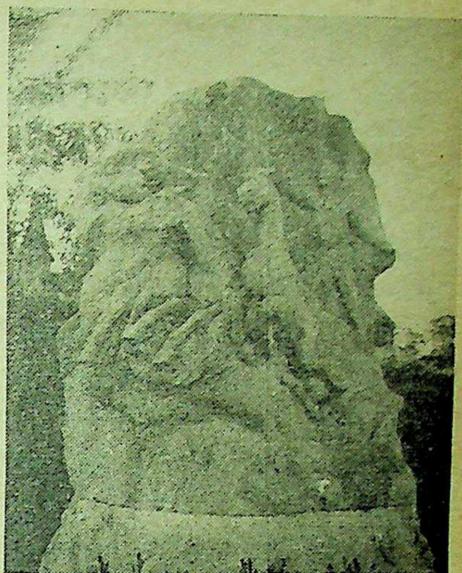
मैं नहीं जानता कि क्या सारा इंग्लैण्ड इन विघटित मूल्यों के दुरंगे असमंजस में उलझा हुआ है या कोई नया इंगलैण्ड ऐसा भी है जो उभरकर इस कोहरे के पार देख रहा है। इस पुरानी साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी पीढ़ी के मुखौटों को ध्वस्त करता हुआ, इनके झूठे अहंकार की धज्जियाँ उड़ाता हुआ! अगर कोई है तो वह ज़रूर हमारा दोस्त है, हमारा सहधर्मी है क्योंकि हमें भी आज इसी ऐतिहासिक प्रक्रिया में से गुज़रना पड़ रहा है!

●

दूसरे दिन उस नये इंगलैण्ड की तो नहीं पर उस इंगलैण्ड की झलक ज़रूर मिली, जिसका इन दिग्विजयों के आडम्बर से कोई ताल्लुक नहीं था। सिपाहियों का नहीं, कवियों का इंगलैण्ड! हरे खेतों, पुराने पेड़ों, प्यारी-मीठी चिड़ियों, फूलों और सुकुमार कविताओं का इंगलैण्ड! लेक-डिस्ट्रिक्ट, स्काॅटलैण्ड, शेक्सपियर के नगर जाने का कार्यक्रम तो बाद में है पर जोन्स ने मेरा मूड देखकर कार्यक्रम बनाया कि वे लंदन के काफ़ी निकट एक ऐसी जगह ले चलेंगे जहाँ जाकर सचमुच मेरे मन से क्लाइव के लंदन का भार उतर सके। जोन्स बेहद समझदार दोस्त है और उनकी रुचियाँ तो कमाल की हैं। डकोटा वायुयान के इतिहास से लेकर ईलियट के पद्यनाटकों के मर्म तक पर उनसे घंटों तक बात कर लीजिये। और जाने क्यों मेरी तीव्र आलोचनाओं के बावजूद उनके मन में मेरे लिए बहुत स्नेह है।

लन्दन पार करके देहातों से गुज़र रहे हैं। हरे खेत, उफ़ किस क़दर हरे जिसे जोन्स "लशग्रीन" कहते हैं! सड़क के दोनों ओर पीले जंगली फूल और कहीं-कहीं काली चितकबरी गायें। ग़ज़ब के साफ़-सुथरे गाँव, कितने प्यारे कॉटेज और जगह-जगह बरवीना के नीले - नीले फूल आयतन।

(बरबीना की याद है न तुम्हें ! नीले फूलों का वह सुन्दर प्रसार मैडोना की मूर्त्ति के सामने अपने इलाहाबाद वाले गिरिजाघर में) थोड़ी देर बाद खेल खत्म और जंगल शुरू। पहाड़ी रास्ते। मगर इतना घना हरा जंगल पर ज़रा भी भयावना नहीं। रंग बिल्कुल तोतापंखी। बिल्कुल जैसे किसी झाँकी में जंगल बनाया गया हो। और जानती हो, जंगली जानवर क्या हैं ? तेन्दुए, चीते को तो भूल जाओ। मैंने पूछा, "भेड़िए हैं ?" तो बताया गया कि "भेड़िये तो पोलैण्ड, उत्तरी ध्रुव जैसे खौफ़नाक देशों में रहते हैं, यहाँ उनका क्या काम ? हाँ लोमड़ी हैं, खरगोश हैं।" जब मैंने पूछा कि "यहाँ आखिर कुछ ऐसा है जो रहस्य या भय का सुखद रोमांच दे सके।" तो जोन्स ने कहा—"यहाँ के भूत मशहूर हैं।" "क्या" ? मैंने अविश्वास से पूछा तो वे हँस कर बोले, "आपको मालूम होना चाहिए कि भूत इंगलैण्ड की एक खास पैदावार है। अमूमन जंगली रास्तों, पुराने क़िलों, खंडहरों वगैरह में होते हैं। अँग्रेज अपने उन भूतों की बड़ी क़दर करते हैं, उन पर उन्हें फ़ख्र है और उन्हें पीढ़ी-दर-पीढ़ी वे सहेजते चलते हैं। जिस जंगल या गाँव या क़िले का अपना कोई निजी भूत नहीं होता वहाँ के लोग अपने को बहुत हीन मानते हैं।" मालूम हुआ कि अमरीकन और यूरोपीय सैरबीनों की ज्यादा भीड़ उन्हीं क़िलों या पुरानी हवेलियों में जाती है जहाँ पुराने और सम्माननीय भूत कई पीढ़ी से रहते आ रहे हैं। अक्सर कई गाँवों ने सैरबीनों को आकर्षित करने के लिए पुरानी हवेलियों में नये भूतों की प्रतिष्ठा की है और उनका बाक़ायदा विज्ञापन किया है।



टैपलो कोर्ट के खेतों में कवि जूलियन ग्रेनफेल का स्मारक।

जोन्स की बातों में रास्ता कब कट गया कुछ पता ही नहीं चला। और यह हम लोग आ कहाँ गए ? कितनी खूबसूरत नदी—कितना प्यारा पुल, और यह सफ़ेद फूलों से लदे-लदे सेब के पेड़ और यह गुलाबी परिधान वाली चेरी ! नदी टेम्स थी, क़स्बे का नाम मार्लो। कितना सजाया है इस जगह इन्होंने नदी को ! उस पार चिनार के ऊँचे खबसूरत पेड़ों की पूरी क़तार थी। मालूम हुआ कि चिनार दलदली पानी को सोखते हैं। क़रीब तीन सौ गैलन खींचकर हवा में फेंक देते हैं। इस ओर देवदार की क़तार, टेम्स पर पानी का कृत्रिम झरना ! नदी-तट पर सराय ! सराय का नाम 'कम्पलीट एंगलर', बाहर नदी तट पर घास के लान पर लगी मेज़ें और छतरियाँ, घास में

बिखरे हुए चेरी के फूल, नदी में बहते हुए चेरी के फूल, हवा में उड़ते हुए चेरी के फूल। यहाँ चुपचाप एक प्याला काफ़ी पी जायेगी।

हम लोग दांयें सहन के पास वाली खिड़की के पास बैठे हैं। कॉफ़ी उठाई ही थी कि हवा के झोंके से चेरी के फूल उड़कर आये और शीशे से टकराकर बाहर नीचे गिर गये झर-झर-झर और चौकोर सहन में हवा के झोंके दीवारों से टकराकर घूमे कि चेरी की झरी हुई पंखुरियाँ क़तार की क़तार नाच गयीं। कभी-कभी छोटी-छोटी चीज़ें मन की जाने किस पर्त को कहाँ कैसे झंकार जाती हैं। यह चेरी की गुलाबी पत्तियों का एक चंद्राकार क़तार में नाच जाना मन को जाने कहाँ उन्मुक्त कर गया! जाने कौन-सी गाँठ खोल गया! जाने कौन-सी परत बींध गया! ऐसी अनुभूतियों का एक नशा होता है। तमाम दोपहर वह नशा उतरा नहीं। माथे के चारों ओर वे चेरी की पंखुरियाँ चन्द्राकार नाचती रहीं।

जोन्स मेरी ओर संतोष से देख रहा है। क्या इसी जगह के लिए चले थे हमलोग? नहीं यह तो पड़ाव था। अभी आगे! और ज़रा दूर पर!

बादल झुक आए हैं और हल्की झींसी पड़ने लगी है। गाड़ी भी अंदर से बिजली से गरम है वरना सर्दी बला की है। इस बार अभी तक बसंत आया ही नहीं। लेकिन पेड़ झींसी से भींगकर अच्छे लग रहे हैं और एक फाटक पर गाड़ी खड़ी हो गयी है। हम उतरते हैं। एक बहुत पुराना गिरजा बेमरम्मत-सा दूर पर दीख रहा है। पहले क़ब्रिस्तान है। घास में हर क़ब्र पर फूल हैं, ट्यूलिप, एण्टीरेनम, बरवीना, नरगिस। चलते-चलते एक बहुत गहरी उदासी मन पर छा गयी है। क्यों? यह कहाँ आ गये हैं हम लोग? इतना उदास मैंने अपने को शायद ही कभी पाया हो। अकारणि। कालिदास ने कहीं लिखा है कि "रम्याणि वीक्ष्य...."सुन्दर वस्तुओं को देखकर भी एक उदासी हम पर छा जाती है जो कभी-कभी पूर्वजन्म के आसंगों से आती है। पर यहाँ तो हवा तक में जैसे उदासी है। उदास गिरजाघर, उदास खड़े पेड़!

और एक पत्थर के पास आकर हम रुक गए हैं और जोन्स ने कहा—"यही वह पत्थर है, जिस पर बैठकर ग्रे ने अपनी मशहूर एलेजी (शोकगीत) लिखी थी। यही वह यू का पेड़ है जिसकी उदास छाया पड़ रही थी।...." अँग्रेज़ी की वह अमर कविता—शाम की उदासी की अमर कृति—

"कर्फ़्यू टाल्स द नेल आफ पार्टिंग डे
द लोईंग हर्ड वाइण्ड स्लोली ओवर द ली
द प्लाउमैन होमवार्ड प्लाड्स हिज़ वीयरी वे
एण्ड लीव्ज़ द वर्ल्ड टु डार्कनेस एण्ड टु मी!"

तब लन्दन से यहाँ तक का पैदल दो दिन का रास्ता था। ग्रे वहाँ से पैदल चल कर यहाँ आता था। उसका पिता सूदख़ोर था, कठोर और निर्मम! माँ ने किसी तरह पेट काटकर उसे ईटन और कैम्ब्रिज भेजा था। यहीं उसकी माँ दफ़न हुई। यही वह पुराने गिरजे की पतली मीनार है जिसका ज़िक्र उस एलेजी में है। ग्रे की मृत्यु हुई, तो उसकी इच्छानुसार यहीं अपनी माँ की क़ब्र में उसे सुला दिया गया।

गिरजा अन्दर से बहुत ठंडा था, अँधेरा। कहीं-कहीं कड़ियाँ झूलने लगी हैं। उसी यू

वृक्ष की लकड़ी के कुछ पेपर नाइफ़, कुछ क्रास बिक्री के लिए रखे थे। एक बूढ़ा नीचे फ़र्श झाड़न से पोंछ रहा था। और एक कोने में एक युवक बाँहों से अपनी संगिनी को घेरे घुटनें टेके साथ-साथ बाइबिल पढ़ रहा था। बाहर झींसी पड़ रही थी। उसी झींसी में भींगते हुए मैं ग्रे के स्मारक तक गया। झाड़ पर एक नीले फूल की लतर थी। एक फूल तुम्हारे लिए तोड़कर डायरी में दबा लिया है। [लेकिन सच बात यह है कि आज पता नहीं क्यों इतनें दिनों बाद मुझे गिरधर की बेहद याद आ रही है। उसके प्रथम काव्यसंग्रह 'अग्निमा' के गीतों की गाढ़ी उदासी और अजब सामंजस्य कि उसने वह संग्रह दादी माँ को भेंट किया था।]

ग्रे की कविता को शायद हर अँग्रेज़ी जानने वाले ने कभी-न-कभी पढ़ा है, बार-बार पढ़ा है। मुझे जहाँ-तहाँ दो-एक लाइनें याद हैं, जोन्स उन्हें पूरी कर रहे हैं—

बिनीथ दोज रगेड एल्म्स, दैट यू ट्री'ज शेड ह्वेयर हीव्ज द टर्फ इन मेनी ए मोल्डरिंग हीप ईच इन हिज नैरो सेल फ़ार एवर लेड द रूड फोरफादर्स आफ़ द हैमलेट स्लीप!

और इसके पहले वाली लाइनें बाद में याद आती हैं—

एण्ड ड्राउसी टिंकलिंग्स लल द डिस्टैंट फोल्ड्स

यह इंगलैण्ड का वह मन है, सुकुमार बहुत सुकुमार अनुभूतियों से झनझना उठने वाला वह मन जिसमें कविता पनपी है।....

•

"अब कहाँ चल रहे हैं ?" मैंने पूछा !

"एक ऐसी जगह जहाँ कोई नहीं जाता ! लेकिन आपको वहाँ जाना ही चाहिये।" जोन्स ने कहा, "उदासी से ट्रैजेडी की ओर ! एक ऐतिहासिक ट्रैजेडी ! एक पूरी कवि-पीढ़ी की ट्रैजेडी ! आपने जूलियस ग्रेन्फ़ेल का नाम सुना है ?"

मैंने कभी ग्रेन्फ़ेल का नाम सुना है याद नहीं आता। कभी उसका कुछ पढ़ा तो है ही नहीं। फिर वहाँ जाने से फ़ायदा ? लेकिन जोन्स की इच्छा। हम एक ऐसे रास्ते से गुज़र रहे हैं जिसके दोनों ओर चिनारों-की क़तार है। मालूम हुआ यह चिनार-गली मशहूर है। हर चिनार इंगलैण्ड के किसी महापुरुष ने लगाया है। ग्लैडस्टन, लायड जार्ज, चर्चिल.... । और जोन्स बता रहे हैं कि जूलियस ग्रेन्फ़ेल उस पीढ़ी का अंतिम कवि था जो युद्ध के लिए उत्साहित थी। रूपर्ट ब्रूक का समकालीन। और प्रथम महायुद्ध में वह लड़ने गया। और पहला कवि सिपाही था जो शहीद हुआ। उसकी एक कविता थी 'इन टु बैटिल' जो बच्चे-बच्चे की ज़बान पर थी। उसकी मृत्यु हुई तो उसे टैपलो कोर्ट लाया गया। ये खेत, यहाँ की घाटी, उसकी ख़ास प्रिय थी। उसके पिता ने इस हिस्से को ख़रीद लिया।

पर अब लोग उसे भूल गये हैं। वह स्मारक कहाँ है हमें पता ही नहीं चल पा रहा था। किसी फ़ैक्टरी ने आगे की ज़मीन ख़रीद ली है। हम काँटे पार करते, खेतों के बीच कच्ची मेड़ों पर चले जा रहे हैं। इधर-उधर उस पत्थर की छोटी-सी समाधि की खोज करते। खेत में कटीले तारों के पीछे एक ख़ूबसूरत घोड़ा चर रहा था। उसने हम लोगों की ओर देखा, कान खड़े किये और हिनहिनाया। अजीब-सा लगा। नाटकीय-सा ! दायीं ओर

स्मारक था। घास उग आयी थी। झाड़ पर लतरें झूल आयी थीं। पत्थर पर तीन घोड़ों की रास थामे एक तरुण ग्रीक-देवता। पीछे काले पत्थर पर पूरी कविता खुदी थी।

नीचे दूर तक घाटी और मैदान बेहद हरे, बारिश से धुले——बहुत शांत! बादलों की छाँह में एक हरा विस्तृत सन्नाटा। हम पत्थर पर खुदी कविता पढ़ रहे हैं :

एण्ड लाइफ़ इज़ कलर एण्ड वार्म्थ एंड लाइट
एण्ड द स्ट्राईविंग एवर मोर फ़ार दीज़
एण्ड ही इज़ डेड हू विल नाट फाइट
एण्ड हू डाइज फ़ाईटिंग हैज इंक्रीज

द फ़ाईटिंग मैन शैल फ्राम द सन
टेक वार्म्थ, एण्ड लाइफ फ्राम द ग्लोइंग अर्थ...

द ब्लैक बर्ड सिंग्स टु हिम "ब्रदर, ब्रदर
इफ़ दिस बी द लास्ट सांग यू शैल सिंग
सिंग वेल, फार यू मे नाट सिंग एनदर,
ब्रदर सिंग!"....

और यह उस आशावादी पीढ़ी का अंतिम गीत था। इसी के बाद आयी युद्ध से, इंगलैण्ड के पुराने झूठे अहंकारी मूल्यों से असंतुष्ट और विक्षुब्ध कवियों की यथार्थदर्शी पीढ़ी सीग्रफ़ीड सैसून वग़ैरह जिन्होंने लिखा——

टुडे ही इज़ इन पिक टुमारो ही शैल डाई
एण्ड स्टिल द वार गोज आन, हीं डज़्
नाट नो ह्वाई?

और तब शुरू हुई वह धारा जो आधुनिक बोध की काव्यधारा थी। इस कविता के खंडहरों से आधुनिकता उपजी!....

हम लोगों ने कविता पढ़ी, दोहराई और फिर चुप हो गये....सन्नाटा! सहसा नीचे की घाटी में एक रेल गुज़री। पूरा हरा लैंडस्केप काँपा और रेल नहीं दीखी, पर पेड़ों के ऊपर क़तार में धुएँ का बादल उठा।

मेरे दिमाग़ में रेडियो एक्टिव बादल का बिम्ब घूम गया। टैपलो कोर्ट से लौटे तो पत्थर के स्मारक के घोड़े बदस्तूर सीना निकाले आगे बढ़े आ रहे थे——मगर खेतवाला वह घोड़ा चुपचाप सिर झुकाये घास चर रहा था। इस बार उसने सर उठाकर देखा भी नहीं।

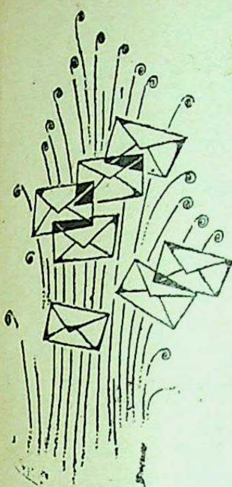
इस शहादत के बाद, इस पीढ़ी के बाद कविता का इंगलैण्ड, क्लाइव के इंगलैण्ड से मुक्त हो गया होगा मगर कितनी क़ीमत चुकाने के बाद? जोन्स ने सच कहा था, यह जगह उदासी की नहीं इतिहास की ट्रैजेडी की जगह थी :

ब्लैक बर्ड सिंग्स टु हिम "ब्रदर, ब्रदर
इफ़ दिस बी द लास्ट सांग यू शैल सिंग
सिंग वेल, फ़ार यू मे नाट सिंग एनदर!"

●

मन कुछ ऐसा हो गया था कि फिर सब कार्यक्रम स्थगित कर दिये। आज की शाम खाली रखी, और लो, ये तमाम होकर गुज़र गया और अब मैं तुम्हारे पास हूँ। आज थोड़ा थक भी गया हूँ और यह थकान, यह टैपलो कोर्ट की घास की सोंधी-ताज़ी गंध, यह घाटी का भीगा-हरा सन्नाटा, यह गुज़रती रेल से काँपता लैण्डस्केप और इस विचित्र-से स्थल पर ख़यालों में डूबा मेरा झुका माथा अपनी ममता भरी बाँहों में सहेज लो——इन तमाम अनुभूतियों में तुम सम्मिलित हो ताकि ये सार्थक हो जायँ!

●



पत्र-अंक (२)

परिशिष्टांक

दिसम्बर १९६३

●

ज्ञानोदय का अगला अंक इस विशेषांक का पूरक, परिशिष्टांक, होगा--ज्ञानोदय की भव्य परम्परा के अनुसार रोचक, मोहक और समान रूप से उत्कृष्ट। इस महत्वपूर्ण और संग्रहणीय परिशिष्टांक की एक झलक यहाँ प्रस्तुत है :

१. **स० ही० वात्स्यायन, डॉ० प्रभाकर माचवे, डॉ० उदयनारायण तिवारी, विद्यानिवास मिश्र** : चार भारतीय लेखकों की दृष्टि में अलकापुरी
२. **उपेन्द्रनाथ अश्क** : आज कुछ दर्द मेरे दिल में सवा होता है
३. **हेनरी मिलर, लारेंस ड्यूरेल, एल्फ्रेड पर्ल्स** : एक अंतरंग पत्र-व्यवहार
४. **डॉ० रमेश कुन्तल मेघ** : दक्षिण अफ्रीका से एक पत्र
५. **नैपोलियन और जोसेफ़ीन** : प्रणय-पातियाँ
६. **हंसराज रहबर** : मुग़ल हरम की कहानी : एक अनाम बाँदी की ज़बानी
७. **अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार** : विनोबा भावे : एक अमरीकन की दृष्टि में
८. **फणीश्वरनाथ रेणु** : स्वामी विवेकानन्द के चार पत्र
९. **सन्हैयालाल ओझा** : माइन सेहर गीअर्टर ओड्झा
१०. **कुन्था जैन** : विंसेन्ट वैन गॉग के कुछ महत्वपूर्ण पत्र
११. **विजयचन्द** : प्रेमपत्र : तब और अब

१२. हर्षनाथ : दफ्तर की देहरी के भीतर
१३. टामस हार्डी : टैस का एक हृदयस्पर्शी प्रेम-पत्र
१४. मोदनारायण दास : कामरेड चाऊ के नाम एक खुला पत्र
१५. आनन्दप्रकाश जैन : ताड़पत्र के पन्ने
१६. माखनलाल चतुर्वेदी और मुक्ता राजे : एक व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार
१७. चन्द्रकान्ता वर्मा : भारतीय और विदेशी संस्कृतियों का अद्‌भुत संगम-स्थल
१८. कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह : पोस्टमार्टम
१९. अयोध्याप्रसाद गोयलीय : काग़ज़ पै रख दिया है कलेजा निकाल कर
२०. प्रतिभा : अँधेरी घाटियों में गूँजती प्रतिध्वनियाँ
२१. चन्द्रदेव सिंह : शोधकर्त्ता का पत्र : गाइड की सेवा में
२२. कौशल्या अश्क : नेफ़ा के मोर्चे पर जूझते सैनिक के नाम : पत्नी का पत्र
२३. प्रेमकपूर : आधुनिक चित्रकला की परदरसनी देखकर

- डॉ० धर्मवीर भारती, डॉ० नामवर सिंह और केशवचन्द्र वर्मा के स्थायी स्तम्भों के अन्तर्गत पत्रों की विधा में लिखी हुई रचनाएँ।

- इनके अतिरिक्त, हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के शीर्षस्थ लेखकों-विद्वानों के व्यक्तिगत और अप्रकाशित पत्र।

- विश्व-विख्यात लेखकों के अनेक प्रसिद्ध पत्र।

विशेषांक के समान ही महत्वपूर्ण इस परिशिष्टांक का मूल्य मात्र १) रु० रहेगा। अपनी प्रति सुरक्षित करवा लें।

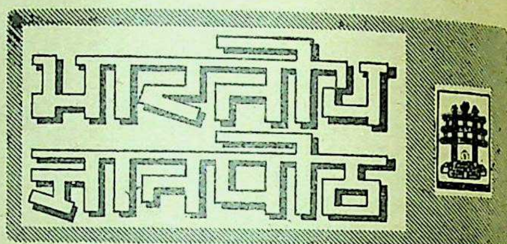
एक प्रति १) रु०; वार्षिक १०) रु०

ज्ञानोदय कार्यालय

१८ ए, ब्रेबोर्न रोड, कलकत्ता-१

एकमात्र वितरक : बैनेट कोलमैन एण्ड कम्पनी लि०, बम्बई १

सांस्कृतिक जागरण, साहित्यिक विकास-उन्नयन और
राष्ट्रीय ऐक्य एवं राष्ट्र-प्रतिष्ठा की साधिका
एवं
भारतीय भाषाओं की सर्वोत्कृष्ट
सर्जनात्मक साहित्यिक कृति पर
प्रतिवर्ष एक लाख रुपये
पुरस्कार योजना प्रवर्तिका
विशिष्ट संस्था



उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्री का
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा
लोक-हितकारी मौलिक
साहित्य का निर्माण

संस्थापक : साहू शान्ति प्रसाद जैन

अध्यक्षा : श्रीमती रमा जैन

प्रधान एवं सम्पादकीय कार्यालय : ९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५
विक्रय केन्द्र
३६२०/२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, दिल्ली-६

शिखरों का सेतु : डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह

शैल-शिखर रमणीक होते हैं। जो चिर-प्रेरक भी हों, ऐसे शिखर विश्व साहित्य के महाप्राण व्यक्तित्व होते हैं या फिर अतीत के जीवन और प्राणों की वे मार्मिक कथाएँ-व्यथाएँ होती हैं जो उन्हें 'अतीत' कभी नहीं बनने देतीं। प्रस्तुत पुस्तक द्वारा अनेक ऐसे ही शैल-शिखरों से साक्षात्कार होगा जिसे पाकर 'लघु मानव' को बरबस लगे कि वह लघु ही रहने के लिए नहीं। जीवन-यात्रा में कभी अपने को थकता देखें तो एक क्षण इन शिखरों का सहारा लें, फिर चरण आगे पथ पर आप बढ़ चलेंगे।

मूल्य ३.५०

महाश्रमण सुनें, उनकी परम्पराएँ सुनें ! : भिक्खु

ऐसी भावभीगी और साथ ही विचार-प्रेरक उपन्यासिका इधर के वर्षों में कोई और शायद ही आयी हो। पुस्तक में राहुल-कथा के छद्म से व्यष्टि और समष्टि के विग्रह की सनातन समस्या को स्वर दिया गया है। अबोध वय में राहुल को स्वयं तथागत का चीवर देना, समष्टि की निरंकुशता के प्रति आज भी कैसा आक्रोश जगा देता है ! तब दृष्टि-बोध आने पर कैसा-कैसा मूक विद्रोह उभरा और दबा होगा राहुल के मन में ? और यशोधरा के जी की तो सोचे भी कोई कैसे ! ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित मानो चावल के दाने पर बौद्ध-काल का ताजमहल !

ल्य २.२५

आदमी का ज़हर : लक्ष्मीकान्त वर्मा

पाँच चुने-चुने रेडियो नाटक जिनका उद्देश्य केवल मनोरंजन देना नहीं, बल्कि आज के जटिल जीवन के प्रश्नों से समाधान के लिए जूझना है। इसीलिए इसकी पंक्ति-पंक्ति में वास्तविकताओं के तीखे व्यंग्य और विरोधाभास भी उभर आये हैं और रस और रोमान्स में सीझती हुई मानवीय करुणा भी फूट-फूट आयी है।

मूल्य २.५०

मेज़ पर टिकी हुई कुहनियाँ : रमेश बक्षी

इन कहानियों को देखकर कोई कहे तो अत्युक्ति न होगी कि आधुनिक कथा शिल्प और जीवनदृष्टि दोनों को एक साथ स्वाभाविक रूप में सजा हुआ यहाँ पाया। कभी पढ़ते-पढ़ते लग सकता है कि ये कहानियाँ नहीं हैं, पर फिर अगले क्षण बरबस लगेगा कि ये ही तो सचमुच कहानियाँ हैं : आज की !

मूल्य ३.५०

प्रतिनिधि रचनाएं (तेलुगु) : नार्ल वेंकटेश्वर राव

जिन्हें 'टाइम्स लिटरेरी सप्लिमेंट' ने "मेजर इण्डियन पोएट्स ऑव द डे" में गिना और समूचा तेलुगु भाषी अंचल "सर्वप्रमुख नाटककार" मानता है, उन्हीं श्री नार्ल के सर्वश्रेष्ठ १३ नाटकों का संकलन। ऐसे सरल और सहज रूप में ये नाटक अपना विषय और प्रयोजन सामने रखते हैं कि इधर ध्यान न देना असम्भव होता है, और फिर प्रभाव तो अनिवार्य है ही।

मूल्य ३.५०

प्रतिनिधि रचनाएँ (बंगला) : परशुराम

बंगला के अप्रतिम व्यंग्य कथाकार परशुराम के साहित्य के प्रेमियों के लिए अनिवार्य संकलन : जिसकी १२ कथाओं और ७ निबन्ध-रचनाओं में से हरेक में आज के मानव के खण्डित व्यक्तित्व और अर्थहीन जीवन-मूल्यों का ही मार्मिक अंकन नहीं हुआ, साथ में उसकी पीड़ा और आकुलता-विवशता के प्रति लेखक का सहानुभूतिपूर्ण वैज्ञानिक दृष्टिवोध भी उजागर हुआ है।

मूल्य ३.००

प्रतिनिधि रचनाएँ (मराठी) : व्यं० दि० माडगूलकर

नयी पीढ़ी के मराठी साहित्यकारों में अग्रणी, श्री माडगूलकर का यह संकलन 'प्रतिनिधि' इसलिए नहीं है कि एक पूरा उपन्यास, पाँच चुनी-चुनी कहानियाँ, और तीन बेजोड़ व्यक्ति-निबन्ध इसमें दिये गये हैं, बल्कि विशेषकर इसलिए है कि यहाँ आयी नयी दृष्टि मानव मन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रवृत्तियों का वस्तुचित्रण भी करती है और साथ ही सम्पूर्ण मानवीय आस्थाओं का स्वीकरण भी मुखर करती हैं।

मूल्य ४.००

घाटियाँ गूँजती हैं : डॉ० शिवप्रसाद सिंह

बर्फ़ की आग - सा सच यही है कि चीन के आक्रमण से गूंजी हिमालय की घाटियाँ आज भी गूँजती है। तीन अंकों का यह सहज अभिनेय नाटक उस बर्बर विश्वासघात का इतिहास -जैसा न देगा, उस समूचे परिवेश का यह जलता साक्ष्य है जिसे आधार रूप में इतिहास मानेगा। बड़ी मार्मिक बात और यह कि जैसे बिना बोले कथानक उजागर कर जाता है कि हमारे साहित्यकारों का ऐसे समय वास्तव में क्या दायित्व था।

मूल्य २.५०

पठनीय एवं संग्रहणीय
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

भारतीय ज्ञानपीठ

महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

कर्मनाशा की हार	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	३.००
सूने अँगन रस बरसै	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	३.००
प्यार के बन्धन	रावी	३.२५
मोतियोंवाले (पुरस्कृत)	कर्त्तारसिंह दुग्गल	२.५०
हरियाणा लोकमंच की कहानियाँ	राजाराम शास्त्री	२.५०
मेरे कथागुरु का कहना है (१–२)	रावी	६.००
पहला कहानीकार (पुरस्कृत)	रावी	२.५०
संघर्ष के बाद (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	विष्णु प्रभाकर	३.००
नये चित्र	सत्येन्द्र शरत्	३.००
काल के पंख	आनन्दप्रकाश जैन	३.००
अतीत के कम्पन (द्वि० सं०)	आनन्दप्रकाश जैन	३.००
खेल खिलौने	राजेन्द्र यादव	२.००
आकाश के तारे : धरती के फूल (तृ०सं०)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	२.००
नये बादल	मोहन राकेश	२.५०
कुछ मोती कुछ सीप (द्वि०सं०, पुरस्कृत)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
जिन खोजा तिन पाइयाँ (तृ० सं०)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
गहरे पानी पैठ (तृ० सं०)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.५०
एक परछाईं : दो दायरे	गुलाबदास ब्रोकर	३.००
ऑस्कर वाइल्ड की कहानियाँ	डॉ० धर्मवीर भारती	२.५०
लो कहानी सुनो	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२.००

कविता

रत्नावली	हरिप्रसाद 'हरि'	२.००
वाणी (द्वि० सं० परिवर्धित)	सुमित्रानन्दन पन्त	४.००
सौवर्ण (द्वि० सं० परिवर्धित)	सुमित्रानन्दन पन्त	३.५०
परिणय गीतिका	सं०–रमा जैन, कुन्था जैन	५.००
आँगन के पार द्वार	अज्ञेय	३.००
वीणापाणि के कॅम्पाउण्ड में	केशवचन्द्र वर्मा	३.००
रूपाम्बरा	सं०—अज्ञेय	१२.००
वेणु लो, गूँजे धरा	माखनलाल चतुर्वेदी	३.००
अनु-क्षण	डॉ० प्रभाकर माचवे	३.००
तीसरा सप्तक (द्वि० सं०)	सं०––अज्ञेय	५.००
अरी ओ करुणा प्रभामय	अज्ञेय	४.००

महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

देशान्तर	डॉ० धर्मवीर भारती	१२.००
सात गीत-वर्ष	डॉ० धर्मवीर भारती	३.५०
कनुप्रिया	डॉ० धर्मवीर भारती	३.००
लेखनी-बेला	वीरेन्द्र मिश्र	३.००
आवाज़ तेरी है	राजेन्द्र यादव	३.००
पंच-प्रदीप	शान्ति एम० ए०	२.००
मेरे बापू	हुकुमचन्द्र बुखारिया	२.५०
धूप के धान (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	गिरिजाकुमार माथुर	३.००
वर्द्धमान (महाकाव्य) (पुरस्कृत)	अनूप शर्मा	६.००

शाइरी

गंगोजमन	'नज़ीर' बनारसी	३.००
शाइरी के नये मोड़ (भाग १–५)	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	१५.००
नग्मए-हरम	"	४.००
शाइरी के नये दौर (भाग १–५)	"	१५.००
शेर-ओ-सुख़न : १–५ (द्वि.सं.पुरस्कृत)	"	२०.००
शेर-ओ-शाइरी " "	"	८.००
ग़ालिब	रामनाथ 'सुमन'	८.००
मीर	"	६.००

नाटक

चाय पार्टियाँ	सन्तोषनारायण नौटियाल	२.००
आदमी का ज़हर	लक्ष्मीकान्त वर्मा	३.००
घाटियाँ गूंजती हैं	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	२.५०
तीन ऐतिहासिक नाटिकाएँ	परिपूर्णानन्द वर्मा	४.००
नाटक बहुरंगी	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	४.५०
जनम क़ैद (पुरस्कृत)	गिरिजाकुमार माथुर	२.५०
कहानी कैसे बनी ?	कर्तारसिंह दुग्गल	२.५०
पचपन का फेर (पुरस्कृत)	विमला लूथरा	३.००
तरकश के तीर	श्रीकृष्ण	३.००
रजत-रश्मि (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	डॉ० रामकुमार वर्मा	२.५०
और खाई बढ़ती गयी (पुरस्कृत)	भारतभूषण अग्रवाल	२.५०

भारतीय ज्ञानपीठ

महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

चेखॅव के तीन नाटक	राजेन्द्र यादव	४.००
बारह एकांकी	विष्णु प्रभाकर	३.५०
कुछ फ़ीचर कुछ एकांकी	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	३.५०
सुन्दर रस (द्वि० सं०)	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	१.५०
सूखा सरोवर	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	२.००
भूमिजा	सर्वदानन्द	१.५०
विधा-विविधा		
अंकित होने दो	अजितकुमार	४.००
खुला आकाश : मेरे पंख	शान्ति मेहरोत्रा	४.५०
सीढ़ियों पर धूप में	रघुवीर सहाय	४.००
काठ की घण्टियाँ	सर्वेश्वरदयाल सक्सेना	७.००
पत्थर का लैम्पपोस्ट	शरद देवड़ा	३.००
ललित-निबन्धादि		
महके आँगन चहके द्वार	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००
शिखरों का सेतु	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	३.५०
फिर बैतलवा डाल पर	विवेकीराय	३.५०
आँगन का पंछी : बनजारा मन	विद्यानिवास मिश्र	३.००
नये रंग : नये ढंग	लक्ष्मीचन्द्र जैन	२.००
बना रहे बनारस	विश्वनाथ मुखर्जी	२.५०
काग़ज़ की किश्तियाँ	लक्ष्मीचन्द्र जैन	२.५०
अमीर इरादे : ग़रीब इरादे (द्वि०सं०)	माखनलाल चतुर्वेदी	२.००
सांस्कृतिक निबन्ध	डॉ०भगवतशरण उपाध्याय	३.००
वृन्त और विकास	शान्तिप्रिय द्विवेदी	२.५०
ठूँठा आम	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	२.००
हिन्दू विवाहमें कन्यादान का स्थान (द्वि.सं.)	डॉ० सम्पूर्णानन्द	१.००
ग़रीब और अमीर पुस्तकें	रामनारायण उपाध्याय	१.००
क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ ?	रावी	२.५०
माटी हो गयी सोना (द्वि० सं०)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	२.००
बाजे पायलिया के घुंघरू	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००
जिन्दगी मुसकरायी (द्वि० सं०)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	४.००

महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

यात्रा-विवरण

एक बूंद सहसा उछली	अज्ञेय	७.००
पार उतरि कहँ जइहौ	प्रभाकर द्विवेदी	३.००
सागर की लहरों पर	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	४.००
हरी घाटी	डॉ० रघुवंश	४.५०

संस्मरण, रेखाचित्र, जीवनी आदि

समय के पाँव	माखनलाल चतुर्वेदी	३.००
पराड़करजी और पत्रकारिता	लक्ष्मीशंकर व्यास	५.५०
आत्मनेपद	अज्ञेय	४.००
माखनलाल चतुर्वेदी	'बरुआ'	६.००
दीप जले : शंख बजे	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	३.००
द्विवेदी पत्रावली	बैजनाथ सिंह 'विनोद'	२.५०
जैन-जागरण के अग्रदूत	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	५.००
रेखाचित्र (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	बनारसीदास चतुर्वेदी	४.००
संस्मरण (द्वि० सं०, पुरस्कृत)	,,	३.००
हमारे आराध्य (पुरस्कृत)	,,	३.००

आलोचना, अनुसन्धान, रचना-शिल्प

साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य	डॉ० रघुवंश	५.००
जैन भक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि	डॉ० प्रेमसागर जैन	६.००
रेडियो वार्ता शिल्प	सिद्धनाथकुमार	२.००
रेडियो नाट्य शिल्प (द्वि० सं०)	,,	३.००
ध्वनि और संगीत (द्वि० सं०)	ललितकिशोर सिंह	४.५०
प्राचीन भारत के प्रसाधन	अत्रिदेव विद्यालंकार	३.५०
संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद	,,	३.००
संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन (द्वि०सं०)	डॉ० भोलाशंकर व्यास	५.००
भारतीय ज्योतिष (तृ० सं०)	नेमिचन्द्र जैन ज्योतिषाचार्य	६.००
हिन्दी नवलेखन	डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी	४.००
मानव मूल्य और साहित्य	डॉ० धर्मवीर भारती	२.५०
शरत् के नारी-पात्र	डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी	४.५०
हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन (१–२)	नेमिचन्द्र शास्त्री	५.००

भारतीय ज्ञानपीठ

महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

इतिहास-राजनीति

कालीदास का भारत : भाग १ (द्वि० सं०)	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	५.००
कालिदास का भारत : भाग २	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	४.००
भारतीय इतिहास : एक दृष्टि	डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन	८.००
चौलुक्य कुमारपाल (द्वि०सं०, पुरस्कृत)	लक्ष्मीशंकर व्यास	४.५०
एशिया की राजनीति	परदेशी	६.००
समाजवाद	डॉ० सम्पूर्णानन्द	५.००
इतिहास साक्षी है	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	३.००
खोज की पगडण्डियाँ (द्वि०सं०, पुरस्कृत)	मुनि कान्तिसागर	४.००
खण्डहरों का वैभव (द्वि० सं०)	मुनि कान्तिसागर	६.००

दार्शनिक, आध्यात्मिक

भारतीय विचारधारा	मधुकर एम० ए०	२.००
अध्यात्म पदावली	डॉ० राजकुमार जैन	४.५०
वैदिक साहित्य	पं० रामगोविन्द त्रिवेदी	६.००

सूक्तियाँ

सन्त-विनोद	नारायणप्रसाद जैन	२.००
शरत की सूक्तियाँ	रामप्रकाश जैन	२.००
ज्ञानगंगा भाग १ (द्वि० सं०)	नारायणप्रसाद जैन	६.००
ज्ञानगंगा भाग २	नारायणप्रसाद जैन	६.००
कालिदास के सुभाषित	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	५.००

हास्य-व्यंग्य

जैसे उसके दिन फिरे	हरिशंकर परसाई	२.५०
तेल की पकौड़ियाँ	डॉ० प्रभाकर माचवे	२.००
हास्य मन्दाकिनी	नारायणप्रसाद जैन	६.००
आधुनिक हिन्दी हास्य-व्यंग्य	सं०—केशवचन्द्र वर्मा	४.००
मुर्ग छाप हीरो	केशवचन्द्र वर्मा	२.००
अंगद का पाँव	श्रीलाल शुक्ल	२.५०

भारतीय ज्ञानपीठ

सांस्कृतिक प्रकाशन

मूर्त्तिदेवी ग्रन्थमाला

तत्त्वज्ञान और सिद्धान्तशास्त्र

समयसार (प्राकृत-अँगरेज़ी)	...	८.००
तत्त्वार्थराजवार्तिक (संस्कृत) भाग १–२	...	२४.००
तत्त्वार्थवृत्ति (संस्कृत)	...	१६.००
सर्वार्थसिद्धि (संस्कृत-हिन्दी)	...	१२.००
पंचसंग्रह (प्राकृत-हिन्दी)	...	१५.००
जैन धर्मामृत (संस्कृत-हिन्दी)	...	३.००
कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न (हिन्दी)	...	२.००

जैन न्याय और कर्मग्रन्थ

सिद्धिविनिश्चयटीका (संस्कृत) भाग १–२	...	३०.००
न्यायविनिश्चयविवरण (संस्कृत) भाग १–२	...	३०.००
महाबन्ध (प्राकृत-हिन्दी) भाग २ से ७	...	६६.००

आचारशास्त्र, पूजा और व्रत-विधान

वसुनन्दि श्रावकाचार (प्राकृत-हिन्दी)	...	५.००
ज्ञानपीठ पूजांजलि (संकलन)	...	४.००
व्रततिथिनिर्णय (संस्कृत-हिन्दी)	...	३.००
मंगलमन्त्र णमोकार : एक अनुचिन्तन (हिन्दी)	...	२.००

व्याकरण, छन्दशास्त्र और कोश

जैनेन्द्र महावृत्ति (संस्कृत)	...	१५.००
सभाष्य रत्नमंजूषा (संस्कृत)	...	२.००
नाममाला सभाष्य (संस्कृत)	...	३.५०

पुराण, साहित्य, चरित व काव्य-ग्रन्थ

हरिवंशपुराण (संस्कृत-हिन्दी)	...	१६.००
आदिपुराण (संस्कृत-हिन्दी) भाग १–२	...	२०.००

भारतीय ज्ञानपीठ

सांस्कृतिक प्रकाशन

उत्तरपुराण (संस्कृत-हिन्दी)	...	१०.००
पद्मपुराण (संस्कृत-हिन्दी) भाग १–३	...	३०.००
पुराणसार-संग्रह (संस्कृत-हिन्दी) भाग १–२	...	४.००

चरित व काव्य-ग्रन्थ

मयणपराजयचरिउ (अपभ्रंश-हिन्दी)	...	८.००
मदनपराजय (संस्कृत-हिन्दी)	...	८.००
पउमचरिउ (अपभ्रंश-हिन्दी) भाग १–३	...	९.००
जीवन्धरचम्पू (संस्कृत-हिन्दी)	...	८.००
जातकट्ठकथा (पाली)	...	९.००
धर्मशर्माभ्युदय (हिन्दी)	...	३.००

ज्योतिष और सामुद्रिक शास्त्र

भद्रबाहु संहिता (संस्कृत-हिन्दी)	...	८.००
केवलज्ञानप्रश्नचूड़ामणि (संस्कृत-हिन्दी)	...	४.००
करलक्खण (प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी)	...	०.७५

विविध

वर्ण, जाति और धर्म	...	३.००
जिनसहस्रनाम (संस्कृत-हिन्दी)	...	४.००
थिरुकुरल (तमिल)	...	५.००
आधुनिक जैन कवि (हिन्दी)	...	३.७५
हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (हिन्दी)	...	२.८७
कन्नड प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थ सूची	...	१३.००

माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला

(जो अब भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा संचालित है)

पुराण

महापुराण (आदिपुराण) भाग १; अपभ्रंश	१०.००
महापुराण (उत्तरपुराण) भाग २; अपभ्रंश	१०.००
महापुराण (उत्तर पुराण) भाग ३; अपभ्रंश	६.००

भारतीय ज्ञानपीठ

सांस्कृतिक प्रकाशन

पद्मपुराण (संस्कृत) भाग १	१.५०
पद्मपुराण (संस्कृत) भाग २	२.००
पद्मपुराण (संस्कृत) भाग ३	२.००
हरिवंशपुराण (संस्कृत) भाग १	२.००
हरिवंशपुराण (संस्कृत पद्य) भाग २	१.५०

शिलालेख

जैन शिलालेख संग्रह (संस्कृत, हिन्दी) भाग १	२.००
जैन शिलालेख संग्रह (संस्कृत, हिन्दी) भाग २	८.००
जैन शिलालेख संग्रह (संस्कृत, हिन्दी) भाग ३	१०.००

चरित, काव्य और नाटक

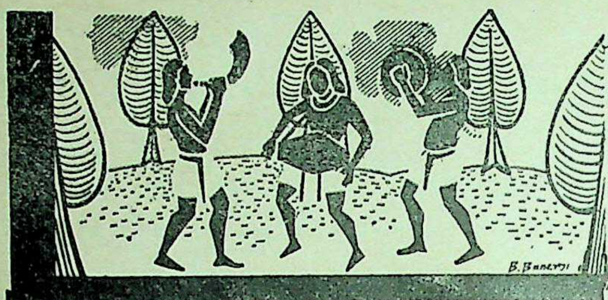
वरांगचरित (संस्कृत)	३.००
जम्बूस्वामीचरित (संस्कृत)	१.५०
प्रद्युम्नचरित (संस्कृत)	.५०
रामायण (अपभ्रंश)	२.५०
पुरुदेवचम्पू (संस्कृत)	.७५
अंजनापवनंजय (नाटक)	३.००

जैन-न्याय

न्यायकुमुदचन्द्रोदय (संस्कृत) भाग १	८.००
न्यायकुमुदचन्द्रोदय (संस्कृत) भाग २	८.५०
प्रमाणप्रमेयकलिका (संस्कृत)	१.५०

सिद्धान्त, आचार और नीतिशास्त्र

सिद्धान्तसारादि (प्राकृत-संस्कृत)	१.५०
भावसंग्रहादि (प्राकृत-संस्कृत)	२.२५
पचसंग्रह (संस्कृत)	०.८१
त्रिषष्टिस्मृतिसार (संस्कृत, मराठी अनुवाद)	.५०
स्याद्वादसिद्धि (संस्कृत, हिन्दी-सारांश)	१.५०
रत्नकरण्डश्रावकाचार (मूल, संस्कृत टीका)	२.००
लाटी संहिता (संस्कृत)	.५०
नीतिवाक्यामृत (शेषांश) (संस्कृत टीका)	.२५



DO YOU REQUIRE TRANSPORT ON LONG ROUTES

●

Dial 34-1795

And

TAKE THE ADVANTAGE OF LONG ROUTE TRANSPORT SCHEME

●

INTRODUCED BY

CITY TRANSPORT

(FLEET OPERATORS)

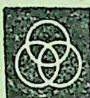
4, BALLAVDAS STREET,

CALCUTTA-7.

PROTOS ENGINEERING CO. PRIVATE LTD.

173, JAMSHEDJI TATA ROAD, CHURCHGATE, BOMBAY 1
PHONES: 246040, 246047 GRAMS: PROTODYN

CONSULTING ENGINEERS
CONTRACTORS • MANUFACTURERS • REPRESENTATIVES



KRUPP

Industrial Plants
Cranes • Extruders
Machinery • Steel
Ship Building

Sugar Machinery
Briquetting Plants
Steam Power Plants
Boilers



BUCKAU WOLF



PUMPS

Industrial Pumps
Chemical Pumps
Acid Valves
Compressors

Water Turbines
Steam Turbines
Hydro Power Plants
Storage Dam Equipment



WE COMPILE SUPPLIES FROM INDIAN AND FOREIGN MANUFACTURERS AND UNDERTAKE TURNKEY JOBS UNDER MAKERS AND OUR GUARANTEE



PLANTS

Chemical Plants
Metallurgical-Industries
Fuel Technology

Kloeckner-Humboldt-Deutz
All Types of
Diesel Engines

DEUTZ
DIESELS



WERNER & PFLEIDERER

Chemical Mixers
Apparatus
Chemical Equipments
Etc.

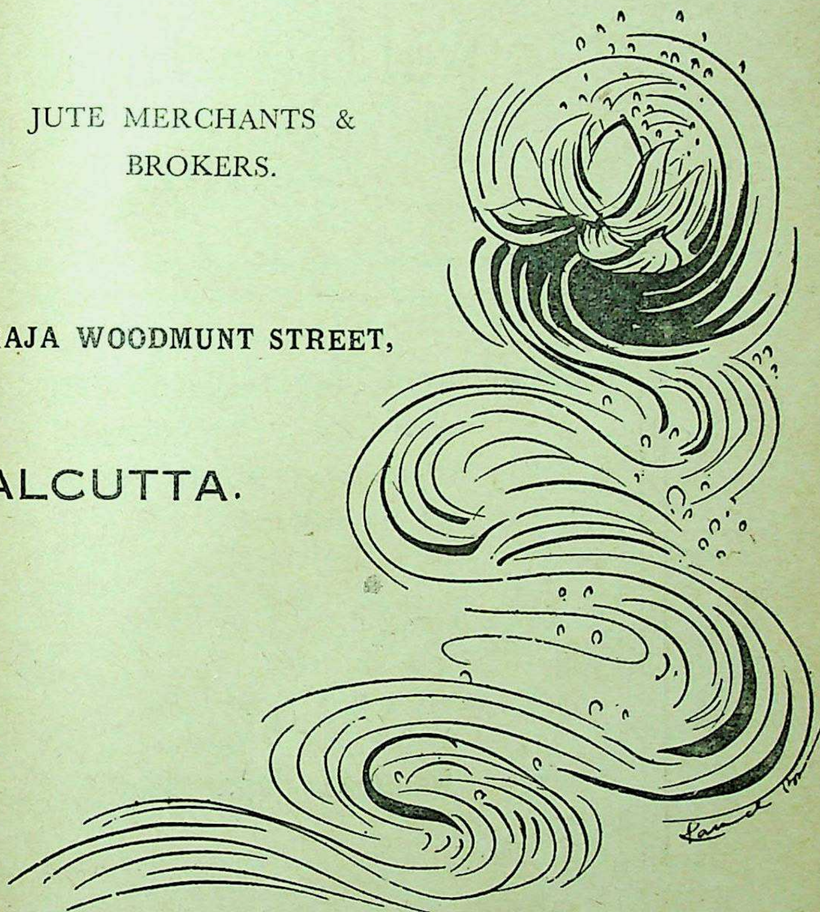
Machinery • Automats
Precision Instruments
Refrigeration
Nautical Equipment



TECHNICAL OFFICES ALSO AT

NEW-DELHI	CALCUTTA	MADRAS
P. O. BOX NO. 431	P. O. BOX NO. 2549	P. O. BOX NO. 375

प्रतिरक्षा के लिए बचत करें ।



१० वर्षीय
रक्षा जमा
पत्र

आवेदन मुख्य डाकघरों और
उप डाकघरों पर
तथा
रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया, स्टेट बैंक
और इसके सहायक बैंक, ट्रेजरी व
सब ट्रेजरी में स्वीकार किये जाते हैं।

जमा-पत्र खरीदिये तथा ४॥ प्रतिशत प्रतिवर्ष
कर-मुक्त ब्याज प्राप्त
कीजिए।



राष्ट्रीय बचत संगठन

डी ए ६३/२१७

Price Annual Rs. 10/- per copy Rs. 1/- for abroad postage extra 18 P. This Copy Rs. 2

Published by Shri Munishwarlal for Bhartiya Jnanpith Calcutta from 18-A, Brabourne Road, Calcutta-1 and Printed at United Commercial Press Ltd., 1, Raja Gurudass Street, Calcutta-6

